

धीमदाधार्यधीनिशामन्तास्त्रिविधानान्तविरचितम्.

चन्द्रमहीपतिः

पार्वतीविद्वत्तिमहिनः

कमला

ॐ पुर्विकी माता नारा दृष्टकोटि.

प्राक्कदम्बनेवक

ठासदा

धीनष्टरि विष्णु गाढपोत

समाख्योचकी

क० धीहनुमत्प्रसादशास्त्री (संस्कृतभाषायाम्)

डा० धीशतकोटिमुलर्जी (साहित्यभाषायाम्)

वाणी मयैव भुरता यदि रञ्जयित्री न प्रार्यये रसविदामवधानदानम् ।
सायन्तनीषु मकरन्दवनीषु भृङ्गाः किं मल्लिकार्जु परमन्वणभारभन्ते ॥

दानाविभो मपुकरा यदि कर्णतालैर्दूरीकृताः करिवरेण मदन्त्रबुद्धया ।
एत्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा भृङ्गाः पुनर्विकचपक्षवने वसन्ति ॥

निर्माणकालः १९९१ वैक्रमः

प्रथममुद्रणकालः २०१६ वैक्रमः

वैयाकरणकेशरिणां
पूज्यजनक-
श्रीनवरङ्गराजशास्त्रिणां
करारविन्दयोः समर्पणम्

धाराध्यदेव !

श्रीचरणसामिध्ये समधिगतं शास्त्रप्रकाशमर्थ-
जगतो विभीषिकान्धतमसं विलुम्पति । तस्य
क्षीयमाणज्ञानप्रकाशस्य कतिपयानवशिष्ट-
शब्दाश्चूनवचित्य न्यास एव सम्भालयितुम-
शक्यः सम्भाव्यमानः श्रीमद्भ्य एव सादरं
सश्रद्धं सलज्जञ्च प्रत्यावर्त्तयता समर्प्यते-

- श्रीनिवासेन

भाचणी पूर्णिमा १९९१ वैक्यः

भारद्वाजमवनम्,
राजगढ़, बीकानेर
(राजस्थान)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

टीका-३३

जायमानो यं ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणं ऋणवाञ्छायते । तत्र—

ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां पाठकर्मणा ।

सन्तत्या पितृलोकानां शोषयित्वा परित्रजेतु ॥

इति हि धर्मशास्त्रकाराः समाचक्षन्ति । तत्र ऋषीणां पाठकर्मणेत्येतिवचनस्य सात्पर्यमिदमेव यद्विभिः प्रज्ञानेनैव विलोच्य यद् ग्रन्थेषूपनिबद्धं तत्ता-
भिनिवेशमनुशीलनीयं तदनुसृत्या नव्यादवापि ग्रन्था निरचनीया इति ।
एवमेवैवप्रतिपादितं रिक्तं परिरक्षितं परिवर्द्धितञ्च स्यात्, ऋषि ऋणञ्च
निर्यातितं स्यात् । अप्रत्ययतया पुनरस्माकमष्टात्वे सत् निरूपतया एव
ऋषिऋणविनयाय प्रयासमातिष्ठन्ति, सुविरसतमाश्च तत्र साफल्यमधि-
गच्छन्ति । एवमेव च सुविरसतमेध्वन्यतमः शोभीशीतिवासशास्त्रि-
महाभागः । साहित्यव्याकरणादिविविधशास्त्रेषु हृतधमेन विपश्चिदप-
विचमेन शास्त्रिमहाभागेन रसभरनिर्भरेण गद्येन चन्द्रमूपतिकृत्वा समुपनिबद्धा ।
“श्लोकः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्” इत्युपदेशमनुपाल-
यतापि शास्त्रिमहोदयेन संशतोऽपि प्रसादो न परित्यज्यतो न वा मायुर्य-
मुत्सारितमिरपहो सुवर्णोऽपि परमामोदः । प्रमादा अत्र वर्तन्ते चेन्न,
परं चास्तरतश्चर्याः कपोलकज्जलवन्न प्रभवन्ति ते कथागतमूर्खधर्मप-
हन्तुम् । अत्रयमेव समास्वादनीयः कथाया अस्या रसः सहृदयः ।
प्रतिविद्यालयं प्रतिमहाविद्यालयं प्रतिपुस्तकालञ्च रक्षणीयमिदम् ।
पुस्तकस्यास्य कृते शास्त्रिमहोदयो राष्ट्रकर्णधारः पारितोषिकेण संबर्द्धनीय
इति नः प्रतिभाति ।

अत्र पद्यान्यपि भूयांसि विलसन्ति । तेषु च कानिचन ग्रन्थकृत एव,
अपराणि च तेषां तेषां कवीनाम् । सर्वाण्येव सरसानि मनोहराणि च ।
इतरकविषु च प्रतिवादिद्विरदपञ्चानने पण्डितराजव्रणभाषे शास्त्रि-
महोदयस्य बहुमानो दृश्यते । शास्त्रिमहाभागस्य गद्ये पद्ये च सममेव
नैपुण्यं परितर्यते ।

विरञ्जीवतु शास्त्रिमहोदयविरञ्च समस्तदुरोतु सुरसरस्वती-
भीदुशीभिः मुमनोमासाभिरिति शिवम् ।

८, भूपेन्द्र बोस एवेन्यु
कलकत्ता
२१।४।५६

श्रीश्रीश्रीशचन्द्रचट्टोपाध—

मञ्जूपासम्पादकः



राजभवन
वाणभोगड १

पञ्जाबराज्यपाल महामहिम श्रीनरहरि बिष्णु गाडगील महोदय का प्राक्कथन ।

मनुष्य प्रातःकाल उठ कर अपने शरीर के कार्य करता है, फिर अपने बाग्यदों के, फिर मित्रों के, फिर दुष्टों के । यह सब पहलुओं में लागू होता है । कुछ कार्य बन कर राष्ट्र को बनाने का उद्देश्य उत्तमपुरुषों का सभी राष्ट्रों में रहा है । वन्हीं सब कार्यकर्तारों के एक प्रणालीबद्ध निरूपण को उस पुनर्जातन के द्वारा या बाद में एक बाद का स्वरूप मिलता है । इसी उद्देश्य से विश्व में विशिष्ट के लिये विभिन्न बाद देखे जाते हैं । बाद के प्रणेता एवं उसके अनुयायी उस अपने बाद की ही सर्वाधिक विभूतनहिताय मानते हैं । परन्तु इन सब बादों से ऊपर उठ कर इनकी वास्तविकता देखने से सभी अहर्ण से दिखाई पड़ते हैं । यही कारण है कि अनेकों बाद विध्वंस पर आवे और बिखरे हो गये । परन्तु सर्वोपर एक ऐसा समन्वयात्मक बाद है जिसमें स्थायित्व की क्षमता है । लेखक ने सर्वाभ्युदय का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया है, और व्याख्या की है... 'सर्वेण' 'सर्व मनुष्यों द्वारा' 'सर्वस्मिन्' 'सर्व काल और स्थितियों में' 'सर्वत्र' 'सर्व के लिये' 'सर्वत्रात्' 'सर्व उपर्यों से' 'सर्वत्र' 'आविमान का' अभि- 'समन्तात् उदयः सर्वाभ्युदयः' ।

दण्डों से उगड़ी व्याप्तता में और कर बर्बाद लग जाये हैं ; अच्छा उद्धार और बंद म
गर्बोमात्रेण । ऐरावत की हडि में बंद कोई बंद नहीं अपितु समाप्त है और
बंद न्याय मानव में हृष्ट के आदि में है ।

सर्वं भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे मर्यादा पश्यन्तु सा कथिद् दुःखभाग्यं मवेत् ॥

यहाँ सब के लिये कल्याण और सुख की कामना है, बहुजनो के लिये नहीं ।
यह पुरातन ऋषि का सर्वप्रथम आशीर्वाद है, संक्षेप है । यह कोई इच्छा कि
नहीं अपितु विपरीतों की व्यवहारणीय अपूर्व महीयत है । इसकी आधारशिला है
आध्यात्मिक अद्वैत । समन्वय, सामंजस्य, सामरस्य इसकी प्रणाली है । यह
वास्तुतः जीवनमात्र के लिये जीवनमूल है । यह मानवनिर्मित वैश्य को दूर करता
है और प्राकृतिकवैश्य को घटाता है । यहाँ प्राणिमात्र के लिये समाप्त प्राप्त
है । इसमें स्वामी और नौकर का, मिलमालिक और मजदूर का अन्तर नाममात्र
का रहता है । यदि घर में कोई नौकर कार्य करता है तो वह कृपा करता
है कि अपना कार्य छोड़ कर हमारा कार्य करता है । अतः उसके लिये हमें
हेय भाव नहीं रखना चाहिये, अपितु समादरभाव रखना चाहिये । "भोजनं
जीवनस्तथाधिपतिसमः स्यात् ।" इसी प्रकार व्यापारिक प्रतिष्ठानों में काम करने वालों
का अधिपति के समान स्वत्व होना सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है । दस बीघा आदमी मिल
कर काम करें तो वह सामेदारी का काम है अगर उसमें कोई अधिक हड़रना चाहे तो
वह बेहयापन है तथा बोरी है ।

सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है, वृत्तों के लिये जोबो, ऐसा समाज निर्माण जिसमें
व्यक्ति को सर्वविध विकास का अवसर प्राप्त हो । इसमें न अमीर न गरीब,
किर मिश्रक का तो प्रश्न ही नहीं ।

आज धमी को धम का मूल्य नहीं मिलता । किन्तु गयाकथक्षित् जीवनधारण के
लिये कुछ मिलता है । शेष वह सामेदार द्रव्य जाता है जिसे आज व
नृजीवादी भाषा में "स्वामी" कहा जाता है । इस दरम की कमाई व
विराट्टण सर्वाभ्युदय के लिये परमावश्यक है । यन्त्रों का उपयोग मानवविद्या

के लिये हो, घनसंचय के लिये नहीं। आज मानवता संकट में है और उससे ब्रह्म पाने का एक मात्र रास्ता है “सर्वभ्युदय”।

हमारा इन शताब्दियों का इतिहास पूंजीवाद से प्रभावित होकर स्वार्थ-नोति से निताम्त दूषित रहा है। हममें से हो कुछ ने विदेशोंसे आततायियों को भारतविद्वान के लिये बुलाया। हमारे भीतर विद्यमान स्वार्थों के बल पर ही उनका शासन चला। मनमाने अत्याचार हुये और अन्त में भारतमाता के रोंड हुये। आज भी यत्र, तत्र, सर्वत्र राजनीति, व्यापार और सम्प्रदाय में यह स्वार्थ ही सर्वोपरि है। सरकारी नौकरियों व व्यापारिक प्रतिष्ठानों में ऊँचे पदों में स्वार्थ व पक्षपात ही दृष्टिगोचर होता है। तिकड़मी स्वार्थी सत्ताशाली अधिकारियों से साँठगाँठ कर झटापार फैलाते हैं। ऐसे अशुभ मनुष्यों से न तो समाज की रक्षा होती है न उत्थान। धनार्जनके अतिरिक्त स्वार्थ कोई उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार की धनलोभता से पतन अवश्यभावी है। इस तथा सम्राज में व्याप्त अन्य समस्त दोषों के लिये सर्वभ्युदयवाद अनोप-लौपथ है। आइये, हम स्वार्थपूर्ण इतिहास को उज्ज्वल बनाने के लिये कटिबद्ध हों।

हिमालय के समान उज्ज्वलवनल, आकाशके समान विद्याल, वायु के समान व्यापक एवं सूर्य के समान सप्रम संस्कृत राष्ट्र में गद्यग्रन्थों की अल्पताका कारण उस समय के रसिकों की रुचि का अभाव ही प्रतीत होता है। उस समय छन्दोबद्ध विषयों का ही जनता स्वास्वादन करती थी। और विशेषतः पद्यात्मक रचना ही कविता मानी जाती थी। यही कारण रहा होगा कि इस राष्ट्र में गद्यग्रन्थ अंगुलोगणनीय ही रहे। अब इस और बिद्वानों का ध्यान जायेगा तो अवश्य ही उसकी पूर्ति हो जायेगी। आधुनिक काल में साहित्य की धीरुद्धि में अधिक हाव गद्यग्रन्थों का हो रहा है। अन्य भाषाओं का साहित्य गद्यग्रन्थों के ही आधार पर संपन्न हुआ है।

श्रान्ति लाने में सबसे प्रथम काम साहित्य का है। उद्बुद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला साहित्य ही मनुष्य में श्रान्ति लाने की समता रखता है। आज भी इन रावण का पुनरावृत्त होते हैं और राम को पूजते हैं तथा कृष्ण को प्रणाम करते हैं और कंसको मर्त्य देते हैं, विभिन्न

तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। यह सब साहित्य के कारण हुआ और हो रहा है। अतः उत्तम साहित्य ही राष्ट्रके स्थायी स्तंभ हैं।

कवि समय का प्रतिनिधि होता है, उसकी रचना यद्यपि इतिहास नहीं होती पर उस समय का ज्ञान अवश्य कराती है। यह बात प्रस्तुत लेखक की कृति के अन्दर सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। लेखक ने जिस विषय को चुन कर जो सर्वथा मौलिक अभिनवकृति साहित्य की ही है वह सामयिक तो है ही पर भाषासौष्ठव से अभिराम व मोहक भी है। सम्भवतः संस्कृतसाहित्य में यह सर्वप्रथम पुस्तक है जिसमें लेखक ने सर्वाभ्युदय की स्थापना की है।

पुस्तक का बह्य कव्छेवर भाषा है। सर्वप्रथम उसी की ओर पाठक का ध्यान जाता है और वह आकर्षित होता है। भाषा या उद्देश्य तक तो धीरे गम्भीर बुद्धि वाले ही जा पाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक की भाषा की छटा बहुत आकर्षक है जो लेखक की प्राचीन कविता की श्रेणी में उपस्थित करती है। वर्णन में छोटे छोटे पदों के कारण सुगमता होती है जो भी कहीं कहीं बाण और दण्डी के जैसे दण्डक भी हैं। यद्यपि लेखक ने अन्तमें लिखा है कि—न्यासि कचन कचन प्रीत्ये विदुषां मया नु काठिन्यम्।

नीरजमृदुला तन्वी कुचयोः कठिनैव सम्भाति ॥

प्रकृतिवर्णन

लेखक प्रकृतिवर्णन में अद्भुत योग्यता रखता है। पाठकों की इन मनोमोहक अर्थों का धनन्द अवश्य लेना चाहिये। लेखक शरीर तरह आधुनिक शैली के प्रयोगमें भी सफल हुआ है।

वर्णनानिरूपण

यद्यपि पुस्तक के अन्तमें लेखक ने प्रतिकूल वास्तु का सर्वाङ्गरूपण किया है कि पुस्तक के प्रकाश में ही उसकी कठक प्रतीत होती है। स्वयंभा के साथ प्र अत्यन्त, स्वतन्त्रता संघर्ष के मुकदमे का वर्णन, दुर्भिक्ष, बन्ध और मूर्खता आदि विचार में दण्डक प्रयुक्त अनुपम दिखाना गया है।

समस्त पुस्तक में लेखक के विविध विषयों के ज्ञान की स्पष्ट छाप स्वतः स्थल पर दिखाई देती है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। जीवन में प्रतिदिन व्यवहारणीय भोजनों तथा यन्त्रसंघों व वैज्ञानिकतथ्यों का समन्वय साहित्यमयी भाषा में करके पाठकों के लिये एक अद्भुत उपयोगी कोष दिया है। यथा—

“प्रौढमनोरमेव कुचमर्द्धनेन सङ्कथितसतेरामभद्रं यामिनी, विप्राश्च सन्ध्यालैर्मैरवीर्यं
जहूदिभाषयाः” । “निष्कारितं सूत्रमिव जात्यर्थगुतिः”, “व्याप्तिः सङ्गणमिव प्रभूतनिवेद्यामा-
समाना, खड्गखड्गलक्ष्मिव लघुनेकप्राशनः, सन्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तमशक्याता” ।
‘सुप्युगाम्यो मधुरिरिव धाम्न्योऽस्माकृतिः’

‘रसगुणवलिज्वलितरसद्वेवनशीलशयः साक्षात्तत्र इवात्मनि’ । ‘क्षणाग्निगिरिगुहाया-
मानवकीर्तिरसायनमात्रसेव’, ‘प्रदं नासन्नितुं पुष्पात्रुमिव सेवमानायामनुपेयामिर्दुग्ध-
धारभिरिव सिधमानायां समुचलाः”, “विविधकृष्ण सविमाना साक्षया समस्मधूर्णा
अकृतहितेव बभौ होलिता । सुभ्रूया वनमटेन केनाप्यनुसारेण नावतरये ।” “अस्या बाणी
भगवद्भक्तिरसा कवितैव सरसा गङ्गाप्रसादवत् स्वदत्ता, सिन्धुदासरत् सरला, पद्मजलि-
भक्षितिरिव भावपूर्णं सुबोधा व निरते ।”

“अग्रस्तु न नाऽऽजकौकिल्यं दासद्वारमग्रीरीयपद्मनोमधुसुखम्”, “आयुर्वेद-
शास्त्रमिव लक्ष्मीविलसमांगी”, “विप्रासमनोरममृतात्रयं इव”, “कामेन्द्रामोदकमुदिता”,
‘रम्याणि विप्राणि पुण्डरीकोकानां सर्वदीनां सर्वकामानि चत्कितानि सन्ति’, ‘रचितं हृदयमातं
वरकविः, वायुरिः दैत्यारिः श्रीसौ विष्णुर्दीप्तोत्तमः’, “बभूव इव सुराष्टमसौवमानभक्षितया’
‘सोऽयं वारणापरानामोष्ठितः कालो वल्लभः’ यत् कुङ्कुमेवाणं क्षितोऽक्षितोऽङ्गुष्ठिनः सारथेः
शुम्भितो गुणरत्नैः, “अनुदासस्य मयि परलक्षणे” इव सोदाहणो राजा जगते ।

कुछ ऐसे वाक्य हैं जो जीवन को उद्देश्य देते हैं, चमत्कृत करते हैं। यथा—

“स्मर ! स्मर्तव्यः क्रोडोऽपि पुष्टिर्नऽप्येव जागति चरति” । “हृदयेऽपि विरं मर्दं
सौन्दर्येऽपि गालम्”, “अवटनोवचनान्मोक्षः पटवं साटपटस्य को चालोते”, “अलप्यपि
कान्तरामन्तयति”, “दैवदत्तेन दत्तं शक्तिर्येऽपि शिवममनेऽपि सुखो न तिष्ठति”, “अस्तुते
रत्नं एष्य एव राजते”, “पुमान्मुले सर्वं विस्मरति”, “महामनो लज्जोच्चिरम्”, “जातं
पत्तलो भगवान् स्वतः सर्वं साधयति”, “लेखकजनेन विचारमतिमा सम्प्राप्यो मेवे”.

“भोजनप्रिये विप्र मनस्वितेव नेश्यते स्माहादः”, “सुभिज्ञे वणिगिब दुर्दृश्यदशमासीधनम्”,
 “दैयाकरणकाव्ये रसानुभूतिरिव कचन कचन प्रेक्ष्यते स्म वनावस्थितिः”, “पतन्प्रताप
 घृतादनात् स्वतन्त्रतायां घासादनं गरीयः”, “मरुमणिः प्रजापो घासमेव अधास”, “स्वाधिनं
 देस्या वा स्युर्विदेस्या वा स्वार्थे लुप्यतां रक्कशोष्यतां घनिनां वा नान्तरम्”, “कुशाप्रसुदि
 रयोगशीलः सद्यः सफलयमश्नुते”, “भृत्यमुखं विद्यतां कोऽवतर उत्सवस्य”, “समुद्र
 शुष्कोऽपि मानवं धरस्तिरस्कृतुं प्रभवत्येव”, “दृष्टप्रतिज्ञं साहसिनं गरं प्राकृतिमयो बाधा
 निश्चितपथात् निवारयितुं शक्ताः”, “साधनाविरहिताः कथं प्राप्नुयान्मानवोऽभीक्षिणम्”,
 “मम प्रासादः साधनास्थलं न भोगमूमिः”, “दोषा देव ! भावनाश्रयाः”, “भास्वर्यं भोगभूतमेव
 भवति न साधनास्थले”, “आश्रयमेलनं प्रेयसीनां दुःखम्”, “प्रशवतां प्रसूतास्तदेव सुकर्म
 मेनानादम्बरमप्रदर्शनं जगतो विराजो भगवतोऽप्यलाभिलाषमर्चनं भवेदिति”, “अहिंसा प्रेम
 च मानवस्वभावः”, “वित्तछायायां नरो निवेकविच्युतो भवति ।”

अन्तमें सर्वाभ्युदयस्यापना में महाकवियों के पद्यरत्नोंके गुम्फन ने इस स्रष्टृपुष्टक
 की हीरकमण्डित सा कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकार के संदर्भों का समाज में
 अधिकाधिक आदर हो। और सद्यःप्रचार की दृष्टि से इसका परीक्षाओं में सर्वत्र
 ध्यानिये हो, ताकि संस्कृतसाहित्य की भीरुदि की प्रोत्साहन मिले।

अन्तमें आधुनिक भाषा की इस उत्कृष्टतम कृति के विद्वान् लेखक कविात्र श्रीनिवास
 छावरी को भूरि भूरि धन्यवाद के साथ आशीर्वाद देता हुआ पामार्श देता हूँ कि वे
 संस्कृतसाहित्य के विद्याल भवन में इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी दें।

वर्गः

दिनांक १९-३-५९

अत्यन्त आनन्द और रस के साथ

हरहर निरुपु. गार्ग्य

अभ्यस्तानिकदेशमापोऽनल्पलिपिस्तः कलिकाताविद्यविद्यालयस्य तुलनात्मक-
भाषाशास्त्रे सम्मानिताध्यापको भारतशासनसंघटितसंस्कृतयोमस्य भूतपूर्वाध्यक्षः पद्म-
भूषणो दा- मुनीति कुमारचट्टोपाध्यायः M.A. (CALCUTTA), D.LIT. (LONDON)



सभापति
विधान-परिषद्
पश्चिमवङ्ग
कलिकाता :

Chairman
Legislative Council
West Bengal, Calcutta
December 2, 1958.

सभापति
विधान-परिषद्
पश्चिमवङ्ग
कलिकाता ॥

I have gone through the Sanskrit work in both prose and verse "CHANDRA MAHIPATI" which has been composed by Kaviraj Shri Shrinivas Shastri of the Shri Visuddhavanand Saraswati Marwari Hospital in Calcutta. This is a work of a new type in which he has sought to give in simple sanskrit prose, with verse stanzas in different metres occasionally interspersed, an exposition of the Sarvodaya Ideal, in the form of a story. The Author has a very remarkable facility in the use of Sanskrit and he is a true poet to whom Sanskrit Versification in different Styles comes most easily. I am sure, a book like this will be very much appreciated by those who can read Sanskrit, and it should be useful for students of Sanskrit who want some good reading matter outside of the classical texts which they have to study.

I wish a wide publicity for this Book and I TRUST ON ITS OWN MERITS it will be accepted by our sanskrit Scholars all over the country.

Suniti Kumar Chatterji



GOVERNMENT SANSKRIT COLLEGE

Calcutta, the 14th January, 1959.

No. 2339/A1

I have gone through the book entitled "CHANDRA MAHIPATI" by Pt. Shrinivas Shastri. It has given me very great pleasure to notice that even in present time a Scholar can write sanskrit Prose with much ease and flexibility of style. I would only wish the book a wide publicity.

Dr. GAURINATH SHASTRI,

Principal
Sanskrit College, Calcutta.

Judge High Court

36, Ballygunge Park,
Calcutta-19.



Calcutta

I have read with great pleasure and interest CHANDRA MAHIPATI a sanskrit work of Kaviraj Shrinivas Shastri of S.V.S.M. Hospital, 118, Amberst St, Calcutta-9. The book is well written. The Story rings true to the universal ideals of the Hindu Sanatan Dharma. The author has done a distinct service. First, to the ideals of such Dharma and Secondly, to the cause of Sanskrit. It is a Commendable endeavour.

Dated Monday the 9th day of February, 1959

(Sd) P. B. MUKHARJI

(Honourable Justice High Court Calcutta)
President, Bangiya Sanskrit Shiksha Parishad.



MINISTER
Law Deptt. and Local Self-Government
and Panchayats Department
Government of West Bengal.

६-२-५९

मैंने पं० श्रीनिवासजी शाल्मो का “चन्द्रमहोपति” नाम का उपन्यास संस्कृत भाषा में पढ़ा। सादरों की ने इस उपन्यास को अत्यन्त सुन्दर रूप से लिखा है। इसके भाव और भाषा दोनों ही सराहनीय हैं। यह पुस्तक संस्कृतियों के लिए पठनीय है। इस सफलता के लिए मैं पंक्तिजी का अभिनन्दन करता हूँ।

ईश्वरदास जालान

विश्वविस्मयतभीसरआशुतोषमुस्तर्षीमहोदयगणेशपुत्रस्य, लोकनायकस्य मुफारमनो-
ऽमरकोत्तः श्रीरामाप्रसादमुखर्जीमहाशयस्यप्रबन्धस्य न्यायसिन्धुमाप्रसारमुख्योपाध्यायस्य-
Phone ४८-१८९१ ७७, आशुतोषमुखर्जी रोड, कलकत्ता-२५

कविराजश्रीनिवाससाहित्यविरचितं कथाकाव्यमालोच्य पठं प्रीतिमाप्तवानस्मि।
प्रशंसनीया पदविन्यासपरिपाटी, आधुनिकविभिन्दविषयागामतुशीलनशैली, भारतीय-
संस्कृतानुगमनुरक्तिधास्य काव्येऽस्मिन् मया समलोकितम्। श्याकरपद्यादिसा-
मुवेदादिषु वैदुष्यमुपेयुषः शास्त्रिणः काव्यकलानैपुण्यं मनीषिमतः प्रोणनदेतुतामहेति।

पामेशप्रसादत् श्रीनिवासस्य कवेः काव्यमिदं मशवेऽर्थहृते शिवितरक्षतये वास्तु
इति मे शुभाशंसा।

श्रीरामाप्रसाद मुख्योपाध्याय न्यायसिन्धुः

कविचक्रचक्रवर्तिनश्चक्रवर्तिनो महामहोपाध्यायस्य श्रीकालीपद-
तर्काचार्यस्य कविकाव्यप्रशस्तिः —

श्रीश्रीनिवाससाहित्यप्रणितं नामागुणैः समाश्लिष्टम्।

चन्द्रमहोपतिग्रन्थं वदन्निबद्धं मया दृष्टम् ॥१॥

यद्यं सद्दयसद्वयं कविगुणनिकर्यं चिरं वदन्त्यार्थः।

वाक्यमुबन्धप्रमुखाः कवयो यत्र प्रिताः कीर्तिम् ॥२॥

संस्कृतकाव्यविमूर्तिः ऋमशः क्षीणा वसुन्धरः पृष्ठे ।
 दत्तं जनयति तप्तं सुचिरात्तत्रादुरक्षणात् ॥३॥
 पद्यं कथमपि हृद्यं बहवः कवयः सदा निबध्नन्तः ।
 सम्प्रत्यपि सन्तोषं विदधति यत्नैरनायासैः ॥४॥
 किन्तु न गद्यनिबन्धे भाति बहूनां विपश्चितां यशः ।
 अपवा सत्यपि तस्मिन् स्वल्पजनानामिहोत्कर्षः ॥५॥
 श्रीधोनिवासशाली व्यरचयदेतद् यदुत्तमं काव्यम् ।
 सुपटितगद्यमयं तन् मुसयति चित्तं सचित्तानाम् ॥६॥
 कृतं बहुरसचित्तं निर्गुलचित्तं स्वया धियोपात्तम् ।
 कवितोत्कर्षात् सत्यं प्राकृतमप्राकृतं भाति ॥७॥
 नृजं कल्पनरत्नं कविना यत्राद् कृतं परं चित्रम् ।
 बाणप्रभृतिप्रवीणां स्मरणं येन प्रविद्यानाम् ॥८॥
 शक्तिः कावि समृद्धा स्वभावविद्धा मतिनवाविद्धा ।
 मुकुन्दैव समिद्धालङ्कृतिशस्त्रे तथा भ्रष्टा ॥९॥
 ललितालङ्कृतिरम्यञ्चनिवदमुभया कृतिर्यथा योया ।
 मिलप्रसुरसविशेषा रसयति श्वेतो रसज्ञानाम् ॥१०॥
 शब्दाद्योनिधिधारं न किमयमन्तः कवीश्वरो वाटम् ।
 येन निवसितमात्रा विह्वलाः सर्वे स्फुटाकास्म ॥११॥
 कामि सुरम्यं गीतं कावि सुरार्थं प्रसन्नतो गदम् ।
 सामान्यगतिमेवे कथयति निनिठे कवेर्दोषम् ॥१२॥
 श्रेष्ठमुदधच्छात्रा विद्वति गङ्गा यथा निरग्रजा ।
 प्रसरति कल्लोत्प्लवसा तद्वत् मुकुन्दैरितो मया ॥१३॥
 एव हि काव्यनिबन्धः सुमयूरबन्धः प्रसन्नितानन्दः ।
 मुकुन्दैव हि तस्माद् निवदगङ्गाः जगत्तस्मिन् ॥१४॥
 रसगु देवप्रणीमृदिरिचार्थं कवेः कुलोन्मथम् ।
 यन्मदित्महियार्थं बहवः किञ्चनैः लण्ममनम् ॥१५॥

धीधीनिवासशार्त्तनी सुकनिपशोमिः सुतोमयजाशः ।

रत्तिवनिरोपज्ञेवं गमयतु नियतं सरसत्वा ॥१६॥

आमयविहितमायुधिरमममोयाद्यावशाद्भानुः ।

एवं छलितनिबन्धैरान्वयं जगतस्तया छिन्यात् ॥१७॥

इरशकाम्यविचाराद् विबुधा मुग्धा हर्षं विबुध्यन्ताम् ।

संस्कृतमापामसनां सप्रियभाषादे योस्याम् ॥१८॥

जयति कविरुक्ताग्रोः धीनिवातो नवीनः

सुमधुरमुवाणोगद्यविद्याप्रवीणः ।

जयति विबुधवापी सेन दत्ताभिमाना

जयति भरतभूमिस्वरूपगुरुरेधमाब्दा ॥

१२६५ ब्रह्माब्दीय सौरमार्गशीर्षेय } महामहोपाध्यायभीकालीपदतर्काचार्यस्य ।
प्रयोदशदिवसीया लिपिरिप्य ।

म० म० डा० श्रीयोगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थानामाशीर्वादः—

कविराजधीनिवासशार्त्तिप्रणीतध्वन्द्वमहीपतिनामकः सन्दर्भो मया साधन्त-
मबालोकि । सन्दर्भोऽयमधुनातनीं समस्यां शृणुत, इदानीन्तनीं प्रणालीं व्यवहरत,
प्राचीनकवीनां मनोज्ञमधुरां रीतिमप्यतिशयानो बाणस्य प्रबन्धसीन्दर्यम्,
कालिदासस्य स्वामिक्तम्, दण्डिजः पदलाट्टियम्, भारवेरर्चंगीरम्, माघस्य पाण्डित्यम्,
हर्षस्य वर्णननैपुण्यम्, त्रिविक्रमगट्टस्य श्लेषम्, शङ्करसाहैतसिद्धातय पुनः पुनः
रमारयति । मन्ये संस्कृतसाहित्येऽयमपूरो विषयो लेखकेन साधिकारं निबद्धः ।
धर्मेणास्य प्रसीदन्नहं सन्नेहमाशिषा संनोजयामि ।

म० म० डा० योगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थः डि० लिट्,
दिनाङ्कः २७-३-५९

सत्यं परं धीमहि

महामहोपाध्यायमहाकविमास्ताचार्यश्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशमहोदयनामार्चा-
वशाक्षरं देवनागरीलिप्याम्—

श्रीश्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतं चन्द्रमहोपतिकाव्यमवलोक्य नितरामानन्दितोऽस्मि ।
हि पदे पदे अनुप्रासात्स्वरम्भङ्गकारेण काव्यमिदं स्मृतिपयमानयति महाइविधीहयं
महाकाव्यं नैपथीयचरितम् । स्थाने स्थाने भावगाम्भीर्यं मालुष्यमातनोति
प्रायेण नानाविधा अर्थालङ्कारा नितरां प्रीणयन्ति हृदयम् । तन्मन्ये काव्यमि-
काव्यरसरसिकेषु पण्डितमण्डलेषु सर्वथा समादरं लप्स्यते इति ।

श्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशराम

सारित २२-७-१३६५

महनीयमहिम्नोः श्रीजीवन्यायतीर्थश्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थयोः—

गद्यपद्यरचनाभिपुणश्रीश्रीनिवासकृतकाव्यविशेषम् ।

चन्द्रभूषतिविचित्रचरित्रं शीलयन्ननुलमोवसुपैमि ॥

शक्तिप्रकाशकुतुबी कविरेव नभ्यं काव्यं परैरपरिश्रित्तमार्गगामी ।

निर्माय निर्मलमतिः सुमनोमवस्तु सावन्मसान्द्ररससौरममातनोति ॥

भट्टपल्लीवास्तव्यश्रीधीजीवन्यायतीर्थशर्मणः

अत्र मनापि सम्मतिरस्ति श्रीतिमाशीर्वचोऽपि नितरतो भट्टपल्लीवास्तव्य-
श्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थशर्मणः ।

कलिकाताविधविद्यालयाध्यापकरास्त्ररक्षाकरविद्यासागरमीमांसा-
न्यायसाहित्याचार्यश्रीपी०एन०पट्टाभिरामशास्त्रिणाम्—

पण्डितवरैः श्रीश्रीनिवासशास्त्रिभिर्विरचितं 'चन्द्रमहोपति'-नामकं मधुरं गद्यकाव्य-
महमबालोक्यम् । संस्तुः उवाचमये गद्यकाव्यानां सत्यपि वैशिष्ट्ये तद्विरक्ते लोकानां
प्रवृत्तिर्लक्षणैव । तत्रापि सरसानां सरलानां गद्यानां वैरस्यमेवेति कथनं नास्त्यतमिव ।
तदिदं वैरस्यं श्रीशास्त्रिणोऽसहमाना इव ग्रन्थमिमं रचयाम्बभूवुरिति चे नितरामभिनन्दीया

एव । अस्मिन् काव्ये न केवलं कथावस्तु सहृदयानां मनोविंशयति; वर्णनावर्तुयम्, सरलानामेव पदानीं शुष्कम्, प्रायो दीर्घसमाससहितम्, सौत्या मधुरिमा अमूल्यं तं प्रयत्नप्रवाहश्चेति नूनं हृदयान्वावर्जयन्ति । सतन्त्रेऽस्मिन् भारते शिक्षाधिकारिण इमं ग्रन्थं शिक्षाकृते संशोध्य सार्धं निरूप्यदण्ड्याः प्रचारेण श्रीशास्त्रिणः पुरस्कृत्युतिरिति विश्वविमि ।

१११५५

पट्टाभिरामशास्त्री

अधिराजमस्माभिरान्तमधीतश्च अयपुरामिजनेन श्रीमता श्रीनिवासशास्त्रिणा विरचितं चन्द्रमहोपतिरित्याख्यमुपन्यासकम् । एतादृशे मनोऽभिरामे वस्तुनि रत्नमिति नैकान्तत उत्तमैर्वाहः । पठितुं प्रवृत्तत्वासमाप्य त्वक् सितये पुरोवर्तिनृत-
मिश्रानोत्पुङ्गं वेतो जनस्य । सलीलापि सरलापि सल्लिख्यवशातिनी भावेति यत् सत्यं सुवर्णे गन्धसुगन्धयोऽयम् । क्रमोत्कर्षमारोहन्ती विचित्रा षटनापरम्परा उत्कण्ठा-
कण्टकितानि करोति पठतां वेतासि । एतस्य परिच्छेदाः प्रत्येकमेकनिःप्राससमाप्यतया निष्प्राससङ्गमलभन्तः । तत्र तत्र वज्रिता वनचैलकज्जदिरुषा प्रकृतिरपि वृत्तावर्त-
पतिरस्य संस्थापनामिव विदधाति मानसस्य । न केवलं गद्यनिपद्याणां पद्यपद्यमपि हृदयेऽस्य कवेर्महार्हं पश्यताम् । एतानि च पद्यानि न केवलं सहजकवित्वसर-
साम्यवित्वाहार्हकविप्रतिभाभासुरैः इत्ययमर्थः प्रादिभिर्भूषितानि चिन्ताशालयुग्मेपेऽपि किमपि साहायकं विदधति पाठकानाम् । साज्यता खल्वधिशुणोचल्पमापणमपीति विदन्तपि प्रसङ्गादिष्वर्धलोचनमात्रैव विरमन् गरीयसास्य कविप्रकाण्डयोत्तरोत्तरोन्नति-
मीशसङ्गो मुद्वमासाधे इति शुभम् । साख्यतीर्थस्य श्री उपेन्द्रमोहनदेवशर्मणः ।

१८८० शकोपखौरमासस्य पञ्चमदिवसिनिम् ।

}

मुनीन्द्रविद्यायतनम्

४, आनन्द लेन, बरकता ।

सम्पत्तिरत्र श्रीनगेन्द्रनाथशास्त्रिणः, ईश्वरचन्द्रशास्त्रिणश्च ।

श्रीवालाजीमन्दिरचान्दोदयहोदास्थश्रीधर्मचन्द्रोदयपीठाधीश्वर-
वेदान्तशिरोमणिश्रीमदनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्याणाम्—

सरस्वता सरस्वता संस्कृतभाषया मुन्दरतमं सरसमेकमुपन्यसं चन्द्रमहीपतिनाम
धर्मनिवासशशिष्यो निबन्धुः । यस्मिन् वर्त्तमानकालिको जनसमुत्थाः समुपन्यस्त
कथ्यमानः कथारसिद्धाद्ये ममबलोठेरन्वित्याप्तेष्वामः । सतन्त्रया शीत्या कवि
स्यान्निवासानादिहोति । अधिकरोति चोपनिषदा तेषु । प्रथम्य कथं वेदोप
भाषाय भाषामाना वर्ष प्रथम्य प्रथममभिलषामः, इति शम् ।

वसुधैव कुटुम्बकम् - दिनांकः २८-१-५९

अनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्यः

ता० २५-२६-२७ दिनांक १९६० में प्रथम चोकानेरराज्यमाहित्य-
गमेलन, डा० श्रीदशरथ शर्मा एम० ए० के समापनतिथिमें हुआ था । हमने
चन्द्रमहोदय को प्रथमश्रेणी का प्रमाणपत्र निर्वाहकोने दिया था, एवं मोथे सिमी
मूर्तति दी ।

मैंने वसुधैव कुटुम्बकम् धर्मनिवासजी छात्रजी द्वारा रचित चन्द्रमहीपति का कुछ अंश देखा
हूँ था है, प्रथम काल में मृग्य है । लेखकमहोदय ने कवि एवं साहित्यज्ञ
होने का ही अच्छा ज्ञान दिया है । आगे विषयज्ञान बापामें अपने हलके
बहुत अच्छे समझे है । अच्छा है कि अगली श्रेणी कुछ बरीन ज्ञान्यता एवं
भावार्थिकताओं को ज्ञानता समुत्तममहित्यमर को अवगत दायता करेंगे । अपने
कथनक को कथन रोचक बनाया है; प्रवृत्तिमें ही भी बनी मरी । हमें अच्छा है कि
संस्कृतमहित्य के विद्वान् इनकी प्रति की आज्ञा का लेखक महोदय की समर्थति एवं
समर्थनमहित्य की धर्मति करेंगे ।

२०१३६०

(डा०) दशरथ शर्मा

वेङ्कटाचार्यवेङ्कटाचार्यः

हृंगर कालेज, बीकानेर के हिन्दोबिभागध्यक्ष स्वातन्त्र्या श्रीस्वामी नरोत्तम दासजी—

श्रीमान् पंडित श्रीनिवासजी शारथी की अमिनव अनुपम कृति चन्द्रमहोपति के कई खंड अंश मैंने देखे और सुने । यह ग्रन्थ पंडितश्रीकी काव्यशक्ति का सुन्दर परिचयक है । वर्णों की निराली छटा के साथ साथ अर्थकारादि का तथा व्याकरणविषयक विविध बातों का मनोहारी सौन्दर्य ग्रन्थ में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । पंडितजी की यह रचना सर्वप्रकारेण अभिनन्दनीय है । अच्छा है भिन्न प्रकार की अनेकानेक सुन्दर-रचना से पंडितजी अमरवाणी के भंडार को भरते रहेंगे ।

पौर्णमास १४ सं० १९९७

नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०

सप्रमोदमिदमावेद्यते यदात्रस्थानोयमिदम्मणिमालायामभिनवमणीयमानस्य श्रीमतः श्रीनिवासशारिण्य अनुपमदास्यस्याभिनवा कृतिः “चन्द्रमहोपति” — नामकः संस्कृतोपन्यासग्रन्थोऽद्यतः समाप्तोक्तिः । इतः प्रत्यपि किमधिदंशोऽस्य दशो-गौकतामनायि । महानयं हर्षवशरो यदधुनापि संस्कृतवितुषामुर्वरासक्तिसम्पन्नं मल्लिङ्गमोदंशि सर्वेविरगुणसम्पन्नाणि काम्यानि निर्मातुं प्रभवति । काव्यरपास्य भाषा, भावः, रीतिः, गुणालङ्कारादियोजनं चेति सर्वमेव मनोहारि । . ग्रन्थरत्नमिद-माख्याय सृष्टिप्रेतुर्नमवती भारती प्रसीदतामिति निर्मायिन मनसाऽऽशंसते—

हनुमत्प्रसादशर्मा [साहित्यार्थः]

विद्यावारिधिः

प्रधानाध्यापकः

सरदारशहर

पौ० क० १३

वे० सं० १९९७

विद्याधरशास्त्री एम० ए०

संस्कृतविभागध्यक्षः—

हृंगर कालेज, बीकानेर

एव० आर० संस्कृत कालेज

रामगढ (बीकानेर)

राजस्थान

शारदरत्नभाण्डागार हव ललितहास्यचित्रसमन्वितः संस्कृतभाषाविकासहेतुत्वाद्यभ्येत्यध सामयिकप्रार्थ श्रीनिवासशारिण्यचन्द्रमहोपतिः कमलानामको ग्रन्थः ।

वृद्धिप्रमत्तिनकालदशी तौर्यशजमिश्रज्योतिषी ।

श्रीनिवासशास्त्री का चन्द्रमहीपति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । वर्णनशैली, प्रवाद विशेषरूप से उल्लेखनीय है । मानसिक भावों का संपूर्ण उपन्यास । तत्तं प्रधान गुण माना जाता है जिसे सुन्दर रूपसे सन्निविष्ट किया है ।

रामकृष्ण भारती, शास्त्री, धी० ए० साहित्य

सरदारसाहू, २६।१२।४८

सरस्वती कलेज, लाहौर

Sri Bhandarakere Mutt. Udipi. (South Kinara)

Dated 2-2-1959

Camp कलकत्ता ।

स्वस्ति श्रीमत्परमहंसपरिमात्र कृत्वायनेकविहाराङ्गिणवदिक द्वै तमप्रतिष्ठापकजगद्गुरु
मन्मथाचार्यशुभसम्प्रदायप्रवर्तकश्रीमदुडुपिमण्डारकेरिमठाधिपति श्रीविद्यामान्यतीर्थ
स्वामिपादाचन्द्रमहीपतिनामकग्रन्थोद्भूतः श्रीनिवासशास्त्रिण्यो नारायणस्मरण
पूर्वकं निवेदयन्ति—युष्मकं चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थः सर्वाभ्युदयास्तुष्टु
प्रतिभासते, मनोहररूपाग्रजनेन जनानां चित्तकर्षक इति मन्यमानहे । अस्मिन् स
सर्वे जना आदरं करिष्यन्तीति वदमासास्महे, इत्यनेननारायणस्मरणानि ।

[वेदविद्याप्रयत्नमानमानसः

फलिकासाक्षो व्यापृतवैरिप्ररः

श्रीफालीप्रसादखेतानः]

"Naurang"

6. South End Park.

P. O. Rash Behari Avenue

Calcutta-29.

22nd March, 1959.

The publication of CHANDRA MAHIPATI by Kavira. Shrinivas Shastri is a very interesting event in the field of modern Indian literature. It is a novel written in modern Sanskrit. The style is Composite, partly of the old and partly of the new. Ingenious forms of grammar and of descriptions of nature alternate with coined scientific expressions and modern political and social topics. I must state frankly that all the translations of the scientific words are not likely to be accepted by the public. But that does not affect the merit of the book. It is a bold attempt to employ Sanskrit once again as a medium for popular literature. What is more, that the book is bound to prove to be a source of inspiration to writers in Sanskrit even including himself

(Sd.) Kali Prasad Khaitan

लेखकस्य द्वित्राः शब्दाः

युगद्वये स्थीते पयविशति सम्प्राप्तो युवेन चन्द्रमहीपतिमग्मञ्जपातो निम्नस्य मृग-
निहतो बीजाद् । धीमतो समग्रं समायात एव ।

सर्वत्र राष्ट्रे स्थातव्यपूरे प्रवहति, प्रत्येकस्य मानसे सुखेन समृद्धया च युक्तं राष्ट्रं दृष्टुं
आकुले, विदुषां संसारे विभिन्नभाषासु सस्वप्यनेकेषु ग्रन्थरत्नेषु “सर्वोऽप्यर्थो दुर्घः
सृष्टौ घयगोहं तथापि मे । सत्सद्भिर्भावितता ममता केन चार्पते” । इति हर्षकदिशा
दुःसाहसेन मयेव निरुद्धः । परं संस्कृतकेलिकालाभाविहीन्यतिभीषणा, प्रकाशनमतिदुष्करम् ।
अधुनैतत्प्रकाशयते—इति विचार्यैवाहं प्रसीदामितमाम् ।

विशे वयसि यौवनोचित्वा निरुभया स्वेच्छाचारितया, अवहृत्तया, अवहृदशितया
च सह खेलनवचनाभासाः शैशवमुलमा पण्डितम्मन्यता चासीत् । अतः सन्दर्भेऽस्मिन्
तत्सुकममौद्धत्यं कथनं कथनं विद्यते । पश्चिमदृष्ट्युत्तरमपि शिशोः प्रमोदास्पदम् ।
तद्विशेषार्हं तथापिमेव सुप्रयत्नितुं निरदिशाम्, यतो बालकवेदान्तस्य परिचयः
पाठ्यैवैषावभ्येत । प्रौढकवीनां सकृन्मन्दस्वन्दिकः पीयूषमादधोतपनयो हार्दिकमप्यो
रचना भवद्विरनेष्ट आलादिताः, सम्प्रतीमां कालकाद्यलीमप्याकल्पन्तिवति ।

पदार्थस्याभिप्यक्तवै सन्निधिवमे कथनं कथनं क्षीपित्यमवलम्बितम् । तदर्थं
पूज्यान् पृथ्वाः क्षमापये ।

उपमानोपमेये समानलिङ्गवचनतयाः शास्त्रीया परिपद्यो विद्यते, परम्, “नोपमा
दृष्टयादात्तं यत्रोद्देशो न भीमताम्” इति दण्डिनः काव्यादर्शस्याधयेन तां विद्वत्सत्तां
परिवर्तितवानिति ।

महतीयमहिममण्डिताः कुन्दकुमुदविलसत्सद्वीर्यस्तपोमूर्त्तयो
मान्याः ! पुरा भारते मारकहा अपि संकृतां कानं भावन्ते स्म । परमत्र तु कतिपय
एव तत्र शाखाः । यदेकमेवामलिप्यतदा संस्कृतग्रन्थाः पुरातत्त्वविमान्तराष्ट्रगारस्य
सम्पत्करुता एतामलिप्यन् । समस्तनस्रध्वगुणिता अस्मददिभिर्जीवद्विरपि पुनरेवेन्द्रिता
वननी शोबनीया दयनीया बोदिदं महद्दुःखावहम् । किं मय्यन्य एतदेव रोचते ?

अथार्थेऽहम्, कथनय दिव्यो एव ? नवोदितेषा कथं राष्ट्रमायादिहामन-
मप्यास्ते ? कथनस्याः साहित्यधीरैषि ! तत्र काव्यमाख्योद् कथनीयान्मनस्य-
ज्ञानमपि रचना कर्तेतत्तः । विरोधो न मयनीया अनिरचनाः परीक्षणं स्पष्टं

प्रापिताः । एकैकञ्च आसन्नविज्ञानि संस्करणानि तेषां भूतानि । स्वल्पज्ञाना ।
लेखकाः कण्ठमधुरिण्या मधमाधुरयन्तस्तु कान्तपदैयशो घनधातुः । फलतो नवीन
अपि अन्यज्ञानोक्तवाहुत्येन लोकप्रियतामुपेताया हिन्द्या राष्ट्रमायात्वं भूतमेव ।

परं संस्कृतम् । प्रथमतो लेखका एवाङ्गुलिगण्याः, तेषां दोषा जीवनशत्रु
व्याघ्रना वीतरचनानैपुण्या निरवध्यापि प्रकाशयितुमशक्याः प्रकाशितेषां च क्लृप्त
समन्ते । संस्कृतजीविनोऽपि संस्कृतग्रन्थान् क्लृप्त्वा न पठन्ति । संस्कृतस्यै
व्यासहा, विधिविद्यालयेषु पाठ्यनिर्धारयित्रोत्समितः संस्कृतसदस्याश्च नवीना एव
परीक्षां न सन्निवेशयितुं यद्विच्छेदयन्ता इव प्रेक्षन्ते । केवलं प्राचीनानि पृथक्
पुस्तकानि निवेशयन्ते । अस्यां स्थितौ कथं सम्भाव्येत संस्कृतोन्नतिः ।

याम्, साक्ष्यं विप्लवदृष्टेर्व्यसमानिः प्रतिज्ञातव्यम्, समस्तभाषाजनन्या भाषा
भाषाया उन्नये चेतिवध्यम् । नतोलेखकानां सर्वज्ञं, स्वप्रमाणेन नवीनरचना
परीक्षां सन्निवेशने लेखनप्रकाशनविशेषेण च योग्यादौ व्यसमानिवाचितव्यम् । प्रत्ये
विद्येतुं यदा नवीनाः कृतोः कृतुं विज्ञानिनव्यम्, येन ताः कृत्यास्तृष्टेयुः । विद्यन्ते
अन्यत्र वा एताः कृतीरुद्भूताः प्रेरितव्यम् । अकारणानां विद्यापनानां संस्कृत
प्राणानां विप्लवमाधीर्वाचनैव दुर्दृष्टेऽस्मिन् पथि सान्दर्भं प्रयागुं पार्यन्ते ।

देवताया अन्त्योन्नतया अत्रिनिःप्रतिवाचनत्वरूपे सौत्वाहमिदं विचारयन्तीत्या-
शाशानो विरनानि । अथवा मम्मदीनः भ्रमस्तु भीमतां कर्तारविन्दोराधानाजन्त-
सुखमति, सत्यप्रमदकर्मस्य धीमन्तः प्रमदम् ।

एतावानरमित्रकुटुम्बस्य कृत्यं
मित्राणाम्, सरसि विनिर्मो वदियन् ।
आमोदो विक्रमममिन्दिरानिवा-
मरमर्चं दिनकरकृत्यमामननि ॥

दुर्दृष्टिर्धर्मतां समन्वेत, कर्तृत्वाय सन्नेव हिम् । अन्त्यधीनतां भीमतां
मित्ररम्भं कुटुम्बस्युक्तम् ।

रमणस्यो,
१०-१६ वैशाखः
१९८, यमपुरं गुरुः
१९८८-९
१९८८-९

श्रीमन्महाराजः

श्रीः

४३६

“चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः”

(समालोचना)

लेखकः—कविराजः श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री, साहित्याचार्यः, आयुर्वेदाचार्यः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, संस्कृतार्णवः, आमनंगरस्थे आयुर्वेदोद्यत्नातकोत्तरशिक्षणकेन्द्रे मौलिकसिद्धान्तविभागस्याध्यक्षः ।

‘यारजन्मवैकल्यमसह्यशक्त्यं गुणान्मुते वस्तुनि मौलिता चेतु ।’

नैवात्रियन्ते बहुभाषिणं तु दुर्गे पक्षि प्रक्रमणं मद्योयम् ॥

अथमुदयतेऽभिनवोऽपि परिपूर्णः, सकलकलोऽपि निष्कलकः, सन्निधातोऽप्य-
मन्दानन्दप्रकाशः, कथाकाव्यबन्धं बन्धुरयन्, उपन्यासाकाश भासयन्, रक्षिकजनमनासि
चर्ययन्मन्दमयीपतिः । इतो विशतेर्वपेभ्यः प्रागर्थं काव्यतत्त्वा एवादीदृशत्, अधुना
रक्षिकामिलामिर्मन्मेषमर्गं मोक्षमार्गो नमो द्वियन्द् चरीरति ।

यद्यपि भाषान्तराणां काव्यमयानि गद्यैरेव तुन्दिरमन्ति वयूषि, स्वस्वाम्येव तेषु
पदानि प्रचकाशति । पान्तु संस्कृतकाव्यमस्य कथेवाव्यया । इह तु वेदाः पद्यमयाः,
पुराणानि पद्यरत्नकानि, स्मृतयः पद्यमयः, आयुर्वेदोऽपि पद्यैः सुवेदः, आत्मान्मन्यन्,
कोषोऽपि न पद्येषु मित्रौकः । छन्दोऽधुरोधादस्मदच्छन्दोऽपि तस्मिन्नेव पद्ये
स्वैर प्रासत्त्व कवय इति तु मन्मे देवस्याश्च आनन्दैकतानताया यानैकामिष्यन्त्यतां
पश्यतः संस्कृतेरेव माहारम्यम् । यद्यपि “नैकमोजः प्रवादो वा रसभावविदः कवेः”
इतिवत् “नैकं पद्यं न गद्यं वा रसभावविदः कवेः” इत्यपि वक्तुं शक्यम्, अन्तरं
रमेतमाभाषणं बाणदण्डमुग्रशुवदशा महाकवयो विवबन्धुषु ते निरवर्गैर्महैरपि
आभ्यानि काव्यानि, तत्रापि से सन्त्यल्लुपिगणनीयाः ।

अभूनातिविपरीतायां शताभ्यामपि राजन्यागौरवगीपतिः, मीनाविषगद्यपद्य-
निबन्धवन्मैकविधिः, धेनोयस्मानावधानविधानावधानः, घटिक्यातकोपाधिः, धीमान-
म्बिकादत्तव्याधो नाम महाकविः, यदीयं ‘शिवरात्रिदिव्यं’ नाम गद्यकाव्यं लोष्टवेन,
सारत्वेन, भावन्त्युत्तरया, विषयनिरूपणपरिपाद्या चातीव प्रशस्यते मनोपिभिः ।
पुनरप्यमातति रघुभूमौ राजन्यागौरव एव महाकविः धीनिवासो नाम वस्तुतः

सखतीनिवासो विद्वन्मूर्धन्यधन्महीपति प्रकाशयन्प्रतितीयन्पि मह
सद्वितीयान् विदधय ।

यद्यपीदं युगमस्ति तुलनात्मकमनालोचनायाः, तथापि करयविल्लप्तेन कस्मात्
महनेन बुद्धिभेदापादनं पूर्वेषां कृतिकीर्तिविलोपनञ्च न रचिरं मन्यन्ते नीरालो
मनीषिणः । नैव नासंस्तरादृशा अपि चादुकाराः केवलकवयः कवयो ये द्वितैक
प्ताहारसाभरगितुशः पंचयमामाधोसमपि 'स्वमर्कसर्व सोमः' इति स्तुवन्तो वा
विरतापयानस्तुः परन्तु न सर्वेऽपि तादृशाः, न वा सर्वे कुचकचनयनवदनेऽग्निन
मैहि राष्ट्रम्, समाजम्, धर्मम्, संस्कृतिञ्च समुज्जीवयितुं कृतो बावी देव्या वरद
स्लाघ्यः सद्गुरयोगः, वस्तुतस्ते त्रिकालवन्दनीयाः सर्वस्य जगतः । स्लाघ्यताया अने
परीक्षानिकयो यजनसेवा सर्वाभ्युदयकामना च ।

प्रस्तुतमभिनवं चन्द्रमहीपतिनामधेयं काव्यं परीक्षमाणाः सर्वथा निर्दोषमेतत्
कलयामः । इह कांश्चिद् दृष्टिकोणान् पुरस्कृत्यैव समालोचनं विदध्मः, ते चेमे क्रमशः—

(१) लक्षणासुरमेन नयपि कथाकाव्यमिदं व्यपदेष्टुं शक्यम्, कादम्बर्यादि
वासववृत्तादिवच्च, कल्पितनायकादिमत्त्वात्, तथैवारम्भे बहुभिः श्लोकैर्महोपादिम
रणाच्च, तथापि तत्रेवात्र कथासम्बद्धानां नायकनायिकादीनां देशनगरादिपरिक
पूर्वमेव न दीयते, अपि तु ध्वजाक्रमेणौत्सुक्यमुत्पाद्य तदनु तदुपशान्तिरुपजन्यते ।
संस्कृतवाङ्मये सर्ववैकाभिनवोऽयं पन्था आद्यत्यादिषु भवत्कथावत् हिन्द्यादिषुपन्थास
कादिदपूर्वां छटां विधुदुरयतीति उपन्यासकाव्यमिदमिति कथनमधिकमुचितं भाति ।
कल्पितत्वेऽपीतिवृत्तं तथात्र सुदिल्लभं सुसुखं च यथा तस्य क्रमिके हृदयोपारि
नमनागपि धमानुभवः स्यात् । पाठकः सञ्चरन्पुरुषं हस्ते कृत्वा लालसमानसोऽप्रे
शतरसमासादयंस्तत्परिचयाय त्वरमाणश्च समाप्तिं यावत्तत्र जिहासति ।

(२) युवकानां युवतीनां चापि शृङ्गाराद्यभिष्यञ्जनावसरेऽपि न कश्चिदुच्छृङ्खलता
नम्रता वाऽवलम्बिता, प्रत्युत "अनौचित्यादृते नान्यदसमग्रस्य कारणम्" इति नियम
नुरोधेनौचित्यरक्षणार्थं रक्षनीयता सर्वत्रैवाव्याहता सन्धुं शक्या । ततश्च युगरथा
। युता इदानीञ्च सर्वेषां हस्ते निविचिकित्सं निविताङ्गुष्ठं दानुमर्हनिदम् ।

(३) काव्यैकप्रणयिनो रसिद्धा यथेह समुचितेन, अलङ्कृतेन, समुपेन, रसित-

[illegible]

विंशोऽध्यायः

[illegible]

आधुनिकीकरणों का सुझाव देना जारी रखें

राष्ट्राचार्यविदां वयो वरमर्कः एतद्वर्षादं पुन्यदम् ॥ इति ।

इतिहासः प्रमाणं नान्यथा पुनरुक्तं दृष्टव्यं एवमित्येव नैव नित्यं तत्पर्यमा-
 र्थेयम्, अति नु हि हिमन्त पुनरुक्तं धमेन निगुण्यमर्थानि स एव
 एवमुदाहृ. श्री कृतान्तोऽप्युक्तमर्थः एवम्, एतदर्थं नैव नान्यथाप्यर्थक्यविरुद्धं
 सर्वं समग्रम् ।

(४) स्वयंविज्ञेयं विज्ञातव्यं प्रयुक्तं मानमाना अपि केषां च
 केचन तन्मतेन कतिना प्रयुक्तान्येतद् गुणवैव संप्रधानं, प्रयुक्तं विज्ञातं मयमं
 मानविज्ञानप्रवृत्तौ विज्ञातं वैदुष्यमिति चेदस्मात्प्रधानं पारस्परिकं विज्ञेयं
 ध्येयतरेऽनित्यवशात्प्रवृत्तानां शोच्यमानां मुक्तये प्रयुज्यते यत् इति साधारणं व्याख्येयं
 ह्यपि दृष्टव्यं मानप्रधानं पूर्यते पुनरेव, एतादृशव्यवस्थायै मार्गमपि वक्ष्येतेनैव च ।

(५) इह कविना ह्यसि पयन्मयं तत्र तत्र ध्वरयन्तं प्रादुरयन्तं च, "ता
करीनां निरुद्धं वदन्ति" इति वरीधनियये तु तत्तत्तानि निरवधानि गगन्येव सर्वं
निर्मलाणी देवाणिः सनत्कृतान्पुष्पयन्ति काव्यं चमरकृतिं येनएषु । अस्मि
निये कविर्हं सर्वदा साक्ष्यमवकाशमिति निर्मात्रं निगद्यते । किं च विद्यायाः

गुणैकपक्षपातिनो निर्मलतरा मामिकाः ।

(६) इह हि नानाशास्त्राणां मनोरमसमन्वयवत्, नवप्रभाभास्तराणां प्रीति-
पयोगिनां समस्तानां यानादिसाधनानाम्, सास्त्रास्त्राणाम्, यन्त्राणाम्, वादनाम्, &
हाराणाञ्चपि तथा नाम वेतोहारो संनिवेशोऽक्रियत, यथा नाम कवेरस्य सर्वत्र बहु-
बहुदक्षिता च प्रस्फुटं प्रतिभासते । विरला एवेतादृशाः कवयो व्युत्पन्ना विद्वांसव ।

(७) इह सृष्ट्याचन्द्रमसोरुदयास्तमयाः, नक्षत्रदिनस्यावस्थापर्यायाः, शरद्वर्ष-
हेमन्तादीनामृतूनां प्रवृत्तयः, बभोववनरम्यहर्म्यनदनशोसरित्समुद्रपर्वतदरदादिसंनिवेश-
वर्णनानि च श्वेतधट्टलयन्ति तथा सञ्जीवानि सन्ति, यथा द्रष्टुः पुरस्ताद्विप्रनि-
वृत्तयः । सृष्टिस्मृत्यात्मानं सुगुणो विशगुणो जनोऽलौकिके करिर्मन्थनामन्द्या-
पारावारे विरं निमज्जत्येव, याददुग्मजति तावत् परः कथनानन्दोपः पुरः प्रसर्पन्नात्म-
विहीनयति सद्ब्रह्मम् । नेमानि कवयिदपि हीन्यन्ते कादम्बर्यादीनां वर्णनेभ्य इ-
मुज्जकम्बुं बद्धं क्षययते ।

(८) प्रकृतिर्हं वर्णनमिव समस्तपात्राणां परित्रविप्रजमपि सुदर्शितं सन्ना-
विद्यमानमुत्तमं च । “काव्यं यद्यभेदयंतृते व्यवहारविदे शिवेतारुतये, तथा कान्ता-
संमिततयोदेचपुत्रे” लोकासिधायनप्राप्तयेपते, तदेतत्प्रयोजनं तापु निष्कूलं काव्ये-
कानेव । परममिन्नन्दनीयं वेदमन्त्रित्वाचरणेन गुणोत्कर्षेण । यद्यपि हृदयनायकस्य
कन्दर्पैकाधिकपत्नीरतिप्रदः केकादित्यरिचन्द्रनीयः स्यात्, तथाप्यवस्थाविशेषेऽतिरिक्तं
कर्तव्यतयाऽऽर्पिततोऽनौ न मनःगतिं तत्परिणमपक्वार्द्रं प्रगच्छति । पदे पदे कन्दर्प-
हर्षमि सप्तोत्तरत्वं च तं चतुश्चन्द्रकान्तिरं करोति । इत्यन्तां प्रथमिके विरचिते
सुन्दरगुणैः कम्पकायाः पूर्वरागो दया मानसे, न तथा चटाय । परावर्त्त-
विशेषैरेकनिरुपय तस्य कविप्रमदितमासुख्यत्वं स्मृत्तनीयं वेतोहारि च ।

(९) कन्दर्पकन्दर्पः हर्षः कन्दर्पः देवपद्मेऽप्येवम् । एतदस्य श्रीरघुपदः ।

तेतदत्र पर्याप्तं निर्व्यूढं रस्यते रसिकैः सुसुहृमाध्यमेनामन्दानन्दसन्दोहपरम्पराः
परिप्राप्य ।

(१०) सर्वतोऽप्यधिकं यदेतत्काव्यसम्बन्धे वक्तव्यं तदिदम्—“भारतीयध्यादर्श-
भूतस्य समाजस्य स्वरूपं तथात्र विद्यतम्, सञ्जीवम्, मूर्तम्, उज्ज्वलम् निबद्धमस्ति
यदितोऽन्यस्मिन् साहित्ये प्रायो दुर्लभमेव । प्राचीनार्वाचीनादर्शमोक्षं समन्वयप्रकारोऽ-
भूतार्थः सातिशयबुद्धयः । श्रीभोनिवासव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिद् विद्वानिदं कर्तुं मर्यादय-
ति चेति हर्षेण तु भविष्यन्नेव कालो निराकुरिष्यति । कृतिरियं कविना श्रीशारित्रिणा
तस्मै वयस्येवाकारि, येयमिदानीं दशोद्योचरतां प्राप्य सुसरसतोषैवैकतसिकानां
सदृश्यानां मनांसि सर्वत्र मोदयिष्यति । कविस्वशक्तिस्मिज्जन्मजालेति सूच्यते ।
तावति तादृशे मन्ये स्वस्या एव मुद्रितसुसुम्नदकाव्यविधाने विद्यिष्यतिमानवन्तः स्युरिति ।

यस्य समाजवादस्यादर्शस्य चित्रितं कविना, सोऽयं रामलीलेन महात्मना
गान्धिना ‘सर्वोदय’—नाम्ना व्यपदिश्यते स्म । अस्मिन् काव्ये तु तस्य नाम ‘सर्वोद्बुद्धयः’
इति निर्दिश्यते कविना । सर्वोद्बुद्धयशब्दस्तु “सर्वेषु—समाजस्यसमुद्येन, सर्वस्मिन्—
काले, सर्वस्मै—मानवाय, सर्वैरमाहुपायात्, सर्वस्य प्राविजातस्य अभि—समन्ताद्बुद्धयः
सर्वोद्बुद्धयः” इति श्रुत्यतिपुररश्मय कविना कृत इति संस्कृतभाषया श्रुत्यतिनिर्वचनादि-
विषयाऽर्थप्रतिपादनेऽद्भुतां कामदुषां शक्तिं सूचयति । कवेध्यापि तत्र मर्मशतमा-
विष्कोति । सर्वोद्बुद्धयशब्दादस्यास्यातीव समोर्वं दार्शनिकं पाण्डित्यपूर्णं विवेचनमिह
लभ्यन्ते भावुकाः, अनुभवयिष्यन्ति च दार्शनिकीयतुभूतिं स्वैरम् ।

(११) प्राचीनदर्शानां सर्वेषां होनतस्तुभाषके, तत एव च विषमविषयश्ला-
घकीरिलीढदुःखीषनिस्तदुच्छेदे निर्मदेऽस्मिन्ननेहमि कान्दिनीकाव्यमितस्तदथ विश्वतां
जागतिद्यानां जीवनां भावतीवा संस्कृतिरेव समुदासादालं भविष्युः । तस्याः संस्कृतेः
प्रबलशय केरल संस्कृतविदुषानेव कृतिस्तस्याः । परन्तु—

वेन्दारो मत्सरप्रह्लाः प्रभवः स्मदद्विपाः ।

अबोधोदहाधान्ने जीव्यमन्त्रे सुमास्तिम् ॥

इति प्रसह्यसंभवेमुदीरितेन मनुर्हरिबन्धना, न जने, कति कति वमुन्यरात्नमृतास्ता-
रता विद्वांसः सुखेदां रचना इतिप्रतापशतप्रकाशमनासाय स्वाङ्गेष्वेव जीर्दन्ति, न केवलं

A Review

By **Dr. Satkari Mookerjee,**
Director, Nava Nalanda Mahavihara
Nalanda (Patna).

Chandra Mahipati—a modern novel in Sanskrit by Kavirāj
Śrīnivāsa Śāstri, price Re. 6/- only.

Nobody could imagine that in modern times a scholar endowed with an extra-ordinary poetic skill and a wonderful mastery of the Sanskrit idiom could write a novel in faultless Sanskrit in the manner of the Classics written by the novelists of Europe and India. It proves that Sanskrit is still a living language and can evolve unwonted modes of expression embodying the charming features of Bāṇabhaṭṭa's *Kādambarī* together with the modern realistic approach. It is a *tour-de-force* of talent and scholarship. A Sanskrit scholar will be really surprised by the novel nuances of expression which while reminiscent of Classical beauty of the romances composed by Subandhu, Bīṇabhaṭṭa and Dandin are examples of modern realistic pictures of the current state of things. Apart from the plot, the author's melodious language is sure to grip the attention of the lovers of poetry. The author has coined new expressions which faithfully and effectively represent modern ideas. Those who are steeped in the terms of the old Sanskrit Classics, whose number, however, is extremely fewer than the modern output, will be thrilled with pleasant surprise to find that the work under review makes a happy departure from the ancient style and manner without forfeiting the attractiveness of Classics. Though on several occasions, the difficulties caused by unfamiliar expressions, may be felt by modern students accustomed to easier expressions, he will be amply recompensed by the labour undergone in mastering a rich vocabulary. In the general course of this story, the style of

the author is simple direct expressive and effective and the reader will not feel the jerks and jolts which are frequent in the celebrated classics. The work is thus remarkable for combination of the old and the new styles.

As is the case with modern novels, it contains dialogues and conversations in a style which will not allow the interest of the reader to flag or stop. Of course it is pre-supposed that the reader is possessed of a modicum of knowledge of Sanskrit in order to be able to appreciate the beauty of this achievement. I am optimistic enough to believe that in India and outside India where Sanskrit is cultivated, the present adventure will not fail to win the approbation of a large number of connoisseurs. This is in brief my evaluation of the author's language and style which ought to be regarded as setting up a new genre.

The author hails from Rajasthan which is noted for its multitudinous episodes of chivalry and romance. The love and admiration of the chivalry of the mediæval knight-errants has been imbibed by him from the milieu and the tradition of the Brahmanical family devoted to the cultivation of the poetry and scientific discipline of the old in which he has been nurtured. In the present day, when men are accustomed to the drab commonplaces of struggle for existence, the story of love adventure, thrills and narrow escapes may strike a modern reader as unrealistic and romantic. But with a little imagination and sympathy, the reader will get to the core of the human interest unfolded in it. It must be acknowledged that the author believes with Bernard Shaw in recent times and Mammata Bhasya of the 12th Century, that the poet has a mission and a philosophy of life, which he teaches for the edification of his readers. He is not purposely didactic and has skillfully shunned the boring effects which a pedagogue produces on his auditors. The author is not

slavishly chained to the ideas of the old order of kings and knights and has faith in the inherent rights of the average run of men and women to the good things and opportunities of the world. The story he has spun, underlines the transition from aristocracy and plutocracy to real democracy.

The communistic philosophy is now extending its away over the undeveloped countries of the world. This philosophy is based on the hatred of classes and seeks to root out the inequalities in the distribution of wealth by violence. It ends in Dictatorship which ironically enough thrives on the enslavement of the mass. It seeks to conciliate the mob by providing food and drink and shelter in exchange of hard labour in factories. The author is keenly alive to the misery and degradation of poverty. He pleads for the liquidation of this debasing state of things in which a few men and women fatten on the drudgery of the mass. But his method is entirely different. In this novel, the author demonstrates the way in which this position of affairs can be radically reformed by a philosophy of love. He believes that, if persons who hold position and power are trained in the philosophy of love to develop a cultured and sensitive mentality, they will ungrudgingly share their wealth with their fellow beings. He calls it 'Sarvābhyaṅga' which he prefers to 'Sarvodaya'. This philosophy of life has been preached by Mahatma Gandhi and is going to receive a concrete shape under the leadership of Bhuba Bhawe with his able lieutenants as Sri Jayprakash Narayan and the like.

The author has made his hero Chandra Mahipati, a king who gives up all his wealth to his subjects. The king feels supreme joy and satisfaction in denuding himself of his superfluity of the material possessions. This was the ideal of Rāmschandra and also of Mahatma Gandhi who craved for

the establishment of 'Rama Rajya' in India after the departure of the British rulers. Our present author shows that this is no unattainable utopia. He develops his plot with consummate skill and makes the transition from monarchy and aristocracy to democracy a natural process and eventuality.

Now the monarchical state of things has come to an end in India. India has adopted the parliamentary system of Government which is in vogue in Great Britain and America. But the high officials, from Governors and Ministers down to the humble officers of the state, are threatening to form an order of aristocracy which tends to widen the cleavage between the rulers and the ruled. This condition can be remedied and reformed if the love of superfluous wealth is shown to end in self-stultification. The horrors of poverty accentuated by foreign rule of nearly one thousand years have produced an unhealthy reaction. Our people are becoming egocentric and individualistic. It is necessary that they should learn the lesson of History that the poverty of the majority and the wealth of the minority can not go uncombated. A new philosophy of life is to be evolved in which nobody should exploit the poverty and greed of the people. If abundance cannot be secured, we must all elect of our own free accord to share the privations with our fellow men and women. I trust, that the work of Śrinivāsa Śāstri will prepare the ground for this consummation.

The present novel proves the truth of the maxim of Bhīmasha, the ancient author of Sanskrit poetics, that there is no art or science which does not contribute to the making of a poet's work. Our author is a versatile scholar. He has showed his capacity to utilize his knowledge of Panini, classics and systems of Indian philosophy in the constitution of a work of art. With suitable instructions, even a beginner will b

ble to appreciate the propriety and beauty of these gems constituting a mosaic of uncommon excellence.

It is encouraging to find that the persons who are placed in high positions are now realizing the necessity of preserving and fostering the cultivation of the Sanskrit language and the old treasures of wisdom and science for the emergence of a united Indian nation. Sanskrit was the cultural language of entire India. Centuries of foreign rule have not succeeded in putting Sanskrit out of vogue. Sanskrit can still claim to be the universal language of India. It is not more difficult than English. With wise modification in pedagogy and curriculum, it can be made the official and cultural language of India as before. It is almost impossible to hope that a provincial language will become the all India language. Sanskrit can be made easy. It is only imperfection of knowledge which is responsible for imperfection of sympathy. We have had enough lip-homage rendered to Sanskrit. It is now time to get down to brass tacks. The Sanskrit Commission has recommended the universal culture of Sanskrit in our schools and colleges. The author has showed that Sanskrit possesses an unlimited power for evolving new words and expressions for representing modern concepts of science, politics and law etc. No language in India can approximate to this perfection of Sanskrit. Only if the modern universities can take courage and make Sanskrit the universal language of culture in India and give rightful encouragement and patronage to modern writers like the author of the book under review, the aspiration can attain fruition and fulfilment.

Institute of Asian African Relations
103 Raja Basanta Roy Road, Calcutta-29

Director:

Dr. KALIDAS NAG, M.A. (Cal.), D. Litt. (Paris)
Visiting Professor of Asian Civilisation, Hill found
St. Paul, Minnesota, U.S.A.

President : Indo-Middle East Association, Calcutta

Chairman : Tagore Centenary Committee, Calcutta

Member : Indian Council for Cultural Relations, Min-
Education, New Delhi. Phone 46-481

Dated 25 January,

Kaviraj Shrinivas Shastri is not only a Vaidya for human body but aspires to cure the mortal diseases of Body Politic as depicted by our master Dharmashastri like Manu and Yajnavalkya. With full faith in the efficacy Hindu Juristic ideas, Kaviraj Kavi Shrinivasji has composed an original upanyas in Sanskrit where he shows mastery forceful Prose and charming Poetry. The plot is worked as in our age of transition from individual monarchial to socialistic welfare state "Sarvodaya" as outlined by Mahatma Gandhi, the father of Indian freedom.

I offer my deep appreciation to the learned author for literary and moral ideas which should inspire men and women of free India.

So I recommend the excellent book "CHANDRA MAHIPATI" to the Schools and Colleges where Sanskrit language as the spiritual language of Bharat being taught and cultivated. I wish the author every success.

Dr Kalidas Nag
Ex-Mem'or Raj Pathe,
Life member Viena Bharati.

मुप्रसिद्धमेव सुरभारत्याः कल्यान्तरस्यामि नववीवनैः सिद्धम् । आद्युष्टेर्जगत्यां क्रियलो
भायाः समुत्पन्नाः कालेनाकाले कथयिताम् । प्राकृतमानवीणासीत्तत्कालोक्तमभिधुप्रव
त्तासां साम्राज्यमनुपादुं शक्यते परम्, “सर्वं यस्य वशात्तस्मात् स्मृतिष्वं वाच्यम् तस्मै नमः”
इति स्मृत्यैव दीप्तं निश्चसन्ति तदुक्तम् । परमिमां चतुर्दशविद्यानां चतुर्दशिकलानां
प्रसवित्रीं प्रतिनिमेषं नवनवायमानामविहृतामविहृतामनुगुणं लोकोपकारि साहित्यं
सृजन्तीमाद्यां देवभक्त्यामालोच्य कमपि नवं मोदमुद्गमामः । सर्वदेवानां मयाशक्तं
जगत्सेवायत्तं निरलसया निरुद्धम् । आस्तिक्यास्तिकसिद्धान्ताः दर्शनानि, विविधा वाक्काव्यानां
सम्पन्नविद्वाः इति को नाम विपश्चिन्नाङ्गीकुर्वत् । नात्र तनीयान् संशयलेहोऽपि
यदधुना सातिशयं लोकप्रियतामुपेतं सर्वोदये साम्यवादे च नवीनेन कविना मितवर्ण
श्रीनिवाससाहिना प्राञ्जलसंस्कृतोपनिषद्भोऽतीवमनोहरधन्महोपतिशयन्यासः कादम्बरी-
दशकुमारवर्तिसौमनस्यकुर्वन्प्रतिशमं प्रमोदोत्सवमावहति । कविरत्र विषयवस्तुप्रतिपादने-
ऽतीव सकलः । आधुनिकैः प्रचारितः साम्यवादो निरीश्वरः केवलं मौक्तिकोऽतीव न भा-
स्वीय-
विदुषां प्रमोदवद् । परं कविनामुना सेधरो वैदिको भारतीयो मनुष्यासांदिष्टममताः
साम्यवादः प्रतिष्ठापितः । (यावत् अद्येत जटर् तावत् सत्यं हि देहिनाम् । अधिकं योऽभि-
मन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति) योऽसद्व्यो धनभादस्य सधुभ्यः सम्प्रयच्छति । स कृत्वा
ज्वलमानं तारयेत्तामुभावि । किमस्मादप्यधिकमुत्कामकं वचो निश्चये मायसंवादिऽपि ?

भारतीयः साम्यवाद ईश्वरं धर्मं परलोकम् सम्मत् मन्वानः साम्यमभिलषति प्राणिनाम् ।
तच्चमन्त्रमहोपतेर्मायने नवममित्रासे सम्प्रयातोष्यन्तु विषयानाः । भारतीयविद्यालये-
ष्वसमाध्यापनं छात्राणां संस्कृतिवैमूर्ध्यं निरुद्धत् वैदेशिकसाम्यवादादुत्पन्नं साम्यवादं
शिक्षयिष्यतीति मे भतिः । आशाहे कवेः कृतिरसमं सम्मानमाप्स्यतीति—

दिनाङ्कः १-४-५९

काव्यसाहस्यसृष्टितीर्थः कविराजहरिवक्षजोशी

प्रकाशक का नम्रनिवेदन

यह ६५२२ अक्ष के हाथों में देख कर प्रसन्नता है। कलकत्ते में मुद्रण-व्यय अधिक है और कलकत्ते के प्रिन्टिंग-मशीनों की अल्पता अथवा संयुक्तियों की मूल्यता भी। मुद्रण का यह प्रथम प्रयास था और प्रूफ-शोधन एक कला है, जिससे जानकारी की अभाव में यत्र-तत्र बहुत अशुद्धियाँ रह गईं, कुछ अंश छूट गये तथा कुछ अक्षर-दोष उत्पन्न गये, ये सब अब द्वितीय मुद्रण में ठीक होंगे। फिर भी फिर अक्षर-दोष मान्यमियों ने अपने व्यापृत जीवन के अमूल्यक्षण देकर इस कार्य को शुरुवात करा दिया, उनके नाम हम बड़ी धन्यता के साथ स्मरण करते हैं—

(१) कामेश्वर औषधालय, बोहरा (रामस्थान) के प्रधानचिकित्सा—
भोसल्यनारायण शास्त्री साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य।

(२) श्रीकृष्णाचार्यजी मिश्र, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य।

(३) श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय, साहित्याचार्य, एम० ए०।

इनके अतिरिक्त श्रीदुर्गाप्रसादजी शास्त्री साहित्याचार्य, संस्कृत एवं संस्कृत के प्राज्ञ, संस्कृत मासिक पत्रिका “मञ्जूषा” के सहायक संपादक श्रीधनरायचन्द्र पट्टोपाध्याय ने इसमें सर्वतोमुख सहयोग दिया। ग्रामेश्वर के पुत्र स्व. परिवाराध्य भोसमीरामचन्द्र धामु एवं वहाँ के विभागीय कर्मचारियों ने भी बड़ी धीरता एवं ध्यान के साथ इस कार्यका संपादन किया।

पत्रिका के महामान्य राज्यपाल महोदय ने अपने व्यपृतजीवन में समय मिलाने पर प्रसन्नता लिये, डा० श्रीरामचोटी मुन्शी, शास्त्री, मन्त्रालय, मन्त्रालय, ने अपने भी सहायकता तथा पीछे में कुछ ट्रेनिंग सेक्टर इन अनुभवों के संस्कार के अन्तर्गत, श्रीदुर्गाप्रसादजी शास्त्री के संस्कृत में सहायता का लिखने की दृष्टि की। इन सभी महानुभावों ने अपने संस्कृत ज्ञान के साथ अपना कर्म व्यपन्न किया है, अन्यथा इस कामका संपादन ही संभव नहीं होता। अर्थात् है कि सभी संस्कृत इसी प्रकार

श्रीमदाचार्यश्रीनिवासशास्त्रिकविताकान्तविरचितः

चन्द्रमहीपतिः

स्थोपज्ञपार्वतीसमारूपया विवृता विवृतः

—*—

कमला

प्रथमो निःश्वासः

समरमुदितदैत्याऽऽदित्यहर्षप्रकषां

ललितयदनमालाद्विलसत्स्वेदघृन्दा ।

विगलदमृतविन्दोर्यिभ्रतो कान्तिमिन्दो-

र्जयति विहृतविप्रा कापि सा भक्तिनिप्रा ॥१॥

महार्हत्नाचित्रकराटीमुषीतमभ्याहुतकप्रकान्तेः ।

जयन्ति पुञ्जलम्बलिनादितानि प्रशान्तनेत्रान्तनिरोक्षितानि ॥२॥

कार्तृस्वराभास्वरवस्त्रभासो ब्रुधेन्द्रसम्मानपरम्परस्य ।

भ्रियो निवासस्य विदो वरस्य प्रियप्रियायाः कमलालयायाः ॥३॥

प्रत्यूहपूरादतिदिक्करेणवः शिवे ! शिवास्त्वत्पदपद्मरेणवः ।

जयन्ति साष्टाङ्गपतत्पुनन्दराः किरोटभामानुजुषो विकसराः ॥४॥

वनावनि यद्भिरभिज्ञसिद्धैः प्रासोदक्षरं विमुलार्चनेन ।

दिरयाद्विपद्ममनङ्गमङ्गी भर्गो विनार्चामनुकूलभूतः ॥५॥

शिथे शिवा यच्चयितुं प्रवृत्ते विधाय नारीमथमात्मरूपम् ।
 यत्प्रान्तनिर्यत्तटिनीप्रनष्टेऽमोष्टेऽट्टहासाः प्रजयन्ति भासा ॥६॥
 न एव सद्योऽथ विनाशयन्तु विस्फूर्जितं यद् हृदये तमोज्ज्वम् ।
 यैर्व हिमानोधवलं पुरारेवपुः सुधास्नातमिवावमाति ॥७॥
 श्रीकालिदासामरयाणहर्षान् जगद्धरं यागविलसद्विमूर्तिम् ।
 प्रणम्य विकलेशमगम्यमार्गे विराम्यशङ्कं मुमनःप्रपूर्णे ॥८॥
 येषां निषासाय विदामपीथ्वरी यागीश्वरी स्वान्तनिशान्तमीप्सति ।
 शास्त्रामृताऽऽपूर्णपयोधिमन्दरा बन्धाः कथं नाम न ते कवीश्वराः ॥९॥
 क साध्यमेतत् पृथुरोमुषीजुषा क चास्म्यहं स्वल्पमतिश्लेन्द्रियः ।
 तथापि मूर्ध्ना विदुषां सती शिवा ६हन्ननुज्ञामलमातनोम्यदः ॥१०॥
 रम्यं सुधास्पर्धि कविप्रियं न चेन्न चैव सम्पन्नधियां मनोरमम् ।
 तथापि रम्यं रसयन्ति कोविदा विपन्नपं लोकहितात्मकं वचः ॥११॥
 श्रुटयो यदि स्युः कचनाप्यमुष्मिल्लेखात् प्रमादान्मतिविभ्रमाद्वा ।
 शोष्यास्तदा सद्भिरमर्पमोर्ष जोषं कदा मुह्यति लेखको न ॥१२॥
 ईर्ष्याहितान्तःकरणा द्विजिह्वा यागाशिषा शेषजनान् दशान्ति ।
 दुर्यानयाऽऽनन्दितचेतसोऽमी दुःखात्परं दुःखमलं भजन्ति ॥१३॥
 ततोऽपि कष्टं प्रचुरं विपहा मनो न तस्या विनिवर्तयन्ति ।
 सत्यं न शिष्टैः कथितं किमेतद्गद्यापि रञ्जुर्वलनां न मुञ्चेत् ॥१४॥
 नाम्ना भरद्वाज उदक्प्रतिष्ठो जगद्गद्धान्तभगो महिष्ठः ।
 अचाक्षुपक्षाननिर्घिर्गरिष्ठोऽभवन्मुनिर्योगविदां वरिष्ठः ॥१५॥
 जातो धनुर्धृतिपराहतशत्रुसङ्गः शास्ता समस्तकुरुपाण्डवबालकानाम् ।
 तस्मादमेयगुणगौरवपूर्णकोणो द्रोणो विरास्तरिपुरकृतान्वशोभः ॥१६॥

तदन्वये धन्वनि धान्यघन्ये सत्सेतडोरक्षितलाम्बिपल्लयाम् ।

निरशोपवेदान्तविमुद्धवोधो हनूतरामो व्रतिनां विरामः ॥१७॥

भूपालमौलिमणिशानितपादपद्मः

सत्पात्रदक्षचनराशिबिधूतपापः ।

तापप्रतमजगतो नवनोरदामो

लेभे प्रभां विपुलयुद्धिषरो बरेष्याम् ॥१८॥

धाग्देवता मण्डलमण्डनस्य प्रकाण्डयागविवगाहिनोऽस्य ।

स्वयं भवन्ती समुपस्थिताऽरं मातेव कार्यं सकलश्रकारं ॥१९॥

विवेकविद्याजलपूर्णाः सत्तन्त्रमीनाञ्चितचेतसोऽमी ।

सत्पूरुषान्भोदयैर्निपीता जयन्ति सज्ज्ञानपयोनिधानाः ॥२०॥

इन्द्रो यथा करयपतेजसोऽजनि स नारदोऽप्यात्मभुवो यथाऽजनि ।

तथाऽजनि श्रीमदमन्दमोदकः श्रीभानुरामो महसां निधिलतः ॥२१॥

१ जयपुरराज्याधीनक्षेत्रहोराज्यान्तर्गतलाम्बीवासिनो हनूतरामस्य शिष्यो निकटस्थ-
प्रामाण्यः क्षत्रियो नरहत्यापराधे आजन्मकारकासं प्राप । तद्वन्धुभिरात्म्य हनू-
रो निवेदिताः । एतैरुक्तं मोक्षपते भगवतीप्रसादात् । तत्तत्तैरुक्तैः पाठ आरब्धः ।
तादृं नीलसुर्गं अधुने शोचुः, किम्बहुना आत्मपरिवर्तनमपि न शक्नुमः । यस्मिन्जीर्ण-
टिजे देवीमस्तौतदक्षमाम्नामिदं भजे । तदैव पचेरीतो रम आगत्य उपराजमातु
क्षिनाय । तत्र किलकारविहङ्गुस्तज्ज्ञातं यदहं केनपि महसा जयपुरकारतो
गर्भे स्वप्रागसीमिन् निपटमोचं पतितः, इति । तामिरवन्तामिदं शक्यतां
श्रम् । परन्तैर्नार्याचि, केवलं पचेरीवासिप्रार्थनां विवाहकरयोचनाय न्यवेदि ।
मेधं प्रतिप्राप्तम् । धूयते तद्गुरोऽन्तःपुरे कृद्गयापातेयं निष्कृतचिह्नं भित्तिरुमं
वान्तःपुरस्था आनन्द । सुपाल्लोऽपि सौपे उत्स्थानमस्मिमेवास्त । अद्यादशशतान्या
तितमे वर्षे वृत्तमहः । एवंविधः शतशतमहत्तयस्तेषां गीयन्ते । पयोत्तरैकोन-
ततिशतमेऽन्द्रे ते देहं तत्पुनः ।

पार्श्वस्पर्शपौरुषजपूजितो यो रेजे दधचन्दनपुष्पमालाः ।

माहेश्वरध्यानपरायणस्य यस्यास्त हस्तामलकं त्रिलोकी ॥२२॥

भवन्ति सत्यामृतवर्षिणो भवे रहोजुपस्तय्यपुपो विपश्चितः ।

क तादृशाः संसरणस्वभावके भवन्ति चेत्ते विरला वनौकसः ॥२३॥

ततोऽभवत् पण्डितमण्डनाग्रयः कुशाम्बुद्धिः धृतपारदरथा ।

सन्तुष्टिदारः भित्तशास्त्रसारो विद्याधनो नान्यकरामसञ्ज्ञः ॥२४॥

धैर्यं धरां तेजसि चित्रभानुं क्रोधे यमं बाधि गुहं सुराणाम् ।

जित्वाऽमृताग्निप्रतिभाप्रसन्नश्छन्नेऽर्चयामास सुरान् सुखं यः ॥२५॥

तस्मात् सुपुत्रौ निपुणाथमूतां मन्दारकल्पाययनौ द्विजानाम् ।

ज्येष्ठो युधेन्द्रो नवरङ्गरायः पत्यन्तरोऽन्यो गणरायनामा ॥२६॥

ज्येष्ठो वरिष्ठैरथ जुष्टनिष्ठैः पद्मास्त्रवार्धैरवगाहवित्तैः ।

संसेव्यमानः कृतिभिः समास्तेऽमौ पण्डितेन्द्रो नवरङ्गरायः ॥२७॥

यत्पाठितारद्धाग्रमचर्चिका अलं प्रकाण्टसत्त्वाः प्रथिता मनीषिषु ।

अधीतविद्याः प्रतिवादिभीषणाधरन्ति ययांप्रकृतिवृत्ताचलाः ॥२८॥

नपःसुपुष्पा शुचिकीर्तिवल्लरी पद्मास्त्रमौगन्ध्यवनी क्षमाकला ।

आशामु येषां विततानिशोभना द्वात्रात्रिसङ्गीतगुणा अरुद्रा ॥२९॥

अयातयामागमदीप्रकान्तेः शान्तात्मनन्तोपधनस्य यस्य ।

कालायनीकान्तकृपाकृताक्षैर्हमच्युतेः पञ्च मुताः स्नुताः स्मः ॥३०॥

ज्येष्ठश्च बादीन्द्रविवीर्गमुद्रान् प्रशान्तशास्त्रौषवृक्षममुद्रान् ।

धमूद् युवः केशरनामिकायां विद्वद्भिनेयः करुणात्मिकायाम् ॥३१॥

बालोऽप्यदर्शो धृतविभूतेभ्यः शब्दागमे प्राप्य मनाक् प्रवेशम् ।

अहानन्देन्द्रियबाणदोऽयं स भीमिनासो विदुषां विधेयः ॥३२॥

येनायमद्वा मुकुमारसंविदा सच्चिद्रनानन्दमभीप्सता मुवि ।

अनष्टमोहाविलया विमुग्धया धिया विनोदाय बुधा निबध्यते ॥३३॥

— : ० : —

कथारम्भः

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽ
तिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्रो धेनुबोढानद्धानाशुः सन्निः पुरन्नि
यौपा जिष्णू रथेष्टाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायत
निकामेनिकामे नः पर्जन्यो धर्पतु फलवत्यो न ओषधयः पश्यन्त
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ शु० य० वे० अ० २२।२२ ।

अयमाद्यो राष्ट्रियः सर्वाभ्युदयभावः । हे ब्रह्मन् । राष्ट्रे ब्राह्मणः—विप्रः (ब्रह्म
अपीते वेदं वा) ब्राह्मवर्चसी—ज्ञानप्रकाशित आत्रायताम्—सम्पद् प्रकारेण भवतु ।
राजन्यः—क्षत्रियः, शूरः—पराक्रमी, इषव्यः—इषुप्रयोगवुशकः, अतिव्याधी—अतिकान्तं
धमेरायून् वा विध्यति सः, महारथः—योद्धा, आत्रायताम् । ब्राह्मणो ज्ञानप्रधानः
क्षत्रियश्च कर्मप्रधानः । तयोः सम्पद्योगादेव राष्ट्रस्योन्नतिः, परिवारस्य दम्पत्योरिव ।
वैश्यश्चरयोः सेवकयोः पूर्वद्वयप्रतिष्ठत्वेन च पृथक्चिदंशः । धेनुबोध्यो, अनः—राकटं
बहति सौजन्यवान् बोधा—बहिनश्मनः, सन्निः—अधुः, आशुः—शीघ्रगामी जायता-
मिति सर्वप्रत्ययः । सर्वे वसवोऽपि स्वस्वधर्मिणि वैपुष्यभावाः स्युः । अत एवैष
सर्वाभ्युदयः । योषा—स्त्री, पुरन्निः—परिवारपालनवुशला स्यात् । अस्य यजमानस्य—
देवादा गुणादीनां संकटार्तः सञ्जिघ्रमिषोर्दानशीलस्य च युवा वीरो शिशुः—विजयी,
रथेष्टा—योद्धा, सभेयः—सङ्घटनशीलो जायताम् । नः—अस्माकं राष्ट्रे पर्जन्यः—
मेघः, निकामेनिकामे—आ परितोऽपार्श्वतु । ओषधयः—धोषधयः पत्रपाकान्दः, अनेन
सर्वाम्बानामपि प्रदृश्यम् । फलवत्यः—प्रशस्तफलवुशकः (प्राप्तत्वे भवतु) पश्यन्ताम्—
पत्राः स्युः, देहे क्षेत्रे च । नः—अस्माकं योगः—अत्यपलभ्यो योगः, लब्धराशं
हेमध, कल्पताम् ।

विकलयति कलाकुशलं हसति शुचि पण्डितं विडम्बयति ।

अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः ॥ त्रिविक्रमभट्टः ।

स्वस्यव्यापृतिमग्रमानसतया मत्तो निवृत्ते जने

चञ्चूकोटिविपाटिताररपुटो यास्याम्यहं पञ्चरान् ।

एवं कीरघरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-

त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिप्रामणीः ॥ पण्डितराजभगवाणः ।

“प्रवर्णधौता सा माः ककुमो व्यपगतरजसः कलाजुषः प्रासादाः प्रसादप्रभम्
पादपाः कृष्णोज्ज्वला वस्तीर्कं प्रविशिवः सर्गं ॥ सख्यं विदुरगामिनो लौकिक-
भावस्य मनः प्रसादयन्ति देव । । प्रियविदशार्हर्षविभुतविवेच बहोः कालादियुक्तेन सन्नन्तुमुत्तरा
कगत्या मार्गलापव रचयन्ती, अट्टहेलिं कुर्वती सामन्तन्या सौरीप्रमया रत्नाम्बरपुत्रे
पयौवनोत्सृजिता वप्रमिव विधित्सन्ती सुत्रोमिभिः, स्वयमुल्लासबाधं वादयन्ती सुष-
भुरैः कलकलैरानन्दमेघयमाना, उच्छलत्तणैरवगुण्ठनमपनीय प्रियप्राप्तिमिव प्रेशमानो-
त्तप्रीया मदिरेक्षणा परिणतयौवना नदी मानिनीव रूपगविता दूरेऽक्षिपथाल्लुप्तान्तर्दिता ।
अनन्ताभिष्ये तस्या महर्षेर्व्यं वीक्ष्येव मूढा उन्मत्ता इवासवता द्विधा दूरं प्रेष्यन्ते
इषा ध्यानमग्नेव शान्ता धरित्री च । चलत्तणभगवाः पीतभद्राया ॥ पूर्णमन्त्राया
प्रासटे उत्फुल्लकमलामोदंमलधारिणि हारिणि कृत्रिमेऽवकोटिले सरसि मृदुमृगालिनी-
कलशप्याशादिभिः प्रजोपवननिकुञ्जगोमिनो मन्त्रा मुक्ताः, इदानीं व्यचाः शनैः शनैः पुर्यन्ते ।
महार्हवाससामाकर्षिका विकसितमिता आकृतयः कमलासनस्य कौशलं प्रकाशयन्ति ।
वार्तामन्त्रा भग्नप्रेमान् उदध्रवः परस्परवर्द्धकैकवाहूनि यौवनयधुमधुराणि सेष्यं वीक्ष्य
लानि विभ्रता विलोक्यन्ते, परे चाभिनवप्रेमसीप्रेमपतिता अवैषयन्त्या प्रहृष्टमहृष्टाः
गङ्गासनायातोद्भूतपुदयो वजिरान्धा महामोहान्धाः । केचन पलाशपत्रपुटहेतु
म्लवेरावारोपष्टतान् वटकान् पीतशार्करसान् रसगुल्माध प्रसादविकसिते प्रेयसीमुखे
मशयन्ति, परे च पुटपतं प्रतीक्षमाणा मयोर्माषिवक्त्राः पतनसमकालमेव तान्तिदन्ति ।

।ध नरा अप्यघायिता बहन्ति नारीर्नरौध खसमान् । कीदृशो व्यमोहः । कीदृग्वै-
यम् । यद्दृष्ट्वा मनः खिलते ।

केचन विद्यालयमसमये विमुच्य काव्यरसमनास्तादा वारुणीमका दोतालोत्तं लभ्यं
वन्दं द्यूतप्यासका अन्वयागतपरम्परापाटनपटवो रूपयौवनसमृद्धा अविवेकाधरचित्र-
ननिरता वित्तभूवित्तभूमता मोदोन्मादिनो जपन्तो मद्यनटीनाममालां पुष्पमालां वशसि
यन्त आनासिकं पापपट्टे निमज्जन्तः प्रेङ्गन्ते पितृशिरामहावितथना निकुञ्जवासवित्ता
तत्ताधुताः साधितसाधिता जीवबन्तितामणि काचमूल्यान् विक्रीषाना निद्रागाल्तरपपद्य-
माद्विप्रता वासनायाविनो वितृष्णा युवानः, इत्येकान्तप्रियाः प्रियविद्या भविष्यजीवन-
नवान्तविद्विष्यस्त्रिया सवनीलनोरदृशचिरेऽन्तु कुरितद्वेष्टुं हृष्टरुचये शास्त्राभ्यस्यमानाश्च ।
तश्च कञ्चुक्कोशाकलनपटवः पञ्चकोटरपटुतथमस्तनकरुशिसयो गुरवेऽर्पयन्ति यामावितं
मेशामिव बिम्बचौरविक्रीषितव्यानि शिद्वमानाश्च । इत्यथ पथिमाशाभरणभ्रंशं
।तीक्ष्णमाणाः प्रवयसो धरतवलीका अपि मद्यगारफलिताववूर्णनेन तिरोहितवलोकाधन्व-
न्दितावदन्त्रिया यन्मन्त्रैरेन्दुं जिगीषव इव पलितकलितकेन्द्वोऽपि कृष्णाश्च (खिन्नाश्च)
।गणकेन्द्वश्च्युतकेन्द्वोऽपि कलितकेन्द्वोऽपि व्यपेतविनवा लोलस्रवः कान्ताकारकेशकीर्ण-
।न्वकुसुमा वलमितभ्याले धम्मिल्ले फुल्लसितकुमस्रः परिमल्यन्धवहान्धीकृतकामुक्ता
मेधूतयोषिम्नोरधरयोः कषामयोः कपोल्यो रागम्, काङ्कचोरचञ्चलवरयोः प्रकाशर-
।न्दितशोणयोस्मदाशोः कज्जलस्र सुभ्रा रेखावायोऽज्याधःकृतनवयुवतयः सर्वदोरफुल्ला
।प्ता इव अश्रुप्रभा यौवनबलविरहिता नीरसा अपि स्मररससरविम्बन्याः कमलमुकुल-
।लकोमलौ कुबौ लोकोयूतां परिप्लवेव समुत्पाप्य मनोभङ्गभूतेः पटकृत्येव कञ्चुकिकया
।ल्लिशकर्कशौ प्रत्यापयन्त्योऽविच्छिन्नजालविन्दनिकैर्बर्धन्यः प्रियेव, नारीलोकस्य स्वातन्त्र्यं

प्रियप्रेमोद्रेकरसलितैर्लसितलीलाविलसितैर्मंदमरसाधिलन्यस्तौसर्वविचारपर्वतेष्विव क्व
 प्रायं रसलः स्यादलन्त्यो विषयः प्रवर्तमानः दशमः इत्युद्देश्या अप्यनूतनं प्रव
 कामिन्यः, चक्षुश्चित्तवासोभिरानुरागिणः रत्नचटितैरलङ्कारैश्चालङ्कृतलम्बनः
 योतमानो विद्युत् इव सम्पन्नभरणं वर्यमद्यत्तादवतीर्यान्निधगतवानुपास्तुर्वाभिवार्यामन्न
 घनानन्देन साशङ्कमितस्ततो वीक्ष्य 'एकं घनं द्वितीयं नास्तीति' निश्चित्य दधिनृष्टं कृ
 ष्ठीत्वा शुभपदेव निजिगलित्यथा व्याप्तमुख्यो निःसर्गत्वज्ञेन एकाकिन्यो घनित्यव
 वीक्ष्य गनस्त्रस्यति । इतश्च श्यामवर्णे कुचमादिनः शिथिलः, यान् वीक्ष्य मानसं हृष्यति
 इतश्चोद्यानकोणे प्रारब्धं राजनीतिविफलानां वरक्षर्यविषयनष्टानां कटूनां गजितवधिरित्
 परोक्षतिक्ष्णामात्रेण शिरश्चालितामभ्यस्तादृशदूयानामप्यल्पज्ञानोद्धृतप्रतिभामिमाना
 परबोधदिष्यदक्षिणां पूर्वशास्त्रिज्ञानां लोकप्रियमवाणानां वाचालानां बाग्यालम्, इतदित्या
 नृत्तपत्रप्रतिनिधीनां गुप्तचरणां सङ्केतलेखनम् । अपरस्मिंश्च भवभयविषयतां जि
 शातां दुःसां हृतां लुण्ठितां मानवतां पुनः प्रविचारमिषूणां विगतमासकलेशानां शास्त्राभ्यु
 गमितवयसां लोककल्याणैकमनसां पापापनोदनपट्टीयसां तमश्छन्नं जीवनपथं प्रकृतवर्ता
 दुःकृतवद्विहृतानां गुणागाराणां काव्योद्देश्यां पुराणप्रवीणां नन्दीयवन्दनीयकर्मणां
 प्रसादनधुराणां वीतसारमपि संसारं ससारं सम्पादयतामिदबोधानां सतां विदुषां प्रवचनम् ।
 यत्र द्विधा एषद्विधा विलोक्यन्ते वाच्यमाः । एते भ्रान्ताः समाजेषु सावर्ण्ये
 सगलप्रहणमवहृत्करणे निक्षिप्ता अपि समाजस्य भूतै विशिधिलं परिकरं बन्दुदुष्टानां
 प्रतीयन्त एव विशिष्यचेतसो मुग्धाः । यान् वीक्ष्य चक्षुः क्षिप्यते ।

इतश्चाल्पवयसोऽनृष्टकृतिकूर्चका उत्पुल्लामलकोमलोत्पलमुखा मुग्धरिमताः शिथिल
 उपानत्परिष्करणे दाक्ष्यम्, केचन सुदूषलीनामनृष्टरितानां सुदूषकृष्टानां प्रशंसां तमु
 चोपयन्तो लवणाम्लक्षिप्तानां भृष्टस्निग्धचक्काणां बल्यतामुण्णतचोपदिशन्तः शार्करज्ज्मी
 चूपिका विक्षीणानां उदरमस्तिप्ता वियोयोगं जीवनस्य श्रेष्ठमिश्रमिष्टि मिष्टि विदुषां
 बाधिता भ्रमन्ति, यान् वीक्ष्य मनः क्लाम्यति ।

इतश्च विशम्भरस्य विशम्भरप्रतिष्ठाभिवाह्यमाना वृमुग्धाभक्षिता बलिना कलिना कवलि
 यर्मणः पुण्यभूमेर्भास्तरसासाधारणमहिमानस्तपोधामानो मुनयः ॥ शुद्धाः प्रहृष्टादवद्विष्टा
 नीरजसोऽपि रम्यारघोवूसरिताः प्रहृतिप्रत्ययोपेता अप्यपदाः पुमांसः, अनन्यधुण्यधी

अपि सुहृत्प्रीतधोकाः पतिपरामर्शः पाषाणाकान्ता दूरा इव पीता महिताः, दुःख्यदशोणीश्रविणः
 सुहृत्सामाः शवा इव शिवावयः, आयासवतोत्पादितविबुलश्रेयसम्पदः समस्तमस्तकमण्यु-
 चिता अपि शताब्दीभ्यः समाजानुमतिप्राप्तं शौरैरस्तप्रणतकक्षैररुणाक्षैः परपरितापन-
 कुतुम्भिरुच्छ्रकालकूटकूटिलैराजीवनाभ्यस्तारयस्तलप्रतिष्ठितैः कर्षणीप्रतीमाभ्रभ्रमैः
 सर्वज्यिष्ठोमलुष्टतमतिभिः परिपूर्णमोगामोगपरिमभिर्मौलिभिः सर्वप्राप्तिभिर्वापुं पिष्टै-
 निष्ठयोजनं लुब्धितसर्वस्वाः कृपाकृषिकाशून्येन मीनमन्त्रेण समाजेनानिराहृततपविपदः,
 विजीविपया, उमर्दहान्मृत्पोषुं खाद्यविषाक्षया सर्वतापशमनैकमेवमं प्रयत्नभयमजर्ज-
 मृत्पुण्यनिव नगरं मत्वाऽऽश्रिता लोकपथपाश्र्वानाकुल्यन्तो धर्षयन्तथ प्रयत्नसहस्रेणापि
 मृत्तिमनाप्लवन्तः श्वेदस्यन्दिनः क्षिन्वास्तुन्वा दीनादूनाः प्रतिनिमेषं विषयद्वर्द्धमानदुःखा
 चटरज्वलनग्वालोत्तमाः प्रसारितकम्पितहस्ता एकतानकातरदृष्ट्या बीजमाणाः सञ्चरणामभि-
 व्यपिम्, अतार्या विद्वलतां निष्कपट्ठां भस्त्रिष्य प्रत्यादधाना अगभ्यस्तारचनध्वनैः सौदैव
 निःसरप्राणा अक्षप्राणाः प्रेक्षन्ते ग्रामीणाः, यान् बोध्य भवो ग्राम्यति ।

इतथायैषण्या दारगर्भं विहाय राजपानीमुपेता वैफल्यदिकलाः परिभ्रमणभ्रान्ताः
 कर्मक्षान्ताः कर्तव्ये भ्रान्ता मल्लुलिता मावगत्याः ध्यम्भमापनोदनाय हरितः इलक्षणशीत-
 पिनात्पविशन्तो युवानः, यान् बोध्य मानसं क्षिपति । देव । बुद्ध्योको लोकः ।”

“नियतिः केन नियन्तुं शक्यते देवि । कर्मणां विधिविपाको हीदृशः । बलवान्
 विधिर्यं श्वेच्छयाऽऽबलमूलश्रीकौस्तुभ्यन् भ्रमसर्वगन् प्रपूरयन्, विदुषो विदम्बयन्,
 समुद्रान् विरिषन्, उन्नयन् पातयन् आकुलयन् सुखयन् क्रीडति, नात्र कथन परिवर्तने
 प्रभुः । भावनेन वैद्वान्मोदयस्तदाभ्रः वा वा सर्वाधिकमुदियात् । परं किं क्रियन्वाधमहे
 साम्प्रतिकजोवज्रगतः । नेतादृशेषु विषयेषु तनोचितो विचारः । अस्तु, भवि स्तारथ्य-
 मनुभवति भवती ध्यमणता श्रीदरवेदता इ”

“आम्, आर्यपुत्र । सम्पक् स्तारथ्यमनुभवामि ।”

“वस्ते विचारो नवेन्दुना सम्बन्धात् ?”

“मन्ये भास्ते शयनासनाहारविहारान् क्रीडाक्रीतुकं बन्धुत्वव्यवस्थया माविधानघ
 भवान् व्यधित, तदा कल्प्यैव नासीद् यत् सोऽकल्प्यमहर्षं राज्यं समधिगमिष्यति । किन्तु
 सम्प्रति समधिगतमस्तुल्लाभ्यस्य तस्य यौवनोद्गमस्तदभिनवप्रभं नवं वयः, प्रचुरबलेन

यथासा सहैवासादिता न्यक्कृत्यामरथोः श्रीः, जनसङ्कुलं कुलम्, अवहृदपरपदमो विक्रमः, अगुगजनदुर्लभा लब्धस्याते राशः पुत्रो पत्नी, प्रचुरत्वसुर्वसुन्धरा, लोकोत्तरवमत्कृतिर्मतिः, त्रितपुण्डरीकाक्षवर्गवं जगद्धितानीभवद्भवं यशः—इति महामहिमा महाकर्मा नवेन्दुर्मा स्वभावपरवशो वृत्तमिदमुपहासास्पदं विमृशेच्चेत् ?”

“अये ! बालविहसितवत् सरलः, सुध्विमणितवत् सरसः कान्ताकटाक्ष इव मनोहरो हास्याभिमुखो सर्ववर्चरेणादुःखिः शैशवत एवाभिनशविलासोक्तिवमत्कृताः श्रीमद स्वभावाः ।”

“श्रीमते यथा रोचते तद्विधेयम् । धात्रीनिर्विशेषाणां गृहविहारिणीनां सम्बोधनं मत्र कः परामर्शः । सन्ततिर्नरकारणां प्रायशः पितैव प्रभुः ।”

“अस्तु, प्रयोजनान्तरं वयमुज्जयिनीं यस्यामः । यत्र भगवत्या हरकिङ्कणा भर्तारो भविष्यति जातरस्य भीलसंस्कारश्च ।”

“देव ! केमुज्जयिनी ? अपि देवो गतावास्तत्र ?”

“उज्जयिनी मालवेदेशस्य राजधानी । रम्भोऽष्टौ प्रदेशः स्वस्वप्रदेशः । भक्तौ तत्र प्रचुरं मनोविनोदं सुदृश्यं स्वस्वमधिगमिष्यतीति मामकीनो विधासः । के नाम व किं विवर्तिता तमःरसो जगदलपमात्रिहोर्गोर्भगवतो महाकालस्याधिपामभूमिम्, संयुक्ति-
हन्तमहात्म्याया भगवत्या हरकिङ्कणा विहासकटिहाम्, धातपरेक्षपमप्रेमाङ्गितरादत्तस्य भर्तारो मर्त्यनामस्मिन्मौर्खस्य विद्विष्यन्तवैदुष्यस्य कविप्रवरकानिशेषपाराधन्य-
कतिहयः कीर्तिस्थलीम्, विद्वक्पुत्रविद्वजैवमा धन्यनामधेयाज्जयिनीम् । के वयं
वर्तयन्ता भर्तार्याह्वय ईजदुःखहन्तयोः संवत्सरप्रवर्तयितुर्कीर्तिविक्रमस्य प्रतापमयेव
भगवः । प्रवर्तयन्तिनैव प्रायः स्मरन्तो धन्यान्नास्मिन्तः । यस्मिन्नेव राज्याने प्रदी
शान्ति निगममनिरुक्तमुक्त्या दिग्विजयो वशो गच्छन्ते राजपुत्रोः पदं वरगुर्भनं
निदने स्म, तादृ प्रदत्ता वश्यं वेयं भगवते स्म । तावत् धर्मवीनेध द्रिया गयीत् ।
कुञ्जहरतां शक्तिं राजस्येन्द्रियमयैव विद्वदने स्म । कणायनं जगनेष्टं
कुटेय वकुलान्कावत् । यस्मै प्रवर्तयिष्यन्ता व विद्वदने स्म । प्रद्विषं कुमुद-
राहन्तवैद्वन्ता वयस्यापि क्ता विद्वन्तः सर्वैर्जानीतेनैव सेनैव विद्वदने स्म ।

मुष्टिमात्रमकुण्ठाय क्षुब्धबाहुलेन कुलीनेन आत्रा निरस्त्रनिस्त्रोषदोषा तरुणी भगिनी व्यभि-
चारिणु न विक्रीयते स्म । बुभुक्षया हृतां शिशूनां कण्ठाकन्दनेन मातृणां वधः शिशुभिः
सममेव न विदीर्यते स्म । योजनदीपेषु राजमणेषु धुषासोभितानां शवानां गगनचुम्बिनः
कङ्कालकृटा जेद्वन्ते स्म । अधिचरगर्वितानां यानानि सुतपीडिताधिकतुर्वतो वक्-
गन्धुञ्चाधमर्यान् सुलेषु नृपमाधाय सञ्केतैरेव प्राणभिक्षां भिक्षमाषान् भियमाणान्
सम्मर्त्यं तेषामस्मिन्कङ्काले सञ्चरन्त्यं शिशून् द्वित्रान् शोषितपृथुतांश्च पयि प्रसार्य धुषाङ्गान् प्राणि-
धर्म्यो विकीर्य पवित्रभारतरङ्गेनानिच्छन्तीमपि भगवतीं मेदिनीं मेदस्विनीं विधाय च न
भ्रमन्ति स्म । देवभक्तानां गलपाशप्रोषितपत्न्यो युक्तयो निरकलम्बा नासन् । येन च
विभ्रजिता राजयेन सनादासीत् धरस्वती मही भारतं बर्पन्च "....."

"भार्यपुत्र । विरम्यताम्, गार्हमधिकं धोतुं समर्या । वैदेशिकशास्त्रे परतन्त्राः
पक्षिणोऽपि दुःखिताः, का कथा ज्ञानविज्ञानधम्पक्षानां भानवानाम् ।"

"अहमप्येकदा परममित्रेण नवेन्दुना सार्द्धं तत्र समग्रामैतिहासिकसामग्री
मशक्षम् । सोऽप्यनेन नवेन्दुर्यस्य धर्मपत्नी ऐश्वरी भारे शृङ्खलसम्या पुत्राजं

विमलपुरस्यैवमेष्टो रामात्मः पूर्वात्मरश्मिरेवमृगमदरिमलं नागरात्तोर्ध्वं हस्त
तर्पयथ प्रासादमप्यं सुगन्धस्तले रागा गमंमरश्मिरेवमृगमदरिमलं वृत्तानन्देन ।

*

*

*

पौरो मासः । सौत्यत्रद्वितीयपुराणायामन्दयविश्वः पशोर्ध्वं शुक्लः । द्वितीय
तृतीया । सर्वतः शीतस्य साम्राज्यम् । प्राणिनो जडेन जलेन साकं पापमोहम् ।
शीतभवादिमावपुराणि सहोचितज्वालमाल अत्मीयाज्जनीवप्राणाणि मस्मन्मनीशरीर
सय एवाच्छादयति । पशमानोऽपि सत्वरसत्वरं मन्त्रं विद्वगिरिण्डामु विरिंक्षति
“माऽरमान् सततप्रणयिनो विहाय प्रमायी” इति सकेलः इलं व्याजिहीर्षुं शत्रुनिर्जितं
मत्स्ययन्निव निवारयन्निव सोलमस्ताम्रं बांति । शीतमयमीता विद्रुता दिशोऽपि ह्रीमूः ।
आकाशमपि शीतसितशरीरमिव शून्यतां विमलति । किमपि कर्म कर्तुं नोत्सहते मानसम् ।
इयदपि प्रावरणपृथग्भूतमज्ञं विनश्यदिव प्रतिमति ।

अथ लोहपट्टीप्रतिनिधौ चलचर्चौ चयलचूडे ताम्रचूडे तारमपुरं शब्दयन्ने
सरोजिनीशरीरसंहरणस्फुटागसि हेमन्ते तपस्वस्तैर्बन्धितकोषः ॥ प्रतीयमन्ने पञ्च
साधनासमये हेमन्तेन भक्षितपत्रपुष्पफलेष्विव काण्डशेषेषु प्यमृक्ष्यकम्पनप्रेरितेषु परतः
शाखासङ्घर्षणेन खटखटशब्दैर्दन्तानिव पट्टयत्सु वृक्षेषुविशालपद्मरन्तो योगिन ईश-
साक्षात्कारमिव दिनेश्वरसाक्षात्कारं प्रतीक्षन्ते पक्षिणः ।

गोआदिकं भूतानम्, सुत्रीगुहामस्मन्मयमुक्तः आ तद्वित्तोऽपि नोऽगमति । वराहः
स्वाज्ञानि स्वस्मिन्निहोतुमिच्छन्तः कच्छपवत् सङ्कुचन्ति । अथ कमलकोडका
न्मुक्तैः सुमनःसीरमभ्रान्तैर्मृगैर्गीयमान्गुणो मृणालिनीविलासोद्भासवाही विरहरिणः
कोडवधकन्धुरावन्नुदिष्मण्डलीमणिसुकुटमण्डनहीर उत्कृष्टशशिनीप्रतिविम्बेनेव शीतले
दितः शीतात्तानां निर्धूमो मारवशमीकाशज्वाल इवमितस्रभिरायसोमिः कशाभिरि-
रणाभिः सत्वरमित्वरीमिमंसीविमिर्दिदीर्णदिग्धान्तौघः, उदयधराधरमूर्धमधिन-
नन्दनाकाङ्क्षः फलानपेशः सेवज्वती शीतलेशितो भीतधिरं सुत इतीयायामिनं
शीतात्तां विपन्नपक्षिकां पतिव्रतां सुखमुच्चयमानामभ्रमिरिव सुदिनश्रेः किं
भ्रमृजायामिव दैमनी यामिनो नियम्य विश्वं प्रेरयितुं प्राविशत्सेवाज्ञम् । सर्वस्य र
किरणावली प्रसृता, सुखावहेन सौरातपेन स्नाता श्यामा सर्वसद्वाऽऽवकाशिता च,

शीतस्य स्वकीयेऽस्मिन् समये गगनाटवीपद्यान्तेन न किमपि कर्तुं शोके । दिनमशेषं
शीतेन परिक्रम्यमानशीतं सत्वरमेवान्तमप । सतज्जो दिनपतिरप्यस्तगिरिह्रां विविधुराम्ब-
रतलादवालम्बत ।

विमलपुरराजभवनेऽद्याकन्दलहरी प्रगृह्यता । व्यग्रः पुरस्त्रीवर्गः सत्वरसत्वरं व्रजन्
कार्पस्य महत्त्वं ज्ञापयति । राजचिह्निसात्यस्य विदुषो वैद्या परिचारिकां बोधयति । विमल-
स्तूलाशिरस्त्रशस्त्रयन्त्राणि च पूज्यते । उष्याद्यतेऽन्तर्हसन्तीभिर्भवनम् । गीतं
गायन्तीभिर्गायिकाभिर्वेद्यादिभिर्विषय भूपतिभवनं भूप्यते । यथा रामपाल उत्क
उपविशन् प्रतिक्षणं मितिपटीं मणिबन्धपटीञ्च पश्यंस्तयोः समवसाम्यं वीक्ष्यापि मन्दगतित्वं
सुहृदुं दुराशङ्कते । अन्तःपुरादत्यथ्यन्त्या दारुणा मुखात् किमपि श्रुश्रुतुः समुत्तिष्ठति ।

“देव ! देशस्य गृहं भगवती स्वयं सनाययान्नकार” आगत्य प्रणम्य कञ्चुकिनोचे ।

जन्मत एव सरला मुग्धा कमला केरपि दृष्टी न दृष्टा । कदापि विषादलेखया
माघ्या मुलकमले स्थानमकारि । बालमुलभमन्त्रिमिपर्शनं स्वच्छन्दो हासः स्वामाविही
प्रतिभा उच्यतामृतमधुरा मुखाः बहू बालकाकली च सर्वेषां मनास्वाकर्षयति स्म । सर्वे एव तां
स्नातृष्यामचोकमन्तः । सर्वेपि भात्रीसहस्रं महिषी तां स्वयं लालयति स्म । नरपतिस्तः-
मुत्कर्षे कृत्वा नितरां प्रासीदत् । दिहायनी कमला भित्तिर्षणेषु त्र्यङ्गान्तमूर्तिरपर-
बालालापेच्छया मृश समयमाला तर्जनीसाहाय्येन तां विहायापि च शङ्कितन्यस्तपादं
प्रचलन्तीतस्ततः प्रेम्णैव सममेव पतिता सत्वरमेवोदतिष्ठत् ।

*

*

*

“देव ! एतु दिनेषु बह्वोऽनुरक्ता भक्ता हरिचिन्दिप्रसादभोजयिनी समायाताः ।
भोमतो मित्रं रायनगत्मेकाण्डमङ्गापि ।”

“अपि सत्यम्, मम मित्रं नवेन्दुः । मामकीनं सन्देशमादाय सपदि गच्छ ।”

“यथाज्ञाप्यते देवेव ।”

*

*

*

“एतेहि, अनुकम्पय, मृतोऽस्मि मृतानां मानभाजनम्, यस्यावाप्तं भवतुदशाशरण-
रौभिः पावयन्ति, कच्चिन् प्रीयता देवी !” श्रुत्वा रजनीं दृष्टीत्वा शनैः शनैः यत्नं
सुरर्णद्वर्षां बालिकां प्रेम्णोत्सह नयता नवेन्दुनोचे ।

“सर्वं कुशलम् । कथं न स्यात् कुशलं यस्य मवाहृष्टः पवित्रकीर्तयो रवसं
नाम्नैवामत्रलक्ष्मा मज्जलं कामयन्ते । प्रातरेव पूजिता प्रसादमुमुखो परमेश्वरी कर्तुं
देवदेवो महाकालश्च । यः प्रातरेव यन्तव्यमिति देवदर्शनमुत्तमनुभवितुं प्रेरितोऽस्मि
श्रीमन्तं यतो ज्ञातवानस्मि, तत एव विलम्बमसहमानोऽधीस्तामनुभवामि ।”

“प्रत्यक्षतितृप्तं मनः शैशवचरितं पुरोमवदिवानुभावयति रामपाल ! मोक्षहेतुं
थोतुं प्रयापवार्तामपि । किन्तु चित्रपटचञ्चला राज्यधियः कामिन्य इव मूर्खिणी
कालक्षेपं सोढुं समर्थाः । मगवान्निव ईरुः सुदिनमन्यकाऽप्युपहरताद् यत्र नो-
मेलनं सम्भवेत् ।”

“अह्निशं प्रेक्षणीयं राज्यम् । स्वभाववर्जितो जनपदः, दुर्दमनीयदानवनिहरः
लुप्टाकनिहरः, भावदूता विविपकरैः पीडिताः प्रजाः, सर्वेषामेव समये सम्मालनम् ।”

“देव, सज्जमुष्णपेयम्” प्रणम्य न्यवेदि सेवकेन ।

“एहि मित्र, तत्रैव वार्तामुत्तमनुभवित्वाः ।”

अथ स्यारतेन विचलिते लोके तमोमग्ने च गगने दिग्गजनावदनचन्द्रमिन्दुरिव मयूख-
सोदूपोतिउरमारेशः स्मरप्रदीपचक्रुरः कुमुदमुल्लङ्घ्यविह्वली यामिनीधीमापठितुं
तमः कवलमन, दुग्धतण्डूलीतविधुः शनैरुदभूष्णार्धयर्धयचन्द्रालोकः । प्रियकरैरनुष्ण-
तमः कन्वुर्दी सलीलमगदाय प्रतिरोमभिर्यदनन्दादृहासा विरहिचरीव निशा प्रियेऽन्तर्-
बर्षोद्भूतहासमिषेण जगद्विखलं हंसाप्रतिगितीकरिष्यन्ती नयनमावसामन्त्रनन्दरवि-
विमलमृगास्तत्रभ्यस्तनिष्कामनिध्रेणिवस्तपिनी दन्तप्रभामिव पयोदरतां सर्वनी दिशं
प्रासारयन् । कर्ूरपक्षतद्वृत्त्युत्तिपीतं विश्वं जहास ।

रमेन्द्रविन्तमग्निरिव बभौ विमावरी चन्द्रीदयेन । पीदूस्तरंय चन्द्रालोकः ॥ वर्ण-
प्रसारणचन्द्रालोकः । प्रहृष्टावधौव बभौ विश्वं भगवत्या ।

एतस्मिन् वरुण्डे सप्तदशोत्तरे कच्छगण्डे केसवृष्णमदगन्धिपुष्पे पदसि त्रिहो ध्योतय-
त्येवन्दं सूर्यवर्णमवहन्त्यु, इत्यथ कीदृशेर्नकारिबदयोचन्द्रकमलशोरवदमालम्बनी-

“देवी ! शैलवन इव प्रणयनेनपी समानमवभवमवधुनी च दुःखम् । मन्त्र-
चरतन्त्रिर्दुर्गुणं वद् प्रेयासं वा सन्तपोरप्यनुष्णः स्वप्नदृष्टरिनेषया सुप्त प्र-
भुः सर्वेषां मन्त्रजि । कृत्स्नश्च स्वप्नं भवतीः सम्प्रेतः ।”

नवेन्दुः—ॐ आसयः धीमतः ।

प्रतिपदः—(श्रीमानिरतौ बाली निदिश्यन्) देवी, युगत्मेतदाजीवनमविद्युत-
मभवेत् ।

नवेन्दुः—एतन्नि श्वश्रुः सिन्धुः, अपरश्वश्रुदशम्यमेवार्थं पन्थमे वयं पदन्वकार। परन्तु
ममित्रं सम्बन्धितं विधाय प्रकीर्तयामितयाम्। रायवः, श्वश्रुवारिमन्त्रवृत्ते हर्षवसरे
भौ स्ताह्म उपवेष्टव्य वयः पावयामि।

■

✱

•

गच्छन्निविराः कालः । सर्वतस्तस्मै नवाधिशब्दवस्तुनैरप्रचक्षरे प्रयुतः । प्राकृतिकं
 त्वं परिचितम् । नवा रीतयल्लजिताः । इतो रामकलेत्रेणधीतांशुविराजितविः
 पुत्रेति प्रणयः । पुनरेकदोहद्वन्द्वरी समैषितः । पुनः शतपञ्चस्यमल्यमासुराद्याम् ।
 पुनरिदमिन्धो मुरायेमामुर्लब्धपुत्रमाश्रितैः समभिरम् । नगरकल्पना पुनरमर-
 रूपाव्यरोह । पुनर्वाद्यनिर्विद्यमभिरम् । पुनर्नीरव मित्राभ्यमोदयत् । पान्दु इत्य ।
 इत्यैकान्तः पुनः समिहितम् । प्रजापतैः प्रजापतिरिति प्रत्ये प्रप्रेति ।
 गच्छतुः शङ्करीऽप्यनन्तव्यापारो हिते । शङ्करकालेऽपि कल्पने । भूविभाषको
 मातृभ्यमर्पेति, यीशुसिद्धिर्न च धीर्यने । कदायेतेरेभूत् । प्रतपरीदारीदित्य
 कदाप्यमर्पेति शब्दं शम्भुन हारदधु शम्भुन कर्मिनिर्नयना शब्दं हारदधुर्न विद्वन्ती
 कर्मन्तम्, शब्दं नवाशरी तितुं कर्मन्ती कर्मावस्थकम् नृवं कर्मन्तम् शम्भुन हारदधुर्न
 विद्वत् कर्मन्तम् कर्मन्तम् कर्मन्तम् । श्रीकर्मन्ती विनेदकदिक् कर्मन्तम् कर्मन्तम् ।
 शम्भुन कर्मन्तम् कर्मन्तम् ।

इत्यु । इतिहासः कालभेदः । विदुषाणामपि व्यवहारः । अत्रिहोमस्य च २५६७७ ।

10

•

•

[illegible]

शब्दसाकृत्तयो रामर्षीमध्महोदधेरारामाय दर्शितः कथं इव आचरन्ते । सन्ना नरत्पर
 पुण्याः प्रतानिन्यः प्रचण्डादीस्तान् प्रहयः प्रतापय कथयन्ति । कचनान्द्रुर्जित
 क्रीडाः केद्वारं कुर्वन्ति, कचन च केचिन् सत्यश्रोतस्तरेकां केचम् । कचन दुष्कृतं
 कचन कोचिलकाकृतो, कचन सारसस्त्रिम्बु, कचन हृषनिहारीतम्, कचन टल्ल
 कायमेमहानां वस्त्रातम्, कचन पुणवत्तोषमानच्छत्रादनिजयेषु पाशकतुङ्गाः इव
 गुञ्जन्मधुतुङ्गधुदितमधुकाभिरुद्धाः, कचन खेलच्छत्रुङ्गाः । अन्दिच्छत्रुदेरस्य
 जलजलजलजलजल विमलतला नयगाधजला मुदीषां दीपिका वनप्रतिरूपः
 पार्श्वपादपरूर हरितयन्त्याद्यप्येति मनांसि । निद्यासु तारागणप्रतिमूर्त्यां चनितरङ्ग-
 आन्ति यस्या चोरं कामिनीशिरःपरिमलरिमलितं सौरमणौन्दर्पसरस्वार इव दृश्य
 इव रजतद्रव इव प्रतीयते । नागवत्कोदलयनुरागासु वेदिकासु पुष्पयैदरात्मिक
 काव्यभुवीव शोभमानायासुपवनमुवि क्रमानुसरिष्पविटपन्यासैर्विद्यसति कीदृशुपमैः
 पादकन्दुकराणि कन्दुककीटनाय रम्यदूर्यः प्रदेयध ।

फलास्वादलोलुस विदेशीया अपि क्लविहारिणः पशुपुटपूतपादपप्रान्ता पक्षिषो व
 प्रचुरं प्रेक्ष्यन्ते, हारिणो हरिणाः, विविधदेशासादिता मिलेशयाः, कौशलेन सम्मरिगि
 विभ्राणि च । मध्ये च नवनीतमसुगन्धवलयशिलं गवाक्षसौख्यगति स्रस्रजनिव वनं
 मागं योजोचितसम्भारसम्भृतं विद्यालं बहुशालं हर्मम्, यत्र धवलोज्ज्वलपादाणस्तम्भेषूक्तो
 बल्लर्यः शिलिनी निष्पाततां निधाययन्ति । कौशेयनीतास्तरणास्तृतमिव गन्धर्व-
 समानपूर्वं सखीजनैः प्रणयप्रक्षिप्तपुत्रकुसुमं तारक्षितं विरदिव क्षेत्रम् ।

समस्तसख्यलोककुशलया गानविद्यावित्तया साहित्यार्थशास्त्रनिष्णातया वाचान्निता
 शिष्यमाणा धनुषा मुशुण्डिका लक्ष्यवेधने, करवालफलकमर्यादासु, जलतरणगमार्थो
 धावने मरुत्तरवायुयानादिपरिचालने कुशला कमलाज्जैव निवसति । सिद्धसौन्दर्यो
 कस्तूरिकछत्रकुमाधितरङ्गोद्भासरलद्रष्टा कदाचन कनकवल्गुमादाय पराशुरम्भ
 कृतीष्टवसतिमिवोपसमपरोष्ठेन प्रत्याययन्ती सुधोर्मिनिर्वासमधुरमुत्तमसौधोत्तमस्रि स्रष्ट
 प्रासारयदानन्दजलदा आच्छादयन्ति स्म सुधासमीरणल्लुप्ततरुवोर्ध्वं व्यष्टम ।

वरारोहाया निवान्तं नवीनं वयः, निपनेन्दुसमयति मुखे शौचवामा, सुरमास्यते
 कपोलोऽपुवमिव प्रकटयति लोचनलोमनीयां छटाम्, तिरस्कुशविकसितोत्पलविलसे निरुष-

माने चतुरी अन्त्युपं हृदयवेद्यमानन्दं प्रति सस्पृहे, कुत्रापि कस्यापि सुकृतिनः
समाकिलिङ्गिष्वेव प्रत्यहमेवमानमद्दोःसादौ, कलीमासि मय्यं कस्यापि सुभगस्य सोपानं
बुभूवदिव, कस्यैकटाकटाफलाप्लावितसर्वलं, निरन्तरमाननितं मनोऽपि कस्यापि
यनस आधारेषुबुभूवदिव भुज्यते कस्यापि मलयद्वयसाद्वेष्टामे ॥ नञ्ते, तवापि
नाधुना मारप्रवृत्तिरज्ञातप्रवृत्तत्वात् एतस्याः । सात्त्विकीमेवावस्थां भजते यतः सा ।

*

*

*

अथ प्रौढमनोरमेव कुचमर्नेन संकुचितशरीराऽभवद् यामिनी । विप्राश्च
शब्दरत्नैर्मैरवीलं जह्नुर्दिभावशाः । भ्रमणवोक्षिताचर्यचर्माभिश्च कलरवं कुर्वति पक्षि-
समूहे दिनेशगमनतः प्रलेश, जन्मकारसङ्कलमञ्जिहीर्षति क्षोणितकिरणेऽहणे,
उद्वानवेकामिव विज्ञापयति धाराप्रवाहमावाचेः सोतशोभे प्रावत्परस्पृष्ट इव विमल-
विमले, कुसुममोदमादायेव धीरे सरति समोरे, उन्मुखपुराणविनीचूडामणिप्रभपरि-
भूतशिवलीममानेषु नक्षत्रेषु, माध्मानग्वकारेण सहैव संदरेत्सर्वं इति भयेनेव
कमलकोटिमुखासुखेषु धनरेषूक्षितोऽभिषेकोत्सस्त्वकस्तुमुलस्तूर्यतोभवाद् ।

अथकतिहरविशोषवपरिपूर्तं, परिमलपायःपरिपिक्तं सुभिषुग्रहीतमजसेजलस्रै
वेदरहृकेकैर्मरे कृतप्रमग संवर्णं स्थिरयति पश्यताम्बेतः । सुवासासंक्षिप्तमिसीनि
पताकापवनपूयमानप्रान्तानि धावन्ते निशान्तानि ।

राजनगरमयवरुतो राजनगरम् । कुमारधन्द्रोऽयं युवराजरेऽभिषेक्ष्यते । यस्मा-
ददातुमगतान् कोऽप्रियताञ्च गायन्त्यो मङ्गलं कामयन्ते कामिन्यः, वरवीर्य-
कादांश्च विवर्णयन्तो वरान् प्रकुञ्चन्ति विप्रवरेण्यः ।

राजभवनःशाय महेन्द्रमध्वमपि परिभ्रमयति । सम्मुखे चास्य द्वाप्रिशस्तलम्बेषु
निविधरागपटश्चलरचितं चितामञ्च मुहुर्महुस्त्यक्तित्तिनेत्रम् । अभिवितानं दोदुश्यमाज
मालाः सुयमावती प्रतानिनी ॥ सौरं तपं तर्जयन्तीकास्ते । पश्चितीराजमवनञ्च
शास्त्रपञ्चकश्चितशरीरा बलिनः समर्धाईस्थिताः ।

वितानस्थमायवत्सरे रजजटितस्वर्णस्तम्भचतुष्टयविभाषि, स्वर्णसूत्रस्यूतशित्पिनैपुण्यं
वितानं, महादंष्ट्रपरिप्लुतककौशेयतूलिन्नतुलं, गजदन्तचतुष्परणं हरणमापदां, पदं
राज्यलक्ष्म्या, राजते राजसिंहासनम् ।

सिंहासनस्थैः चित्रितशकुनिवृत्तेषु और्णोवास्तरणेषु, परिमल्लैलादुसारि चरती
चर्चितानां, मौलिमुकुटैश्चक्षुषि चर्चितदत्तां गुण्यगमाधिगतगौरवाणां राजकुमाराणामेष्ट्यं
ष्णीपलट्टकशिरसां शोभन्ते शितवाससां देशरत्नानामासन्धः ।

अद्युमारथन्दो युवराजपदेऽभिषेक्ष्यते, किरंजीवतात् प्रजाप्रणयी युवावय
इत्येव ध्रुयते सर्वतथर्चा । द्वाभ्यमुपगतो मध्यमुत्तमार्गां सशस्त्रसैनिकवर्गविद्वान्
समपादं स्थितास्ते ।

भास्वता राजतेजानादृतेन भरतरेण प्रणतप्रणामाङ्गलीन् प्रतियन्त मन्त्रि
चन्द्रेण च युक्तः समामवनं प्रविश्य गृहीतसैनिकप्रणामोऽस्त्यङ्कारं सिंहासनं नवेन्दुपालवर्गः ।

एव विप्लवसेनध्वजपाणि विहितसत्याग्रहो माधवजगद्धवो विहसन्, शङ्कर इ
विभूतिव्यासवपुः, वामन इव कृतवलिग्रहणः, हिरण्याक्ष इव पूतकमुत्तरी, मेरुर्ध्वी
सूक्ष्मिष आतार्धगुप्तिः, व्यासिष्ठश्चमिव प्रभूतनिवेशभासमालः, सङ्कटसङ्कटद्वरा
सञ्जितानेकशासनः, साधेन्दुशेखर इव सिद्धान्तम्याख्याता, रत्नमुद्रालङ्कृतः, अश्वत्थि
देवतमुष्मेन, हाटकतन्मुखतुल्यकेन कौशेयाधारीनेनाच्छजतनुः, शत्रुदन्तमुष्मा
हेमकोशेन कौक्षेयकेन विलसितमण्यो गम्भीरावृत्तिः इती रात्र रात्रनगरादूनि
मर्मिनोर्ग्रामप्रभागी नवेन्दुपालः ।

वामतथः प्रभवः प्रकृतगुणमां परामवमवनं पाशानां, अपस्तुष्टो वुष्टैः, सुष्ठुता लिटै
रनुकृता पूर्वजन्, अवधिर्विद्यामोक्षे, निरवारको लोचदुरात्मापणी, निरधिर्विद्यो
निश्चये, दुःखद्वारे वास्तेजस्विनी, दुर्धियमगाम्भीरी, विस्वीयमान इव लोचद्वये, शत्रु
वीराण्य, निष्ठावो निदोऽप्यस्य, अधिग अण्डतानां, अतिपानं वाचलतां, की
मुष्टकेणः कटावतां, सुदृष्टान्तिमात्रस्य, उरयानं मनश्चितां, अमिमात्रको वल
प्रतिलम्बकः, परिभूतभूर्गवी, हास्यः द्विः प्रजनां, सुदुष्टानो वर्षति
घानरोऽप्यहनिः, वरजन् इव कम्पी गृहीहृत्कचनिगलात्र, गुणदामपुतः शिवर्ष
कृष्टदोषैः, कर्षितं संमग्नसंज्ञः, स्मिद्धं सर्वार्थनिपुणः, विस्वातो दुर्गाद्वयः, द्वा
कमरो, निरुजिष मिरीचं सर्वोऽप्युत्तमं वपुःपद्मसुगन्धः, वमस्तद्वयः स्ववर्णः
प्रवर्तित प्रवर्तित, समस्तैर्विव देवर्षिजन्यं वरजन्वनं, परमोऽप्युत्तमं

वर्जितप्रथीः, होरकसन्धितेन स्वर्णसङ्ख्या हेमकोशेन चन्द्रहासेन पूज्यमानवामपार्वः,
प्रातरुपान्तुरचितमहाहर्मदोष्णीफः, षट्वासवासितवासोवद्विप्रहो, हिमशुभ्रपौतवसनः
रेमतेपन्निःसृतदशनः, आसकदशनवसनः, कन्यालकेलिवर्धितवृत्तवीरवरो राजकुमारः
सर्पासिन्ध्या समलभत स्थानं धन्यजननीकथनः ।

यश्च राशुणवतिशारितपारदसेवनहीणक्षयः साक्षाच्छास्त्रं हृवात्प्रति ।

किमितीड्यधिकं रम्यं मारवपुरमेवस्मर इतिविचार्य कृष्णीवृत्तमिषकचक्रार्थं धमरैः,
मुग्धनिधतमिषवपुर्वसन्तेन सुहृमारीवृत्तमिष मुमनोभिः प्रकटितमिषत्वधर्मं मिश्रितमिष
मारमिप्रे ।

दक्षिणतश्च काशनीकाशकेशाक्षिपद्मा, अन्वीक्षित आन्वीक्षिका, अद्वितीयकव्या,
हीणहोदगनीती, वितोवार्तास्तु, विषक्षितामपथिमः, निहससिष एकाक्षं कमनीयाक्षः, रेजे
रजतमव्यां छुमासन्धा मन्त्रिकरीडशेषविद्याधरोविद्याधरः ।

अथ राज्यायां रामज्यायां समेतेषु मालनीयेषु नागरिकेषु, सौन्दर्येषु लोकहित-
प्रतिषु, सधारपानं रिपतेषु च, प्रपन्नप्रिष्टधूकपूजितायां संस्रद्धमौ सफलं मानकश्लि-
मण्डलमभ्युत्थः च कमशो दीवारिकदत्तपरिचयः प्रणयाम ।

अथ समयमानोनरपतिः योदूररक्षितयेव मधुरया, अगाधहृदयान्तबंसत्येव गभीरया
बाबा वक्तुमारभत ।

भर्तृया महर्षयः, धियाः प्रजापते,

महामहिम्नो विभवातिनुः परमनुकम्पया राज्यवृत्ततो मे चत्वारिंशद् वर्षाणि
ध्वतीतामि । यत्प्रमूलार्द्धं प्राप्तवीकनोऽस्मि प्रजायां सर्वविधानि कथान्यपनेतुं
तत्परोऽस्मि । दुष्कालप्रहामार्मादिषु दुष्टकविनाशकं चणदनुप्रहृष्टं परमेष्ठानं प्रति
सर्वदेवलोऽस्मि प्रसन्नं प्रार्थयमानो भक्ता योमयेषाम् ।

ममि राज्ये य ॥ प्रणवा मज्जिमेधत्वागो द्रव्यशुलं मेव भवन्तिः प्रदर्शितं
तेन रामेयो रक्षां इति अतुलो हर्षवर्षः सम्भवति । यद्य बहोः कच्छत् राक्ष-
प्रमनोः प्रचक्षित आनीत् पिशुनवसम्बन्धः, गवीजद्वारा महामज्जि वक्तुं,
राक्षसेनि यत्सोऽप्याप्स्यमनो यानिषसरोजे शाक्ने सम्यं सुखदमूकः सम्बन्धः ।

भवतां मुये दुःखं च रुद्रेषु राक्षसीनवच्छासम् । ददा ददा भगवदनुकम्पया

ममनन्दमधराः प्रप्ता दुःखावधराय मयः जगतः स्वाभिविद्योर्म्यं सदि मर्वन्
मे साहाय्यं कृतमास्ते ।

भगवतेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डसामिने प्रथामोपायनमुत्तरामि येन राज्यनिर्माणं
सदसद्विवेचनचेतना धरापुरापरगणहं वपुरापूर्वार्धनिर्णीयप्रकण उत्साहो प्रस
लोकयितुं सत् स्वास्थ्यञ्च मे प्रदत्तम् ।

राजलस्य राज्यस्य सेवायै सर्वविधनवीनगन्धनप्रम्यज्ञा कलस्यत्वानुवेना ह्यनु
घातनेऽसाम्यमासादयति ।

अहं सर्वदैव प्रजाधिकारसुरक्षायै तासामावश्यकतापूर्वैर्बोद्धुमनोऽस्मि । एत
विधिसभासदस्या जनतया निर्वाचिता राज्यस्यल्लोचितं राष्ट्रोन्नतिकरणं विधिर्वै
विश्वानुकरणीया व्यवस्था व्यवस्थापयन्ति । प्रतिप्रभं प्रार्थनैर्प्रथिता प्रामन्य
परस्परिकं विवादाभियोगं शमयन्तो वैश्येभ्यः भस्मयन्तो प्रमोक्षति कुर्वन्ति ।

लघुत्वपि ग्रामेष्वेका खलीयसी रम्या पाठशाला, आरोग्यशाला, व्यक्त
प्रौढशिक्षणशाला, पत्रालयो, वाचनालयः, सर्वसेवककोशस्थलं, वाटिका, सर्व प्र
व्यातुर्येण रचिता राजमार्गाः, कुल्याः, प्रभूतधान्यानि क्षेत्राणि, च वीक्ष्य हसन्
परमानन्दस्यावधि समेति । आभ्यन्तरव्यवस्थायै न राज्ये रक्षकसेवकानामवश्यकता
चौरजारादौचित्याचारचर्चैव न धूयते, न कथवागृहप्रमाणोऽपि वराकः क्ति
जिपृथति । तस्य हृदि स्वयमुपाजितवस्तुन एव उपभोगेच्छवर्तते । ॥ राष्ट्रेऽप्युपे
न वाराजना, न मद्यालयो, न यूतालयः, न धूर्तो, न वदवको, नाननुशासनो, न निर्दो
॥ कुचेलः ।

नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि यदाज्यमिदं वीष्माकैरास्माकैश्च पूर्वजैर्महता धमेणैकै
परां कोटिं नीतम् । अनया पैतृकसम्पत्त्याऽस्माकं सत्यो गर्वः । परन्तु
न विस्मरणीयं यदेया स्थितिरस्माभिर्महता धमेणानीता । अत्रैव प्रतिशतनेकेन
शिक्षितो नहि साम्प्रत आसीत् । अत्रैव शिक्षिता गृह्युः प्रतिशतमशीतिवर्षं
दुराचारव्यभिचारव्यापिना नरा प्रस्ता आसन् । क्षयः सामान्यप्रतिशत
सर्वत्र प्रयुत आसीत् । दुर्भिज्ञेण प्रजाः प्रतिवर्षमेकस्यानादपरस्थानं
आसन् । सर्वदैव चौरचारणां भयं सर्वान् बाधते स्म । परन्त्वपुना सर्वे

ध्यावशोः संवृताः । सर्वमेतद् राज्यस्य मन्त्राणां धर्मस्य प्रत्यक्षं पदम् ।
भवन्तो राज्यस्य धर्मवादास्पदम् । परन्त्वधुनास्माकं केवलमिदमेव कृत्यं
राशि यदिदं वर्तमानमेव रूपं विमृशतः, किन्तु लोकोत्तरसमुद्यतेः शिखरमारुह्य
निरातङ्गं तानन्दं निरसन्त्यः प्रजा बाह्यविक्रमानन्दसुरमुपग्रीवजिति ।

सोऽहमधुना हृष्टो भूतः । शार्दूलवभावाग्नवनेषु कार्येषु नोत्सहते चेत्तः ।
प्रभविपूषपि वपुरवश्यकर्तव्येषु शैथिल्यं भवते । न मतिर्मननीयमपि मनुते
मतम् । करणजातं कार्यं करणधान्तमिव मन्ये । कुमारधन्ः सुचिश्चितः सुविनी-
तो दुःख क्षमोऽधुना पुरमिमां बोद्धुमतो योज्योऽयमस्मिन् कर्मणि—इति विश्वपयितुमेव
भवन्तः सादरमात्मनिताः ।

पदप्रदानात् पूर्वं कुमारप्रापि शिक्षाप्यमस्ति—यन्मा नाम राज्यधीमदमस्तः प्रजाया
योग्येन विस्मायीः । महाप्रभावो लक्ष्मीमदो मधुमयवमपिमोहयति । लसन्मणि-
हीरकं गुह्यं कन्दकाकीर्णं जालीहि । कौरोवर्तिकं स्वर्णसिंहासनं दाता—
वाक्छाकलितं कल्पः । छत्रं सशरीरं मिताममिवात्मा विद्धि । चामरसुगमं
शीर्षकं क्षत्रावनमाध्वर्यं बुध्यसज्जाना मन्यस्व । नहि विप्रसत्तया राजानी राज्यस्य
प्राज्यसुरकारं कर्तुं क्षमाः । प्रजायां स्वातन्त्र्यजीवनं स्थापयितुं सर्वैः सज्जनी भवेः ।
रज्ज्वरदमेन सततं करवातकरी भूवः । विदुषां संहृतावज्ज्वलात्सर्प मा गाः ।

प्रियाः प्रजाः ।

यदा स्वामिमत्स्याभवाद्भिर्भाति पूर्वो राज्ञां शासनं, विप्रसिद्धि साऽस्माकं नवीन-
महाराजं प्रति अधिकाधिकं समेधियते । द्विबर्कं स्वमिव राज्यमदः समुन्नतोरत्युच्चं
शितलमधिरौडित्यस्तु मे तुमादीर्घाः ।

अथ महाराजसिंहासने सज्जने सुवराजसंस्कारे, महाराजेन सहस्रेण पृते
राजमण्डले, प्रसूते सद्यो वै कौरोके, निजवरेभ्यो तुमानावनं मशरस्तु चामरस्यत्कारेण
नवीने राज्ञे पदमादधन्त्या राजधिति, विजयतां वेदशाखी, विजयतां भारतीया संवृतिः,
विजयतां राजनगरं, विजयतां कदो सुवराज—इति जानदोषद्वैर्वाङ्मुनिरे, लोम-
रावणानेः कलिते, लक्ष्मीवर्तनं निमवीकन्तरीये, राजदत्तोदरैरुदरैरपराय
रोरघ्नीकन्तिवन्तः इमौ रत्नाग्रमुदीव मशयवायां राजमण्डलम्, नव-

पुरराजनिभाभूर्धामुराधन्द्रो जनसंगृहस्य अतल्कादनेन सद् समुत्थाय स्मितेन क
यन्नन्तःशमममाप्तः—

पूज्यशरणाः महर्षयो, मान्या राज्ञयः सहयोगिनः सम्पाद ।

योऽयं कार्यभारः धीमद्भिरस्मत्सङ्घपारोभिः धीमता सहयोगादनेऽयं
समर्थो भविष्यामीत्याशासे । अस्तु न राज्ञर्द न वित्तसंग्रहः, अपि तु प्रधानसेवकचर
प्रधानप्रहस्वमेव धोष्यति । उपहासप्रज्ञादिना यं सम्मानं धीमन्तो मदि प्रहृष्टव
॥ नमम, अपि तु राष्ट्रसेवकस्य—राष्ट्रस्य जागरूकप्रहृष्टः सम्मानः । दाहनेन
सख्यो योग्य उपभोक्ता । अत एतां सामग्रीं वात्सल्यप्रदरिपद उपहरामि, वत्स
भाविनो भारवाहा राष्ट्रस्य ।

मान्याः,

बहुविधतेऽस्मात्करणीयम् । अद्ययन्त्रयुगे विज्ञानस्य महत्त्वावश्यकतावर्त्तते ।
वयमधुनापर्यन्तमत्यन्तावश्यकपदार्थोत्पादनाय संलग्ना आरभ्य, परमय तेन मयेन सर्वं
सुखाः स्मः । परन्तु कदापि परेषां दयापात्राणि यथा न भवेमतथाऽस्माभिर्वर्जितव्य-
मस्ति । अद्यसायंकालिकसभायामस्मिन् निषेधे विचारयिष्यामः ।

*

*

*

“देव व्यस्येति भोजनवेला । आगन्तुका मान्या अतिथयोऽपि धीवरणौ प्रतीक्षन्ते ।
आखेटार्थं गतो युवराजधिरयति”—मन्त्रिणोपेत्याखेचि ।

“न जाने कथं विरुद्धतां भजते चेतः । किमप्यस्तभयमिव भावयति भवता ।
आखेटार्थं गतधन्द्रो नाधुनापि प्रतिविवर्त्तते । अचतनोत्सवं राजभोज्यं निदधति ।
कथं धिरयतीति महदुत्कण्ठितं चेतः । अभितोऽशुभच्छायामिव पश्यामि, अन्धमिव
चिह्नीर्येति मामकीर्णं मनः । न जाने किं भावि ।”

“देव ! सर्वं सर्वः शं निषास्यति, देवस्य वात्सल्यमेव एवं चिन्तयति । (हस्त-
पश्यन्) ‘कथय देवव्रत कथं विस्यति युवराजः ।’

देवव्रतः—(प्रणम्य तच्छृत्वा) देव, कुमारमित्रेण निश्चिन्तितेन धीमते एव
विलक्षणप्रेक्षणीयोऽयं उपहृत आसीत् । कौतुकक्रीतमिव भवति युवच्छृङ्खलम् ।
परिणाममपरिचिन्तनी च मतिः, विगतसाध्वस्य सादृश्यम् । अनेतसारस्य तारम्यम् ।

राजध्वन्द्रस्तमाष्टाहमाभिः शनैश्शनैस्तुष्टोऽह्मदेहत्वाद् विटम्बूदग्निस्तान्त-
मर्द्धं पथाननं बीक्ष्य हन्तुमनास्तद्य प्रस्थितः, अस्माभिस्त्वष्टृदग्नेस्तुगतः
ननैशान्धकारे पथविच्युतैर्लक्षितधनुरोरगो वा एव संवृतः ।

विद्वद्वरेण्यनवरक्तनूजनुर्यः

सालोचनं विपुललालितकान्यमालः ।

सभीनिधास उररीकृतनभ्यरोतिः

शं न्यधमद्वरसुषोवरणीयमाद्यम् ॥

भीमतरज्जगन्नात्रितनुब्रजः श्रीनिवासशक्तिपादः

चन्द्रमहीपतौ

प्रथमो निधासः

द्वितीयो निश्वासः

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाप्रजाप —

दुहामरौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण ।

द्वये पराचि करिणामरिणा तथापि

कुत्रापि नापि खलु हा ! पिशितस्य छेदाः ।

—पण्डितरात्र जगन्नाथस्य

उत्कूजन्तु घटे घटे यत यकाः काकाः यराका अपि

क्राङ्कुर्यन्तु सदा निनादपटवस्ते पिप्पले पिप्पले

सोऽज्यः कोऽपि रसालपल्लववम्रासोहसत्पाटव—

क्रीडत्कोकिलकण्ठकूजनकलालीलाविलासक्रमः ।

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

अथ जातोदये पीयूषमरीचिमालिनि सकलशरयपितृके जैवतृके, सनादिगुहासा-
मलकीर्य रसादशमः स्वादेव स्रवसत्वरमम्बरमवतरति रतिवितारके तारकेश्वरे
उयोस्त्वया शिलायामिलायां प्रकटमाने वस्तुविस्तरे, राजतपत्राच्छादिते कर्पूरसल-
मिव वर्धति नमसि, प्रदरं ' नाशयितुं पुण्यानुगमिवसेवमानाया', मनुष्याभिर्दुर्गमधारिणि-
रिव उद्योतनाभिः सिध्यमानायां वसुमत्यां, प्रपुल्लकैरेषु, सरसु, सत्रपकमलिनीं
दीधिकासु, रम्यमानान्द्रासु च वसुदिनीषु समाधिनिवासिलय निद्रादेवीमाराधयसु जने
द्वित्राः पुरुषाः पर्वतान्तः प्रदेशे स्थिताः सन्ति ।

महानर्यं प्रदेशः । अभितो लघुलघवः पर्वताः पादप्राचुर्यवन्तो ये समापन्नृनेत्र
निपातात्तान् वक्ष्यन्ति * ।

* प्रदरोरोगः पुण्यानुग * दूरेण शाययते । पक्षे प्रहृष्टो दरोभवः, पुष्यति नक्षत्रो-
पलक्षणं तान्यनुगानि यरयतेव चन्द्रेण नाश्यते । नक्षत्रोदये मयं नश्यतीति भावः ।
इति भाषा * ।

धीनिकायशास्त्री का चन्द्रमहीपति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्तमान प्रवाद विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मानसिक भावों का संघर्ष उन्माद के तत्प्रधान गुण माना जाता है जिसे सुन्दर रूपसे सन्निविष्ट किया है।

रामकृष्ण भारती, शास्त्री, वी० ए० साहित्य
सरदारसाहब २६/१२/४० सरस्वती कालेज, झटौर

Sri Bhandarakere Mutt. Udipi, (South Kinara)
Dated 2-2-1959 Camp कलकत्ता।

सत्तिथीमत्तरमहंशरिमात्र इत्याद्यनेकविहशक्तिवदिक इत्यमप्रतिष्ठापकप्रमाणम्
मन्मथाचार्यशुभसम्प्रदायप्रवर्तकश्रीमदुदुपिमण्डारकेरिमठाधिपतिश्रीविद्यामानन्वर्तक
स्वामिपादाचन्द्रमहीपतिनामकग्रन्थकर्तृभ्यः धीनिकायशास्त्रिभ्यो नमस्कारम्
पूर्वकं निवेदयन्ति—शुष्पकं चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थः सर्वामुद्रासामुद्रा
प्रतिभासते, मनोहरक्याप्रपञ्चेन जनार्ण वित्तकर्षक इति मन्यामहे। अस्मिन्
सर्वे जना आदरं करिष्यन्तीति वयमाशास्महे, इत्यनेकवारायपरमरत्नानि।

[वेदविद्याप्रयतमानमानसः
फलिकातास्थो व्यापृतवेरिष्टरः
श्रीकालीप्रसादखेतानः]

"Naurang"
6, South End Park
P. O. Rash Behari Avenue
Calcutta-29,
22nd March, 1953.

The publication of CHANDRA MAHIPATI by Kavi
Shrinivas Shastri is a very interesting event in the field of
modern Indian literature. It is a novel written in modern
Sanskrit. The style is Composite, partly of the old and partly
of the new. Ingenious forms of grammar and of descriptive
of nature alternate with coined scientific expressions of
modern political and social topics. I must state frankly that
all the translations of the scientific words are not likely to
be accepted by the public. But that does not affect the merit
of the book. It is a bold attempt to employ Sanskrit even
as a medium for popular literature.
The book is bound to prove to be a
success in Sanskrit even including

धुरी अवाधुर्यं हृदयवेषमानन्दं प्रति सस्पृहे, कुचापि कस्यापि मुकृतिन ।
 त्रिपयेव प्रत्यहमेधमानमहोत्साहौ, बलीभासि मय्यं कस्यापि सुगमस्य सौपानं
 काव्यकलाकलापालाप्रसन्नतरितिसर्वस्वं, निरन्तरगाननिरतं मनोऽपि कस्यापि
 धारोबुभूषदिव भुजलते कस्यापि मल्लादपस्त्राखेडकान्ने इव चपले, तथापि
 प्रवृत्तिरज्ञातप्रणयतत्त्वाया एतस्याः । शास्त्रिकीमेवावस्थां भजते यतः सा ।

*

*

*

प्रौढमनोरमेव कुबर्मर्नेन संकुचितशरीराऽमवद् यामिनी । विप्राश्च
 शीत्वं जाह्नूविभावयाः । अमणवीक्षिताख्येचर्चामिदं कल्पवं कुर्वन्ति पक्षि-
 देनेशाममवतः प्रमोदः, अन्धकारसङ्कामत्रिहीर्षति शोषितकिरणेऽहणे,
 मेघ विक्षपयति धाराप्रसहमासाद्यैः शोतशोते प्रावरणरिपित इव विमल-
 मामोदमादायेव धीरे सति सनोरे, कम्पुषपुनकामिरीबूझामणिप्रभमरि-
 मानेपु नक्षत्रेपु, नारमालन्यकारेण सहैव संहरेत्सर्वं इति भयेदेव
 खामुलेषु अमरेषु विपतोऽभिषेकोत्तमस्य कस्तुमुलमूर्यतोभनादः ।

‘कविशोषनपरिपूतः, परिमलमाषपरिपूतः’ सुप्रभिसुगृहीतमालचैतनस्यै
 ‘मरः’ कृतप्रमग संवर्णं स्थिरवति पश्यताम्बेतः । सुधासासंलितमितीनि
 मालप्रान्तानि भाषन्ते निशान्तानि ।

मद्यवस्तुतो राजनपरम् । कुमारचन्द्रोऽयं युक्तामरदेऽभिषेकते । यस्या-
 न् लोहप्रियताश्च गायन्त्यो मङ्गलं कामयन्ते कामिन्यः, वरदीर्य-
 यन्तो वरान् द्रुहन्ति विप्ररेण्यः ।

उवाच महेन्द्रमवनमसि परिभावयति । सम्मुखे चास्य द्वाविंशत्ताम्बेषु
 कलरचितं वितानम्ब सुदुर्मदुरुदयतिनेनम् । अमिवितानं दौदुश्यमाना
 त्वी प्रयानिनी च सौरं तप्तं तर्जयन्तीवास्ते । पतितोराजमवनम्ब
 घतशरीरा बलिनः समर्थार्दिस्थिताः ।

भयवत्परे रत्नप्रतिस्पर्णस्तम्बनुष्टयमिमासि, स्पर्णमुत्सृज्यतिपिनैपुण्यं
 तत्रपरिरुद्रकक्षौषेपत्लिङ्गतुल्यं, गजदन्तबनुष्टरणं हरणमापदां, पदं
 गते राजसिंहासनम् ।

सिंहासनस्थैः चिन्तितशान्तिमुद्येभ्यः भौगोलिकप्रदेशेषु, पश्चिमवर्तिष्वपि चरन्
चचितानां, मौलिमुद्येभ्यः चिन्तितयतां गुणगन्धधितगौरवानां राज्ञामुत्तरागनेष्टय
ष्णीयात्पदश्रुतशिरसां शोभन्ते स्मितासतां देशरत्नप्रामासन्धः ।

अथ राज्ञः चन्द्रो युवराजस्येष्टमिषेष्टते, निरञ्जीवतान् प्रजापतनी युवराजस्य
इत्येव धृतये सर्वतयर्चा । द्वागुमयतो मध्यमुपमार्गा सप्तप्रैर्निर्गम्य विद्वन्मन
समयादं स्थितास्ते ।

भास्यता राजतेनानाहतेन मरुतरेषु प्रपतप्रणामाऽल्लीन् प्रतिशब्दं मन्त्रि
चन्द्रेण च युक्तः समामवनं प्रविश्य शरीतैर्निर्गम्यप्रणामोऽप्यकार सिंहसनं नवेन्दुपदमाम् ।

त य विष्यत्सेनश्चक्रपणि विरहितस्त्रयाग्रहो माधवञ्जगद्वो विहसन्, शङ्करः
विभूतिष्यात्तपुः, वामन इव कृतबलिप्रहणः, हिरण्याक्ष इव पूतवसुन्परो, गेरान्वितो
सूयमिव जातार्धशुक्तिः, व्यामिश्रश्चमिव प्रभूतनिवेशभासमानः, खण्डनखण्डज्ज्वल
खण्डितानेकशासनः, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता, रत्नमकुटालंकृतः, अवलम्बित
श्वेतमुष्केन, हाटवतन्तुरसूतलङ्घकेन कौशेयप्रपदीनेनाच्छन्नतनुः, गण्डनमुष्णि
हेमकोशेन कौक्षेयकेन विलसितमण्यो गम्भीराकृतिः इती राज्ञः राजनगरमूने
भामिनोभूभङ्गभाषी नवेन्दुपदः ।

वामतश्च प्रभवः प्रहृष्टगुणानां परामवभवनं पापानां, अपसृष्टो दुष्टैः, सञ्जुष्टः शिष्टैः
रजुकर्ता पूर्वजान्, अवधिर्विद्यामयीः, निस्तारको लोकदुरात्काराणां, निरवधिर्निष्करी
निर्दिशे, दुःसह्यतेजास्तेजस्विनां, दुरधिगमगाम्भीर्यो, विलीयमानः लोकद्वये, आपरो
वीररत्नस्य, निष्कयो निःशेषनयस्य, अविष आपद्रुतानां, अपिधानं बाबालानां अति
मुक्तकोशः कलाकर्ता, सुहृत्प्राणिमात्रस्य, उत्थानं मन्त्रिणां, अभिभावको जगत्
प्रतिष्ठितप्रज्ञः, परिभूतभूषिणी, हासप्रियः प्रियः प्रजानां, सुद्वयुपास्यो मन्त्रिणां
धात्रश्चोऽप्यकृतिः, खण्डन इव वाम्नी मूकीकृतवक्त्रिसमाजः, सुन्दरमयुरः स्निग्धवर्ण
कुन्तलोगौरः, कर्पादिनं संसारसर्वस्वः, पिनाकिनं सर्वास्त्रनिपुणः, विरुपाक्षं पुण्डरीकाक्षः, कमल
कामदो, विहसत्तिव गिरीशं सर्वेशोऽनुत्तमं चित् चतुराननं चतुराननं, कमलासनः कमलसल
प्रजापतिः प्रजापतिः, समाक्षिपन्निव देवकीनन्दनं जगदानन्दनः, पादसंवाहनलम्पटधरं

१ कमलाः सर्वं उपसर्गाः ।

सर्वाङ्गलमश्रीः, होरकखचितेन स्वर्णसङ्ख्या हेमकोशेन चन्द्रहासेन पूज्यमानवामपार्श्वः,
जातरूपतन्त्रुचितमहार्हमहोष्णीयः, पट्टासवासितवासोवद्विग्रहो, हिमशुभ्रधौतवसनः
स्मितेपनिःश्रुतदशनः, आरकदशनवसनः, करवालकेलिचक्रीकृतवीरवरो राजकुमारः
स्वर्णसिन्या समलभत स्थानं धन्यजननीकथन्तः ।

यश्च रसपूजयतिजरितपारदसेकवह्नीणक्षयः साक्षाच्चन्द्र इवास्ति ।

किमितौऽप्यधिकं रम्यं भारवपुरदमेवस्मर इतिविचार्य कृष्णीकृतमिषकचकलाय भ्रमरैः,
सुगन्धितमिववपुर्वसन्तेन सुकुमारीकृतमिव सुमनोभिः प्रकटितमित्रत्वधर्मं मिलितमिव
भारमित्रैः ।

दक्षिणतश्च काशानीकाशकेशाक्षिपद्मा, अन्वीक्षित आन्वीक्षिद्या, अद्वितीयकन्या,
शीणोदग्दनीती, वित्तोवासांसु, विपथितामपथिमः, विहसन्निव एकाक्षं कमनीयाक्षः, रेजे
रजतमन्यां शुभासन्त्यां मन्दिप्रवरोऽश्लेषविद्याधरोविद्याधरः ।

अथ सजायां समज्यायां समेतु माननीयेषु नागरिकेषु, लोकाग्रिषु लोकादित-
मतिषु, यथास्थानं क्रियेतु च, प्रयत्नसिद्धयुपयुक्तित्वाच्च संखद्भूमौ सकलं माण्डलिक-
मण्डलमभ्युत्थाय क्रमशो दीवारिकदत्तपरिचयः प्रणवाम् ।

अथ स्मयमानोन्नरपतिः धीवपुपरीक्षयेत् मधुरया, अगाधहृदयान्द्रवसत्त्वेन गभीरया
वाचा वक्तुमारभत ।

अहं मा महर्षेयः, त्रिधाः प्रजाश्च,

महामहिम्नो विश्वासहितुः परमातुकमया राज्यकुर्वतो मे चत्वारिंशद् वर्षाणि
भ्यतीतानि । यत्प्रमूढहं प्राणयौवनोऽस्मि प्रजानां सर्वविधानि कष्टान्यपनेतुं
कृत्यरोऽस्मि । हुण्कालमहामार्मादिसङ्कटकटविनाशकं षण्दनुप्राहकं परमेशानं प्रति
सर्वदेवान्तोऽस्मि प्रवहं प्रार्थयमानो भक्त्या योगक्षेमम् ।

मयि राज्ये च या प्रणदा अकिर्यत्त्वामो यचातुलं प्रेम भवद्भिः प्रदर्शितं
तेन रामेशां रक्षां हृदि अतुलो हर्षवर्षः सम्भवति । यश्च बहोः कालात् राज-
प्रजयोः प्रवर्धित आसीत् किरुपुत्रवत्सम्बन्धः, पत्नीवतश्चिद्य अहमद्यापि वक्तुं
शक्नोमि यतोऽद्याप्यत्वयो मानससरोजे राजते समानं सुखमूलः सम्बन्धः ।

भक्त्या सुखे दुःखे च सदैव सहचरीभवचासम् ।

ममभनन्दवसराः प्राप्ता दुस्तावसराथ यथ जगतः स्वाभानिकोधर्म स्तद्धि भवन्ति
मे साहाय्यं कृतमास्ते ।

भगवतेऽनन्तकोटिजगन्नाण्डस्वामिने प्रणामोपायनमुपहरामि येन राज्यनिरीक्षणम्
सदसद्विवेकधनाचेतना यद्यप्युपहरणसहं यपुरपूर्वापूर्वकार्यविक्रीपाप्रवण उत्साहो जगत्
लोकयितुं सत् स्वास्थ्यम् मे प्रदत्तम् ।

सकलस्य राज्यस्य सेवार्थं सर्वविधनवीनसाधनसम्पन्ना जलस्थलवायुसेना शत्रु-
घातनेऽक्षाम्यमासाध्वति ।

अहं सर्वदेव प्रजापिकारमुक्षाम्यं तासामावश्यकतापूर्वैर्बोधुमानोऽस्मि । तस्मै
विधिसभारादस्या जनतया निर्वाचिता राज्यसचलनोक्तिं राष्ट्रोजतिकरञ्च विधिराज
विद्यागुकरणीया व्यवस्थां व्यवस्थापयन्ति । प्रतिमामं प्रामोर्गैर्निविता प्रामप्य
पजरारिकं विवाराभिवीर्यं शमयन्तो वैष्णव्यैर्वा भगवन्तो प्रामोर्गतिं कुर्वन्ति ।

सद्युपनि प्रामोर्गैः राजनीयसी रम्या पाठशाला, भारोम्यशाला, व्यवसाय-
प्रौढशिक्षणशाला, पत्राण्यो, वाचनालयः, सर्वदेवक्रीडास्थलं, वाटिका, सर्व प्रामोर्गै-
र्यत्नैर्गं विविता राजमार्गाः, कुल्याः, प्रभूतधान्यानि क्षेत्राणि, च वीर्य कर न प्र-
परमनन्दस्याधि समेति । आत्मन्तरम्यवस्थां न राज्ये रक्षकमेवज्ञानमात्रस्यः ।
वीरभारानीविद्याचारचर्चैव न ध्रुवते, न वधनाष्ट्रमाशोऽपि वगः विप-
विपुर्गति । तस्य हृदि नवमुग्नवित्तवस्तुन एव उन्नोयेरतावर्तने । न राष्ट्रेऽप्युर्ग-
न वारणसः, न मण्डली, न दूतलवः, नभूनी, नवचक्रो, कावतुसागनो, न निर्देश-
न कुर्वतः ।

सकलस्य सन्देशद्वारेऽपि यथाशक्तिं वीर्यादेरामर्गं च पूर्णमेवज्ञा धमेवैवै-
रा कोटि मितम् । जनया वैतृष्ण्यारवाऽम्यं न्यो वरः । पर्वतार-
न विस्मयीयं मंदरा द्विदिगम्यमिमंज्ञा धमेवैवै । जनैव प्रविशतन्ने-
विशिष्टो नहं सत्य भवति । जनैव विद्वानां मृत्युः प्रविशतमर्ग-
दुष्टावर्ग-विश्वार्थिना वा प्रसन्न भवति । सत्यः सामान्यप्रतिक्षणं
सत्यं प्रसन्न भवति । दुष्टावर्गं प्रसन्नं प्रविशतमेववर्ग-राम्यां द-
भवति । सर्वदेव वीर्यावर्गं प्रसन्नं भवति । सत्यं सत्यं सत्यं

कयावशेषः संवृत्तः। सर्वमेतद् राज्यस्य भवताम् अस्मत् प्रत्यक्षफलम्।
भवन्तो राज्यस्य धन्यवादास्तदम्। परन्त्वधुनास्माकं केवलमिदमेव कृत्यं
मास्ति यदिदं वर्तमानमेव रूपं निगृह्यात्, किन्तु लोकोत्तरसमुच्चतेः शिखरमाहृत्य
निरातङ्गं शानन्दं निवसन्त्यः प्रजा वास्तविकमानन्दमुपगुप्तीरन्ति।

सौन्दर्यमधुनापृच्छोभूतः। शार्ङ्गवयमावाग्नधनवेषु कार्येषु मोत्सहते चेत्तः।
प्रभविपूज्यपि क्षुरवक्ष्यकृत्येषु सौख्यं भवते। न मतिर्मननीयमपि मनुते
मताम्। कारणजातं कार्यकारणभ्रान्तिमिव मन्ये। कुमारधन्वः सुशिक्षितः सुविनी-
तोयुक्तः क्षमोऽधुना पुष्टिमिमां बोद्धमते। योज्योऽयमस्मिन् कर्मणि—इति शिक्षापितुमेव
भवन्तः छादरामान्निप्रताः।

यदप्रदानात् पूर्वं कुमारस्यापि शिक्षाप्यधस्ति—यन्मा नाम राज्यधीमदमसः प्रजामा
योग्येन विस्मयीः। महाप्रभावो लक्ष्मीमदो मधुमधनमस्मिद्वयति। लक्ष्मणि-
दोरकं सुष्टं कण्टकाचीर्णं जालीहि। कौशेयस्तुल्यं स्वर्णसिंहासनं शिला—
द्यक्ताकृष्टं कल्पः। एतं सत्तरीरं नितानमिवापरां विद्धि। कामरसुरमं
द्योषकं सद्भावनामादयकं कुप्यसनात्तं मन्मथः। नदि विलासलया राजलो राज्यस्य
प्राज्यमुपहारं कर्तुं क्षमाः। प्रजानां स्वातन्त्र्यभीक्ष्णं स्थिरयितुं सर्वैव सत्तरी भवेः।
दण्डदमने घततं करवालकरो भूवः। विदुषां सत्कृतः सन्त्यक्तस्व मा याः।

प्रियाः प्रजाः।

यदा सामिभक्त्यामर्कद्विपरितं पूर्वेषां राजां शासनं, विधिसिद्धि साऽस्माकं नदीन-
महाराजं प्रति अभिवाधिके समेधियते। द्विचकं स्वमिव राज्यमदः समुन्मतेरत्युषं
शिखरमभिरोहतित्यस्तु ये दृढमन्तीर्षाः।

युवराजविभाभूषितमुखधन्द्रो जनसमूहस्य करतलवादेन सह समुत्थाय स्मितेन स्नि-
यन्तस्तत्तभमभाषतः—

पूज्यपादपद्माः महर्षयो, मान्या राजपयः सहयोगिनः सम्पाद ।

योऽयं कार्यभारः श्रीमद्भिरस्मत्सङ्घआरोपितः श्रीमता सहयोगादश्वनोऽयं
समर्थो भविष्यामीत्याशासे । अद्यतनं राजपदं न विलाससुवर्णं, अपितु प्रयानसेवकसुवर्णं
प्रधानप्रहस्तिमेव धोष्यति । उपहासप्रशनादिना यं सम्मानं श्रीमन्तो मयि प्रदर्शयन्त
स नमसः, अपितु राष्ट्रसेवकस्य—राष्ट्रस्य आगच्छकप्रहसिणः सम्मानः । नाहमेतत्
सख्यो योग्य उपभोक्ता । अत एतां सामग्रीं बालविकासपरियद् उपहृणामि, बाला हि
भाविनो भारवाहा राष्ट्रस्य ।

मान्याः,

बहुविद्यतेऽस्माकंकरणीयम् । अद्ययन्त्रयुगे विज्ञानस्य महत्त्वावश्यतावर्तते ।
वयमधुनापर्वन्तमत्यन्तावश्यकपदार्थोत्पादनाय संलग्ना आस्म, परमद्य तेन भवेन इयं
मुक्ताः स्मः । परन्तु कदापि परेषां दशाप्राप्ताणि यथा न भवेमतथाऽस्माभिर्वर्तितव्य-
मस्ति । अद्यसायंकालिकसमायामस्मिन् विषये विचारविधायः ।

*

*

*

“देव व्यत्येति भोजनवेला । आगन्तुका मान्या अतिपयोऽपि धीवरणौ प्रतीक्षन्ते ।
आलेटार्थं गतो युवराजधिरयति”—मन्त्रिणोपेलाबोचि ।

“न जाने कथं विह्वलतां भजते चेतः । किमप्यज्ञतधनमिव भावयति भावना ।
आलेटार्थं गतधन्द्रो नाधुनापि प्रतिनिवर्तते । अद्यतनोत्सवं राजभोजय विरयति च
कथं विरयतीति महदुत्कण्ठितं चेतः । अगितोऽशुभच्छायाभिवपस्यामि, क्रन्दनमि
विधीर्यति मामकीर्ण मनः । न जाने किं भवि ।”

“देव ! सर्वं सर्वैः ॥ विधात्यति, देवस्य वात्सल्यमेव एवं चिन्तयति । (समुत्थं
पश्यन्) ‘कथय देवव्रत कथं विरयति युवराजः ।’

देवव्रतः—(प्रणम्य उत्सृज्य) देव, कुमारमित्रेण विस्मरोखरेणाय धीमत एवो
विलसन्नप्रेक्षणीयोऽद्य उपहृत आसीत् । कौतुक्यधीतमिव भवति युवकहृदयम् ।
परिणामपरिचिन्तनी न मतिः, विगतसाध्यस्य सादृश्यम् । अपेक्षयाव्यय तारस्यम् ।

राजध्वन्द्रस्वमाद्वारमामिः शनैश्चनैरुगतोऽकल्पमदेकमाद् विटस्म्युहानिःसरन्त-
 रंद्गं पञ्चाननं वीक्ष्य हनुमन्नास्त्रदनु प्रस्थितः, अस्त्रामिरप्यश्वघृष्टलम्नैरुगतः
 तननैशान्धकारे पथविध्युतैरवीक्षितश्चक्षुःशोरगोचर एव संवृतः ।

विद्वद्वरेण्यनवरक्षतनूज्जनुर्यः

सालोचनं विपुललालितकान्धमालः ।

सभीनिधास हररीकृतनश्चरोतिः

शं न्यश्चमद्वरमुधोवरणीयमाधम ॥

श्रीमद्वरप्रदायशान्तिवज्रजुग धीनिधश्चाक्षिणकुवे

चन्द्रमदीपतौ

प्रथमो निधासः

द्वितीयो निश्वासः

मिना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्र—

दुःशमशौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण ।

दैवे पराचि करिणामरिणा तथापि

कुत्रापि नापि खलु हा ! पिशितस्य लेशः ।

—पण्डितराज जगन्नाथस्य

उत्कूजन्तु वटे वटे यत वकाः काकाः वराका अपि

क्राडुर्वन्तु सदा मिनादपटवस्ते पिप्पले पिप्पले

सोऽज्यः कोऽपि रसालपट्टयलवप्रासोहसत्पादय—

क्रीडत्कोकिलकण्ठकूजनकलालीलाविलासक्रमः ।

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

अप जातोदये पीयूषमरीचिमालिनि सकलशस्यपितृके जैवातृके, सनादिगुहास्ता-
मलकीर्य रसादनमःस्वादेन सत्वरसत्वरमम्बरमवतरति रतिवितारके तारकेश्ये
उयोत्सनाद्विलासामिल्यर्था प्रकाशमाने वस्तुविसरे, राजतपत्राच्छादिते कर्पूरलण-
मिव वर्पति नमसि, प्रदरं * नाशमिदं पुण्यालुगमिवसेवमानाया*, मनुष्यामिदुं गंधपारमि-
रिव उयोत्सनाभिः सिध्यमानाया वसुमत्यां, प्रफुल्लकैश्चेष्टु, सत्सु, सप्रपक्वमालीं
दीपिकासु, रम्यमाकानकासु च पुमुदिनीषु समाधिमिवादिष्य निशदेवीमाराधयतु कते
द्विभाः पुण्याः पर्वतान्तः प्रदेशे स्थिताः सन्ति ।

महानयं प्रदेशः । अमितो लघुलघवः पर्वताः पादपत्राचुर्द्वन्तो ये समागन्दन्ते
निपक्वास्तान् वक्ष्यन्ति * ।

* प्रदररोगः पुण्यालुग * दूरेण प्राप्तये । यत्र प्रहृष्टो दरोमयः, पुण्यइति वक्ष्य-
पलक्षणं सान्यनुशानि दस्यतेन चन्द्रेण नाशये । नष्टप्रोदये भयं नश्यतीति भावः ।
ते इति भाषा * ।

मध्ये विविधासुविभाषी, हरिणरोमपट्टकोरम्यस्तापहारी, शीतलः प्रदेशः । मण्डशैलान्
कर्तयन्ती स्वल्पकला सरिदेका बह्वेष्टः । मा पास्तमध्यमासाशब्दया भवति ।
पूर्वाः पुरुरैरमुच्यतेऽपुदगम्या दुर्गमा दत् । मध्ये नितरां सान्द्रा पादपावली । यत्र
तत्र मुट्टनने 'ऽशोटे' मधुमक्षिकाः भनमनायन्ते । इतस्ततोऽग्रमन्तो दुष्टरमणोऽज्ञैवात्मानं
मुखिनं मन्यते । पुष्टदुष्टं स्थानमेतं हृष्टाकानां लीलानिलयं, चौराणामाचारचत्वरं,
शिरावातां पत्तनं, रक्षसासातनं, यक्षणां यक्षप्रभवनं, उत्पन्नानामुत्पत्तिं, वराकाधिकानां
किरीटप्रकृष्टप्रगमावशते । विरक्तस्रगिरिकथन सज्जन इतो नाटीकते * ।

अद्यापि श्रमः पुरुरा भद्रावलोचयन्ते । निधप्रचन्ते दुष्टरमान—इति तु स्थानमेवाख्याति,
फन्तु तदालापशुभ्रपा चेत् "पाठकाः पाठिका"श्च निश्चतमागच्छन्तु मा नाम
नुरशिजितं तान् मुचेतयेत्—ऽयम् किं नैविचार्यते ।

यद्वैतेषु शिलागोष्ठमपितिष्ठन् नायक इव प्रतीयते बयसा पथविगतिययौ विपुलांसः
प्रोचतुस्तयात इव सम्यवेधो भतिमुन्नेरो बलवान् पटस्रण्डेन खे रविन्दूत् प्रोच्छन्नास्ते ।

अन्यौ द्वौ सुषटितसारी सैनिकप्रसन्नौ बद्धदित्तौ, सन्पादलम्पमावचन्यौ, कृष्णादि-
कोमलौक्षेयकचरी भिन्दिरालपूर्वितपाशौ सुवानौ क्षामुलीनशिलातले समुपविष्टौ स्तः ।

अधुनैवैको निवटनिजुजान्निधकाम द्विनालीमुभयकटित्तोऽसितद्वौ वीरभटः ।

"एहि रे प्रबल ! विराट्प्रतीक्यसे"—"देव, समय एव समागतोऽस्म्याङ्गाप्यताम्" ।

"प्रिया ! पूर्वं सर्वैव मत्कार्यसाधनाय सधृषाः स्तः । प्राणान् संशयशिखरमारोप्य
मत्कार्यसाधने तत्परायां नानुष्ममासादयितुमलमस्मि । प्रबलेन यचोपकृतोऽस्मि, मन्ये
सितायेवं न पालयेत्, मातायेवं नमानयेत्, भ्रातायेवं नविधियात् ।

प्रबल—देव ! भवत्पादयोः सम्यगपभक्तिः कल्पि न भूता । कुपैव देवो राजिकां
पर्वत्यति । इतिभुयो बयं यदि देवमारुधयोऽस्मि तत्र किं निःस्तार्दम् । वेत्तनं
भुज्जना अपि देवं यदि न सेवयामहे, तदप्यु पत्नेर्लमतायां न जने क्षमिन्निततः
स्वन्निनये । यतः प्रवृत्तिं महाभायो बन्दनपुरेष्टरो पातोर्कसनाभितवस्त एव प्रतिराणं
शोचन्त्युत्तिष्ठन्, प्रच्यदस्मि ॥ परमेष्ठानं यन् प्रभो वदामेतन्म्यां शोचन्त्यां
धर्ममन्त्रिभुमारान् धर्मधर्मिभन्तिहिहान् बन्दनपुराभ्यतिहसनेऽस्मर्त्तुश्रुतो दस्तानि ।

१ दत्-दत्ताः । २ सोनागठ । ३ अशोटे । ४ नदी पट्टने ।

कान्ति०—प्रबल । विरमास्माद् बाष्पमपात् । नाहं राज्यं कामये । भ्रष्टे मरुदं
साम्राज्यम् । नत्स्नाकं प्रयोजनं राज्यवार्तायापि । यासां योगशेमं रक्षन्तं एवमुक्तं
भासं, ताः प्रजा एवमत्माकं विरोधिवचो मूयुक्षदास्माकमेव तेन किम् । एतदप्ये
किं मम कथनं नैवः स्वार्थं आसीत् ?

प्रबल०—सर्वं जाने देव । परन्त्वन्येन कणे फूटतो धनः स्वार्थं मयि न गच्छति ।
भस्त्रु, वादिभ्यतां कथनादेशः । निष्कर्षणान्तु दिवान्येव नातिथन्ति ।

कान्ति०—हमस्तथा सह परिणयप्रतिष्ठां कृतवानस्मि—इति तु भवतां विदिषे ।
मम प्रतिज्ञायां, सह प्राचन्ये, वीरवरस्य चान्युयं, सूर्यसिंहस्य साहये च द्वयोर्द्वयोर्मनुष्यद्वये
विश्रुतः । अपि सत्यं रोचते वीरवर ?

वीर०—अदिव । एकदमयं सकमलं मयन्तमत्र सौतसितातले समुपविष्टं प्रणेतक ।

कान्ति०—एतन्तु मयद्भ्यो विसृतमेवार्त्तं यद् दृष्टिगम्यतत न किमपि कर्तुं शक्तेः ।
सर्वप्रपन्नत्वावश्यक्या विरोधवच विजये पुनश्च राजकुमार्थासह । वयोभूतवृद्धा-
नगुन्यूनतोन्यूनं पथ्यन्तमुद्रायाभावापघताः । अपि । वीरवर । कथमेतत्संज्ञी
मिपरीकृतं वक्तव्यः ।

वीर०—अहं देव । [किञ्चित्कृत्येव] विष्णुमित्रीऽस्ति राजनगरनाम्नि वगरे नव
मातुषेरी घाता विष्णुमित्रीकमुपनश्योः बाव्यनगरमवापराद्धा विप्लवोपातो नाम पुत्र
कन्यः । परमं च स मातुलान्यः समग्रमेव मां दुर्बलैः कथैर्मर्मगविष्यत् । एव
एवदं विदोः दृष्टिगम्येणम् । प्रजितोपविषाकरीटोऽनर्त्तः । कथं दृष्टिगत् देव । नि-
श्चयार्थं लक्ष्यं विषयः ।

कान्ति०—अदिव । विदुः । विदुः । विदुः ।

वीर०—देव । भवतां वीरवर । कथमेतद्दीर्घकालवचोवच्ये धीमन्मनुष्यादीनां
वचनं सुमार्त्तमेवमेव दृष्टिगत् । गुण्याः सर्ववच्येव । एवमप्यत्रान्तं च
वच्येव ।

कान्ति०—अहं कथे । वचनं लक्ष्यं लक्ष्यम् ।

वीर०—[विदुः] नद्वयः । एव दृष्टिगत् । लक्ष्यं विदुः । लक्ष्यं विदुः ।
लक्ष्यं विदुः । लक्ष्यं विदुः । लक्ष्यं विदुः । लक्ष्यं विदुः । लक्ष्यं विदुः ।

तत्र कियत्कालमालन्दमन्दोर्हं सन्दीप्यावयर् प्राण्यकार्यमपि साधयिष्यामः । श्रीलापिचौर्यं
विद्वत्पदानवकार्ययेनकापि हानिरपि न सम्भाष्येत । सर्वप्रवृत्तयोः सद्भवन् षोडशदं
अभ्यन्तरत्वात् भित्तिमितिगर्वं प्रागेव दशयिष्यामि । किन्तु देव । चौर्यं काले एतयोः
साहाय्यं प्रत्यक्षं नाचरिष्यामि । “अर्था” काननोपपद्येऽन्यथा यत्रोपयुक्ता भविष्यति—
एतौ मितिष्यामि । श्रीनीभूतः किमिव निचारयति सर्वेतिह ।

एवं—किमिव निचारयामि, अत्र देवदत्तकटुकीठिताम् । अनुत्तममिन्द्रियुपपदवी
परित्याग्य भाविनी मन्दनपुरनरेयताञ्च विनाश्यपुत्रा श्रीरवरेष्या अपि श्रीरवर्मणिरता,
विता श्रीरताया—इत्यतोऽधिकं किमिव शोचनीर्यप्रवृत्तः । सद्युषमंरग्यदिडेन दुर्दैव-
दुराप्रदेव भगवान् भास्वानपि श्रीनदीगव शिखलेनमवजिहीवत्, समुद्रोऽप्युत्तरं
मुत्तमुरामुत्तुप्रवेत्, कानोऽधिकं प्रणश्येत् ।

प्रवृत्तः—एवं, कृतिभोग्यपि पौनः पुन्येनात्मनः स्वामित्वमिव विलासयति । मनुष्यः
पदे पदे शिशितोऽपि, परं न जाने स्वमपि कथं देवदुष्टप्रप्रदेव एहीतः । पुनः
पुनराकाशमिच्छममनोहरं किमप्यतस्तमस्तनुमेव वक्षि । प्रभोः शिशितविक्रमप्रवर्गं येन
विद्वन्पुरुषशमावति

एवं—उत्पद्यते । अहं कल्पिताभ्यासका अपि परेषमुत्पद्यतेन विद्वत्-
पदन्ति । ये समवेग्या समारितं वस्तु स्वमनुत्तुम्य पुत्रेभ्यो ददति, ये न
रं स्वयमाव पुत्राङ्ग—शिशु—शिशवे अदति, तान्त्वरवरत्नान् शिशु-
तारदयमिकाया दत्तदत्तवत्किञ्चनान् विदधति, तेऽप्यत्र हन्त । सर्ववर्तित
शिशुपति—वेषामुत्पद्यतेनमुत्पद्यतेन । भावयेत् ।

श्रीर—एवंतिह । कल्पं विमः । भद्राधिकं पंक्तः मन्त्रविरत्तं भूतः ।
मत्त ॥ किमिव वक्षि कर्मव कथयति । किमि कथयति स्वमयो दत्तवर्तितम् ।
किमि कथयति प्रभोः प्रमन्युत्तम् ।

एवं—(श्रीलभूते मयेव भुवं विद्वन्त्वेन केनपि विचरेव हन्ते केनच ॥
विद्वन्त्वेन भुवेन केनचित्कल्पितम्)

वर्तितः—श्रीरः । अत्र कटु कथितम् । कल्पु कथयति केनचित्केन कथितम् ।
अन्ये

प्रबल०—(मध्ये एव) देव । बालोऽयमबहुदृशि चास्य हृदयम् । विचारधारमित-
धीतिधैर्यं सशब्दोत्पयायते । कालेन श्रीमद्भिः सिद्धितो भविष्यति देवः ।
क्षम्योऽधुना ।

सूर्यः—(शनैःशनैः) कोमर्पयिष्यतीतितु समयेन शास्यते ।

*

*

*

“वसिष्ठ ज्ञानमाप्तेहि । अचेतनावस्थां गतस्य तव दिनत्रयमप्रव्यतीतम् । अत्र
तवाङ्गानि सचेदनान्युष्णानि च प्रतीयन्ते । मगवाष्ठीवो मरीचां सेवां हस्तपद्
मिरुच्छति । निद्रां जहि हि, पश्य सूर्योदयो जातः । पश्चिमस्तवेष्टां दृष्टां विलोक्य
सरोकाश्च दृश्यन्ते । स एव मम परिजनास्त्रय पुमानमिव पृच्छन्त आतुरास्तिष्ठन्ति ।
तव सर्वाङ्गं स्पर्शेन सुखमन् मातेव मातरिश्वा व्यग्रो मूकः परिभ्रमन् न स्वयं स्मरेत् ।
वसिष्ठ ममाप्येष्टाद्वयवेला । गौरपि कल्पंपरामितुं दुह्योति । सापि दिनत्रयात्तवेष्टां
स्थितिं विलोक्य स्वच्छृणाऽनर्हत्, अथ क्षणोन्मुखा प्रतीयते । शुभमिदं लक्षणम् ।
मन्ये तव चेतना शीघ्रं प्रत्येष्यति । विषादं जह्नुहि । सर्वाण्येतानि तव मन्त्रं सूचयन्ति,
वसिष्ठ आहृदि । कथं ? कदाचं मौचयिष्यसि मातरं पवित्रां भारतीं भुवम् । मातमन् दृष्टां
दुःखितुन् कवीः । मा मातरं दुःखासनावमानितां विधा, मा सातन्त्र्यमममद्वये
प्रदत्तपुत्रद्वयपुत्रीविषया अभिर्कं खेदीः । माशास्त्राभ्युत्तसर्वस्वान् भूयः दृष्टा-
मन्ये एतेऽपि वीरत्रनाहुरन्तं केनापि दुर्दान्तशत्रुकेन वरां क्षिपयमां दद्यामाय” —

“हाहमस्मि मन्त्रिणे, श्यामे, देवयन, कोऽयं जटिलः प्रनीहार,” उद्दिग्धवेणा
विण्मन्त्रिणेनेममुनोवे ।

“शान्तिं मत्र तं सर्वं एकवित्तम् समानमिष्यन्ति, उद्बुध्यन्, स्त्रजमिदं दान
विरण्मन्त्रे । मन्त्रार्थमान् काष्ठछल्काधिनो वयोद्वयः प्रशस्तजः पतेन मया वि-
वर्णनीयानिमग्नतां विज्ञय कुटीरं समन्ततः । दिनत्रयं व्यतीतमप्य धीमन्
चेतनां मन्त्रे” — इत्यादिदिनं ममकं मनः । इदमुक्तं पयो दृष्ट्वा, सिधिलक्ष्मि नेऽत्रान्तरे
समष्टं प्राप्यन्ति,” अत्रल्लेखेन पयो सुने दृष्ट्वा महामनोवे ।

दुष्टं च सुखं च्छदय एवैः पयो जगद् । ॥ महत्प्रमदमन्त्रः शनैः शनैः दृष्टः ।
तस्य जगत्प्रेमं नवनेव इत्यमर्षेत् । महत्प्रमदा तैर्न मन्त्रोद्गमस्तीति । न हर्षे

श्चनर्मर्दयितुमारोहे । यूनाः शून्यजेषु चेतना प्राप्तावीत् । मनोरमोऽयं प्रदेशः । सर्वतोऽन्तरालं स्थितानां निम्नानां मितिरिव भाति । मध्ये च चतुरस्रो घासविभासी प्रदेशः । एकत एका सच्यस रम्या कुटी । घवलपादाणखण्डबद्धं कुट्टिमम् । सम्मुखे च मुट्टीद्वयम् । एकस्यां हिमचबला मांसला वातख्यपूणधिनः सम्मुखमीक्ष मग्ना रिपतास्ति । पार्श्वे एव पयः पाथं वामे पाथौ, आस्रपद्मव्य दक्षिणे दधत् उपपश्चिवाः विमलधोऽदीप्तप्रभः कौपीनवासाः स्थितोऽस्ति । युवचेतसि शनैः शनैः चेतना प्रसृता—स्मृतिरागन्तुमारोहे, तौ तु पुनरुष्णं पयः पाययित्वा शाययित्वा च कार्येत्तमः ।

“अधुनाहं स्वस्थोऽस्मि, कथं कैशब्देरामारं प्रदर्शयामि—भजाने । बुभुक्षा बाधते, शौचानिहृत्य बुभुक्षामि” ।

“नागरिकजनवदाभारप्रदर्शनं नावश्यं, पार्श्वे एव शौचाग्निदूय कवोग्गजलेन स्नात्वाऽऽगच्छ, सिद्धं पावसं तवोत्लापयामासम् ।

*

*

*

“सत्सु समेषु लेखाबोधपेयादिषु महाहैपाजेषु नेहगानन्दोऽधिगतो योऽय कदलीदले प्रपतितोऽविरलस्य पायसस्य भोजने” —शीरं प्रवृत्त्या लिहता यूनोचे ।

“एकान्ते भगवन्तं भजता मयाप्येष आनन्दोऽस्तीव मनसि मूर्धनीकृतः” अस्तु, अधुना त्वं स्वस्थोऽसि, जिज्ञासा च क्षामामीत्येनमुत्तरयति, कस्त्वम् । कथमित भागमनं कथं चेत्सी दशा तव ।

“देव । भारं धन्यं प्रदातुर्भवतः सम्मुखं नाहं मिथ्या वदिष्यामि यदेतादृशी जिज्ञासा वृत्तते चेच्छूयताम्—

“अहं राजनगरपतेः धीनवेन्दुवर्मणः पुत्रधन्दोऽस्मि यदि धीमतः वदसि कर्णे-मस्तुशम् । मम सुवराजमहोत्सवदिने मम मित्रं भाग्यमेकमश्वं प्राप्तात् । तमश्वमाश्व-रोत्थं मित्रैः सार्द्धं गतवानासम् । सौमन्येनानावाक्यमेव सिद्ध एवोऽभ्युपेतः । अहयं पुत्रपुत्रमिदं सुवराजमहोत्सवे—इति विचार्य तनन्वभावम् । परन्तु स बन्धवस्तुः समस्ता रात्रिं यापयित्वा व्रतं विनीतः । समस्तारात्रिप्रातरेनाथोऽहं निहता धान्तोऽभूवम् । अहस्य खेदरातं वपुः प्रकम्पते स्म । भगवन्तं सन्नि-पुगभाश्वपुत्राभेदमात्रं भजदिव प्रतीयते स्म । परन्तु कथं हृदयमप्यथादत्तैर्न-

शनेः शनैः पदातिधलनमभ्यस्य हिमनि स्थानं प्राप्तुमैच्छत् । पार्श्वे एवैकं शिखर-
मपश्यत् । शिवाल्यो गृध्रयूहे निवीन आसीत् । प्रवर्षणेन तस्यरानः कृष्णो
आसीत् । शिरस्यनोऽर्धमनो लोहदण्डो यस्मिन् कदापि ध्वजः समुच्छ्रितो न
चूडन्यता विभक्तिरम् । कवाटमेकमेवासित्तदपि भग्नं दृश्यम् । भट्ट इव
हृत्पीठे शिवमूर्तिरासीत् । शिवमूर्तिर्दिव्या धीविभवविभावा मव्याऽऽर्चिता ।
केनापि शिवभक्तेन महात्मनाऽथ रहसि नित्वव्यूहेऽर्धनिचरे निम्बकदम्बे धनुःपुरेऽभ्यर्च्य
गङ्गेशस्य शस्यप्रसास्ये स्थले स्थापना कृता भवेत्, परन्त्वय मन्दिरं म-
स्याभावंभावयति स्म । केवलं चतुर्लोकमग्नं, शरावे धूमस्त, दीपशत-
मलिनं तूलं भग्नो रीपः, अशताः दूर्वापुष्पाणि च कमपि पूजकं सूचयन्ति ।
कोऽपि इतः कुतोऽप्यागस्य कदाप्यर्चति—इति प्रतीयते स्म । चन्दनाय निम्ब-
काष्टलज्जमेकरस्या भग्नपुण्डिकायां पतितमासीत् पूजनाय भग्नान् तुम्बी च ।
अमार्जनात्सर्वमवकृष्टं शैत्यान्महतीं कुम्भिनीं प्रसारयति स्म । भित्तिषु वन-
पिण्डेषु पत्त्योनिदसाङ्गमयन्त्य आसन् । मन्दिरस्य पार्श्वेऽपरायिका त्रिदशसौद-
परन्तु कुट्टिमहीना पान्थानां चुन्नीधूमेन कृष्णीकृता शीतवस्था वन्यपशुमित्रा
नितरां ज्ञाऽऽसीत् ।

नितरां भान्तो विधममनिच्छन्वपि वन्यपशुभयहरे इने शननाशकरीर
कथङ्कमपि स्थानं विवृणुस्तवान् ।

परन्तु निद्रा इताऽऽसीत्, निरन्वेषणेनापि सा नापि किञ्चिन्ततोऽपि
शैथिल्यमभजत् । शरीरस्य निद्राहे सर्वसं समर्थं सुष्यत् । अक्षमादेवापस
प्रयत्न्या हेषया मम निद्रा भग्ना । सहस्रदिनः प्रकाशते स्म । मया ह्यं मदेक
पञ्चाननो ममाश्रयः पृष्ठं विदारयति । यावद्दहं सद्यएव कृपणं निष्कोरां विना
सज्जोऽभव ॥ पृथान्तनिद्रित्ये । घोरं वनं, शिथिलं शरीरं, चेतनाहीनानीवज्जानि
अश्रय मृतः किमपुना करणीयमिति धिचारयति मयि पुनः स दृष्टिपमागतः ।
अहमपुना रक्षणार्थं मार्गमन्वेष्टुकामः शनैःशनैः निष्कोपकृपाणकरोऽचलम् । अहं शनैरेव
पार्श्वे एव सवेगं प्रवहन्त्या नद्यास्तीर आगतः । पूर्णसौर्यानीयां नदी, परितो इति
पादपाः सुरभिर्धनिष्कोषनपवनः सेवमान इवेतत्ततः सद्यचार । अहं कनेहस्य पीता

रमंभुमपरीष्टतमाक्षिबेभुशीरं नीरं, प्ररुद्रप्रचुरद्वेष्टं वादस्तले सीतलमुत्भिगमीरणेन
ममस्नेतुं समुपविशः ।

सुखललितमिव दृच्छति शत्रुनिबुद्धे, स्वेदविप्रुधो विदूयति मत्तरीव मत्तरिध्वनि,
लीगण ॥ पदयोः पठति दूर्वाविसरे, भ्रतृशिव सगल्वन्धं मिलदुग्धु इमशाप्यामु
मरीव सार्धकृत्वा दास्यार्थः शिरः स्पृशतिशदरे, प्रियायस्मिन् परिजनसहोवाद्-
रत्नत्वां तरङ्गमङ्गैरुवायोत्पाद्य लीयमानायास्मिन् नदी मया दृष्टं यत् स एव
सहः प्रलम्बया जिह्वया कालैरेष्ट्राप्रमर्जनेन च भीषयमाणो ममामिमुप सत्वर
त्त्वामगच्छति । तस्य मुलमुद्रया स दृढनिधयः प्रतीयते स्म । परिस्फितिर्जटिला
ऽऽसीत् दरादृशान्तर एव सिद्ध आसीत् । अहं निमिषेणैव कदपरिकरी युगुत्सुः सज्जातः ।
सहः सत्त्वमागत्य कुलं व्यादाय अभयदाभ्यामाहन्तुमना यथा प्रचलति, तथाह
पुद्गिमः कीदनेऽस्पृहो निष्कोशं करबालं तन्मुखे प्रावेशयम् । आहतोऽमि स पत्र तत्र
तथाभावेन रचमात्रायत् । परन्तुवन्ततः श्वदङ्गो निपपात । अहं शोणित
पृष्ठः प्रशालनाय नदीतीरं गत्वा वायजलमाह्वारि सलदेवमवो मुद्वेनजर्जरभूतं
अन्तर्हंसपृथं नदीतीरं मयासहैव नद्यापपात । अहं नितरां धान्त आसम् । परन्तु
मृतुमीरया स्मियमाणेष्वप्यङ्गेषु चेतना व्याप्ता, तन्मुखे च काष्ठबलकमेकं नद्योदामान-
हैचेतनावरयादामभिगतवान् । यथात् किं ज्ञातमित्यहं न जाने । अधुना देवः स्पष्टयन्,
यत्कोऽयं प्रदेसः । किमूर्ध्वतो राजनगरम् ।”

“पुत्र चन्द्र बहूनि कष्टानि निष्कृष्टा जीवितेशस्य द्वारमिवाप्य प्रतिनिवृत्तोऽसि ।
दृश्यं नदीप्रवाहे काष्ठपट्टे व्यतीर्य अद्यत्वां जीवन्तं दृष्ट्वा परमानन्दमनुभवामि ।
पार्श्वे एव विमलपुरं विद्यते यत्र भूमहेन्द्रो जगत्पालो रामपालो निवसति । एतान्युपदृष्टं
दर्शनीयान्युपवनान्यपि राजकीयान्येव । स्वस्थतामापद्य आन्तमिमं निरीक्ष्य सीप्रं
प्रतिनिवर्त्तस्व । त्वदीयौ पितरौ न जाने कदा दयामनुभवतः ।”

“विमलपुरं रामपालमहाराजस्य विमलपुरमिति साध्वर्यं सांगुलीन्यातं सौत्कण्ठं
मनति चन्द्रे “आ” “आ” इति गदन् संन्यासी स्वकार्ये लग्नः ।

*

*

*

“देवि । कात्वं सौन्दर्यसाधनयना यकाङ्गनाया, नववयसोभिता तन्वी नवमालिकेव

सज्जोवा, सर्वप्रथममिच्छन्तः परवन्ती वृष्टिमिह कुर्वन्ती अभिरामताविभूता हरदेहेति ।
कस्य चेदमुशानम् । धिमत्र स्थानं प्राप्नुं शक्यते ।”

“श्रीमन्, मनोहरमुखनमिदं जितारेस्त्ररेध्वरकान्तिर्हीतं राज्ञो रत्नज
प्रियपुत्र्याः कमलयाः । यत्र प्रान्ते भ्रमन्तः पुंस्त्रिषोऽप्युत्थन्ते, तत्र मरुत
दशा विशिष्टकामिन्यः सज्जरीरा इव कथा वामाभिरामः कथं समेतः । यदि वा
युष्मादृशानां भ्रमणं धूयेतोयेत्यनं सदा निरञ्ज वसतिः कारयन् । अतोऽनररते
उक्तमिति तथा यातव्यं यथा कोऽपि दृष्टिमपि न धिपेत्, मञ्जिष्ठाग्निहेतुः
क्षन्तव्या चेदमनपराधिनी परवती क्रीतदक्षोः.....

“देवि, स्वदीयां माखनमग्नीमाकर्ण्य पुनःपुनर्मवति चेतस्त्वद्वयः धवपापीम् । सन्
न वयं कस्यापि निर्दूषणस्यापकाराय ।”

“देव, क्षम्यतामपराधः, देव आहूत्योच्चकुलो दैवदुर्विराकेन दुःखस्यः प्रदीपे
आज्ञाप्यतां का चन सेवा ।”

“अहमत्र महीनोऽस्मि न कमपि जाने । कस्मिन् कालमत्र व्यत्यासयितुमिच्छामि
त्वं यदि मत्कृते स्थानमेकं व्यवस्थापये, आजीवनं स्मरिष्यामि ।”

“भगवन्, निकट एवैकस्य धनिकः प्रोचं गगनचुम्बि रम्यं भवनं विदग्धे ।
कमलोपवनसान्निध्याद्गुणैतन्मन्यवहर्तुं शक्यते । केचनैतद्भूतावासमपि मन्वते । एवं
भवनं सुभगभोग्यं योग्यमस्ति । अमितो रम्या वाटिका । दक्षिणत आदर्शनिर्मा
णापी पीयूषपूर्णः । वामतश्च निपुणनिर्मितो लीलाक्षैलः । मध्येच रजःपाण्डितो
राजोचितः प्रासादः । श्रीमद्भूयो यदि रोचते विधम्यतामत्र कञ्चित्कालम् ।”

शब्दशस्त्राब्धिममानां जलविप्लुतचेतसाम् ।

शृते द्वितीयो निश्वासः सोऽयं चन्द्रमहोपतेः ॥

श्रीनिवसशालिणा कृते चन्द्रमहोपतौ द्वितीयो निश्वासः ।

तृतीयो निःश्वासः

एताः स्खलद्बल्यसंहतिमेरलोत्थ-

भङ्गारनूपुरपराजितराजहंस्यः ।

कुर्वन्ति कस्य न मनो विचरां तरुण्यो

विग्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥

मर्तुं इति

मध्ये त्रिषलीत्रिपथं, पीवरकुचचत्वरे च चपलदृशाम् ।

झलयति मदनपिराचः पुरुषं हि मनागपि स्खलितम् ॥

त्रिविक्रम भट्टः

बद्धे गमहावर्ते, पातयति पयोयरोन्नमनकाले ।

सरिदिष्य तदमनुवर्षं विवर्द्धमाना मुक्ता पितरम् ॥

बाणः

अपहस्तितान्तरायानर्षानुररीकृतान् प्रसाधयतः ।

विधिरपि मिभेति तस्मान्निरतिशयं साहसं यस्य ॥

त्रिविक्रम भट्टः

मत्ते भकुम्भविदलनकृतध्रुवं सुममन्तकप्रतिमम् ।

यमलोकदर्शनेष्टुः सिंहं बोधयति को नाम ॥

“मया श्रुतं यद् राजनगरं प्रति मुदा प्रेषिता, अपि सत्यं मनोरमे ।”

मनो—ललिते । श्रुतं तु मयापि चन्द्रकलामुक्तात् ।

चन्द्रकला—मामपि तिलोत्तमाऽऽह ।

ललिता—का तिलोत्तमा ?

चन्द्रकला—सैव मन्त्रिणः प्रमुखा दासी ।

“किमाह !” ललितया सौत्कर्षं पृष्ठम् ।

चन्द्रकला—एवमाह यद् राजनगराधीशपुत्रेण सह प्रतिज्ञातचरः कमलविहारी ।
विवाहयोग्याय नां वीक्ष्य कमलापाणिपल्लवं योजयितुं तिलकः प्रेषितः ।

ललिता—धृत्यते यत् सौन्दर्यं स साक्षात्कामः । केचन नाशिताशेषोपरवं प्रभञ्ज-
मसक्तं व्यसनेषु विद्वमिणं धृतावतारमर्जुनं मन्यन्ते । परे च मुत्तमुद्रया अगदमनसं
भगवन्तं चन्द्रमसमाचक्षते । इतरे चाप्रतिहतशक्तिया अगदमङ्गलविनाशनिरतं मां
व्याचक्षते । यस्य पिता प्रबलप्रभापरिभूतभूतयणः कथं न स्वात् तस्य पुत्रोऽपि प्रताप-
परिच्छदरिपुनूरः, यस्य पिता द्विधारधारासमाकृष्टशत्रुसीमन्तिनीसौभाग्यः कथं न स
तस्य पुत्रोऽपि विजयवामनप्रदक्षिणमुज्जस्ताभूषितकन्धरः ।

मनोरमा—तदस्माकं कमला किं रतेन्यूना ? अलम्भामरशरीरं मारं मर्त्येऽनेनूनि-
गता, वासन्तपुष्पविकासनीधाराहाता, धिर्यं, माधुर्यं, वात्सल्यं प्रेम ययोनिप्रममुद्रमती,
‘प्रसिद्धा ईसागरया, पद्मगमूला प्रमदानी, अचक्षितश्चेतोमवस्य, संतरणं हावनां अगुणे
मोहिन्याः, अवतंसभूता सौन्दर्यसरसीनम्, निन्देच्छलात्म्या, निरतिशयघोडुमाया, दुर्गा
दुरदष्टैः, दुर्गम्योत्साहा, विद्वितहसितमिषुविम्बा, आरूपा प्रेममकरन्देन, निर्भो-
मन्मथमहेन्द्रय, अधीश्वरी सुरभिनिधुनानां विलाससाधनस्य च, अपिधानं वैराग्यभावात्,
अनिशान्तशिरीषमुमामादौवे, सुवर्णवर्णा, उज्ज्वला कलानिन्दया, अभिरुगा गुणमण्डलैः,
प्रतिपन्नदार्पतरवा, परिशेषान्दाम्भोषे, अनुगापिमुन्दरी कमला कथमिव प्रेषये ।

पदम् । अदृष्टकण्ठगणकपरवतवः, स्वमावरकवासभासकरायितौष्ठतयाच, अपि-
द्वितरक्षवीररक्षानुरक्षकता तत्पवनरक्षौघी युगेव, अनकप्रिया रामाभिरामा ईशेव,
देशधाराकण्ठिललितुगुमरिमला, तारवोधिनी प्रसक्तवदनिजा यद्गुणया विदु-
कमला कौमुदीव अगदनिगमा, द्विद्विप्रप्रफुल्लिशिरीषा सरणिमिवरामस्य प्रसक्तवती,
विन्दुमूर्च्छभ्रमणा, रक्षणाश्रयिप्रदुत्तपुन्दरीजनयका, पदरागप्रद्विजगन्धर्वी,
दक्षिणमिवरसररक्षणीवपीठ, रक्षोन्मूलकरी, कलहमुक्तमुक्तनिन्दनी,
चक्रलयेदरद्वन्द्वता, शङ्खगणविवरमला, दक्षिणमिवरद्वन्द्वता, प्रेममूर्च्छनी

एतामुत्थाय सज्जतो विधातुः सौन्दर्यरचनासम्भारनिधेः कलाकलापस्य च क्षयः ।

किं श्यमे !

श्यामा—रतेः किं साम्यं कथयन्ता । साऽनहस्य वनिता कोकिलाली मनोमन्दिरा ।

एषा च विद्वद्विदितरीवरस्य वरा वनिता मनोरमासखी ।

कदासी सुमगः समयः समेप्यति, चेत्त आनन्दस्य चामसीमानमाप्यति, यदा प्रियामली
रक्तकटुणनिचद्रमणिबन्धाऽस्तकचालं कृतहस्ततला परिमिताभरणा सविभ्रमं भ्रमन्ती ।

कमला—तिष्ठत, न सुष्याभिः सह्याकीर्णमेप्यामि । प्रगल्भभाषिण्यो विरता प
भवध । यत्त ।

मनोरमा—बन्धच्छेदः । यतः प्रसूति तं युवानमेवाऽपत्यद् विमनस्कः न कानि च
लभते । विलक्षणधात्रीदीधरप्रेरितः स युवाः भामकीर्णं मनोऽपि तस्मै हस्य
कथा रसूत्यां सोऽस्माकं ज्वलितमन्त्रालयेव समारम्भ करालदंष्ट्रं गर्वनैरुपवनं भ्रात
पञ्चाननं पञ्चवमगमयत्, साधारणशशिशुमिव तमकीर्णदंष्ट्रं बलुतः प्रशंसनीयो वि

बन्धच्छेदा—युवा तु स एतद्वर्णीयक्याऽऽसीत् । सरलया निर्भयया भाषा सिद्धं कर
विदितं “अस्तु मामी” एतद्वर्णीयक्याऽऽसीत् । यत्तलं प्रतिनिधितः । यदि स एतद्
रात्रु कमलादृष्टा मानुषपुत्रा बन्धुं प्राप्तये, इतरं तु नैस्तु स योग्यतमः प्रतीयते ।

मनोरमा—यस्तु कमलाया वामदानं दीदाव एव संप्राप्तम् । नार्यकन्या न
प्रदीयन्ते ।

अवार्त्तमर्त्यभार्यकनयनप्रतिनि, अरुणपुरस्सरे समारम्भमिति भगवति वामलिम
उपेता गमनवेला गन्तव्यमुदाररीदरदलनादेति विचार्यैव विद्वद्वचनपु पत्र
असपन्नलप्रायेतिव सुसमन्तर्पस्तुद्रुपु, प्रकण्टकधरिचमयेन प्रतः संख्या विप
पथिमठरं विदादति मन्ददिवि बन्धमति, सरोजरात्रिकसनोदयानप्रचोपक-भ्रमरगु
पदार्न्दिन, सूर्यबहवति-कागत्रिभिर्दीपैस्त्वसंमुखपुष्पसमन्ततमुर्दधतमर्गप्रन्ते, प्रामा
बाहुनेज्जलज्वालिते चोपकनेऽरुणदिवसनाजेनीमिर्वाहदङ्गात्पुद्गद् भव
तरविहारीति ।

श्याम रक्तदीपेदिविहितमिहभूदिहम् । रात्र्यर्द्धेव सहस्राक्षमनेन स
देवरे दिव्याय अन्तर्भवरे कन्तनुम् । इतरेणैव सावरा ह्य इत्तु

मुकुलिताः । श्यामले दूर्वास्यले प्रसृतास्तुहिनमणीश्चेत्तुमिव बाल्म्यास्तरस्यनित्यं
किरणावली स्वर्णरेखेव विशदनीलाम्बरतो हसन्ती विकसन्ती नीचैरुत्तरति स्म ।

निकुञ्जेषु वनेषु वसतां पक्षिणां दिनेशागमनजयशब्देनैव विरागेण मुकुलं
बभौ विश्वम् । चेलुश्च ते प्रणमन्त इव बिहायसम् । विकासमात्र उपवनमुपवनं
विटपाश्वानन्तानन्दसुधापात्राय प्रतीक्षमाणा इवासन् । विविधकुसुमानां मादकेनादंसे
कोणं कोणं मुदितम् ।

मनोरमा कदम्बकुसुमस्त्वक्कं ललितायाः सीमन्ते न्यस्यन्ती तस्याः कर्णे कूचकर ।
सा च तां पुष्पक्षजा तताड । श्यामा च न्यायाधीशतां सम्पद्य पशुविपक्षं शुभ्रम् ।
चन्द्रकला च प्राङ्निवाकीभूय बभौ विचित्रयुक्तिभिरयुक्तमपि मुक्तमितुमचेष्टत । शिरसि
कुसुमकरा कमला मल्लिकावल्लीवितानेष्वलिकेलिलीलां पश्यन्ती, मञ्जुमञ्जरीमन्त्रि-
महीरहमण्डपेषु पुंस्कोकिलान् प्रेक्षमाणा कस्तुरिष्ठिकानिष्ठयोर्मिकया शीतां कुसुमवतां
तर्जन्त्या लोल्यन्त्येकाकिनी भ्रमति स्म । शीतलमुपभिसमीरविलुलिता तस्याः श्यामलम्
कुञ्चितकुञ्चिता मसृणमसृणा स्नेहवद्धिताऽऽसकवली सर्पिणीव नितम्बेऽवरोहन्त्यत्र
प्रसृताऽऽसीत् । सुवर्णप्रसूनाऽलङ्कृतनुसंयोगा गवनीतनिर्मितेव मृदुला तस्याः बाह्वी
वायुलौला काठिन्येन संवियते स्म । क्षणमव्यक्तं कष्टेन कूचन्ती सा स्फुटं जगौ :—

कुङ्कुमला दधति च्छविं मातरिधविचालिताः । (रयापी)

(१)

ध्वनिनामुना सर्वाः सद्यः सङ्गीभूताः क्रमसो जगुः—

मनोरमा • । योगिद्वयं कामिनीनां लिप्यते योगास्वरम् ।

पुष्पपङ्केयोगतो मरुतो हि भूता गन्धिताः ।

(२)

चन्द्रकला • । चम्पको बहुलो रयालो भालतीगणिकागणः

चन्दनोवस्वीरतुमथे तसां हारोमतः ।

(३)

वायुलीना पुष्पपङ्क्ति भिन्नवर्णमनोहरा

पत्रमध्ये राजते कान्तेव कान्तविमदिता ।

“आः ! त्वमसि वीर ! अस्माकं सिंहात्ताऽनाशंकितपुरस्कारः..... समर
वस्यितुं श्रोत्रेशमिवावायाऽत्र अमसि”

“नाश्रवणा, आज्ञापय तव कामर्चनाञ्चरामः । प्रियसिताचेज्जलानपन, हुन्ति
चेत् फलान्याहरामः । कलेशिता चेत् कलेशमपनयामः । मन्ये कसि देवी त्वं हुं
अमणायावतीर्णा ।”

“कस्त्वं पौनःपुन्येनैषु दिनेष्वितोऽप्रलोक्यसे ?”

“देवि ! नाहमस्म्येतदेशीयः । द्वित्रैः सप्ताहैः पुण्यशरण्यानेनैतः समगतोऽस्मि
निवसामि च पार्श्वे भीमिन्द्रेक्षदेवस्याश्रमे । मनोविनोदय कदाचन विमलपुरं क्व ।
वात्सल्यपूर्णं देवेन सहयोगी हरिणशिशुरयं मया प्रदत्तः । मार्ग एव श्रीमत्या यत्र
विद्यतेऽतः श्रीमत्या दर्शनं द्विजिजातम् । यदि कापि भुक्तिचेत् हन्तव्यं
नवीनः । अधुना देवस्य सन्ध्यावेला विद्यते, यत्नोऽयं हरिणशिशुरितस्ततो प्रगृह्य
अतएनमप्यश्च उपवेद्य शोभं यास्यामीति बुद्ध्याऽहमेवं प्रहीतुकाम आसं च
श्रीमत्या वागेन व्यापातः कृतः । अधुनाहं श्रीमतीं प्रसाद्यानुचिताचरमाय यामि”

स च हरिणशिशुना सहैवाश्रमाश्रितमप्रतीक्षमाणो यथा प्रचलितस्तथैव मने-
रमोपेता । कमला चान्वश्ववारं पश्यन्ती स्वभवेव तस्यौ ।

“कमले, स्पष्टं कथय युवयोर्व्यवहारेण किमपि ज्ञानुमनुमातुं च शक्यते” मनोवर्ध-
चे । कोयं मनुष्यमात्रनिषिद्धमज्ञानोपवनशान्तं निरशङ्कमप्यासौ । अयं !
विचित्रोऽसि, अज्ञीव वैलक्षण्यमापादयसि, त्वं यदि देही स्यात्स्वत्कर्म कौजुमार्गं
शक्नुयात् । प्रातर्विवाहवार्तमैवास्तां सखीः समवारुषत् सैव कमला धैर्यपसरेण स्मरे
लक्ष्मीकृताः ? स्मर ? स्मर्तव्यः कृतोऽपि पुरमिदाऽशेषे आपदि अगतिः ।

हर्षेऽपि विषं मयति सौन्दर्येऽपि गरलम् । तव दर्शनसमकालमेव दूरोऽस्य प्रसक्त-
चानुरी मग्ना, कठोरं मनः सुन्दरीदर्शनेन हुतम् । तोमस्तोमसहमपि वपुर्वरे ॥
करिकठोरोऽपि करोऽकम्पत कदलीदलमिव । य उल्हसमानं केसरिकिशोर्ला
भूमिराशिनं व्यथित ॥ त्वां प्रेक्ष्य स्खलद्वायः सज्जातः । येन कदापि गतेन्द्रियम्
निवारिणो हरेः शुभमप्रणाश न मुक्तं स एवायं स्वेदप्रातलवापराधमविगत-
त्वामेव समाममिश्रत ।

जाने विलङ्घनोऽयं स्मरस्तस्य सीला थ । अस्यैव कृपया मोहिता दत्ताः सुधां विहाय
मयं पपुः, भगवान् विष्णुरपि तुलसीप्रेमपिपासुर्लङ्घं रचयन्मास, कृष्णोऽपि राधा-
दादाराधनाजिरं विदधे, मोहिनीमत्तदिशवोऽपि विष्णुधिरभिषेद, परन्त्वज्ञातकुलसमावे
नवीनेऽस्मिन् युनि त्वदीयो भवोऽनुक्तचारतां प्रकटयति । कमळे ! क्व सीता सि ॥”
सा चातुस्तनयधमाधरोह ।

*

*

*

“अमात्य ! कमलाऽनानन्दितचित्ता, शुभ्यमानसेव सालसममना, शङ्कितहृदयेव
प्रक्षिप्तेन्द्रा, कोणे पश्यन्तीबालकपनिहोधान्यमनस्केव वर्तते । केयं दशा पुण्याः ।
परिणयस्यावस्थोपस्थिता । यश्चैतस्यै स्थिरीकृतो वः सोऽपि न लब्धः । मत्समीपं
नाधिकं तिष्ठति, प्रातःकालिकं बन्दनं विचाय भीतेवापसर्यति । ह्यस्तु कमलाऽऽयतैव
नहि, धृतं तस्याः शिरोर्तिविद्यते । किं करणीयम् । विभोऽस्मि” उच्छ्वसता रामोचे ।
अमात्य—“नहि देव, धाम्नां वापम् । जाने विनयशालिनीं सपत्निनीं मुग्धां
कमलाम् । वयःस्वभावोऽयम् । यदि कथनं व्याधिः, सम्बन्धेऽस्मिन् सर्वं विनश्य
सूचयिष्यामि” ।

*

*

*

अयं विमलपुरसंस्करणं पुनः पताकाभिरीज्यत । पुनः सैनिकावलजिर्नौयधितयामास ।
पुनर्नारीनेन्द्राणि वातायनेभ्यो बहिर्निपेतुः । पुनस्तस्यकोलप्रदलो दिगन्तान्मुहरयामास ।
पुनर्वकुलगन्धो घमरानघ्रमयत् । पुनर्वायानां ललतलता जगतो नीमवतां बभञ्ज ।

अपराह्णकालः । राक्षोरम्पालस्य सभास्य जनसमुदयेन व्याप्ता वर्तते । राजकुमारेण
हन्नुमुद्धे सिंहो हतः, बालोत्साहवर्द्धनं दत्तवः । अस्मिन्नेवोत्सवे धातुष्काणां परीक्षायै
त्रिवर्तिक एकोदीपः प्रज्वलयिष्यते । यः कोऽपि धातुष्को मध्यमां वलिक्रमपरदृष्टिपति,
अनिर्वापयन्तुमे स सविशेषं पुरस्त्रिष्यते ।

अयोध्याः सार्णसिंहासनप्रीने शक्ति, दक्षिणतथ पीठस्थिते राजकुमारे, राजकुमार्यां
कमलार्या, परितश्च यथा रूपं स्थितेषु मान्येषु सनुपस्थितेषु च बहुषु धातुष्केषु, द्वाभ्यः
प्रविश्य त्रिवर्षं व्याहृत्य “कथितस्वस्य धातुष्कां स्थापयन् द्वावदेसे तिष्ठति, अग्रे देवः
प्रमाण” मिदयाह ।

“प्रवेशय” — दत्ताज्ञे महीपतौ प्राविशदेको युवा ।

युवासौ महाजनकीर्तिपुञ्जोद्भूताखिला इव तेजस्वी, सुरभिचिह्नैः कुक्कुटैः
लोलविलम्बिभिः कचेनिचितशिरस्कः कटिलम्बमानद्विधारः सिंह इव निर्भीकः स
रमणीयोऽस्ति । यस्य प्रलम्बसर्गपट्टाश्मीचन्द्रशकलानुकारी, सलाटपट्टः, परंतात्म
मेघपट्टजडमुदबान्धवचनपुरं मुखां, ईषदुग्मिषच्छमश्रुहस्तरोष्ठः, विस्तृते कर्णे, ब्रह्मे
न्नता ग्रीवा नासाय, विद्वमारक्तोऽधरो मांसलौल्यग्नौ, परिणाहि पीनमुग, इरावृत
करिकरापतसहं सविष्णुगलं महतां सूचयन्ति । समासद्भिः श्वारवीरसविर्मिताक
स सश्रेम प्रैति । ततोऽपि परमरम्येऽरिम्न युवि स्पृहयती निपपात दृष्टिः । अन्ध
सयोरालापः—

महापुत्रः—बोरवर । कुतः समागतमम् ।

पुत्रः—देव, सुहृदमरमन्नगरं राजपुरम् । पुष्याक्षरन्यायेनेनः समागतोऽस्मि ।
अथ धनुःकाणां परीक्षायेऽनस्य प्रत्युद्योगान्दानुभूयै समागतोऽस्मि ।

महा०—किन्ते नाम ।

पुत्रः—देव । राजापरः ।

महा०—समागच्छितं पटवै करिष्यमपि कार्ये ।

पुत्रः—मां महापुत्र ।

महा०—केन केन ?

पुत्रः—अथवाः सर्वेन ।

महा०—अथ जयिष्यस्यस्यने सर्वज्ञेन ।

पुत्रः—(विस्मयितः इव) देव शत्रियोऽस्मि ।

महा०—(अमनं विन्दितान्) तद्विच ।

अनेन धनुःकाणां परीक्षा आरम्भः । यदातदाभवन्तर्हं संप्रत्यक्षं प्रकटितं
अस्ति, इति निर्णयः कल्पितः । अन्धमन्त्रं प्रत्यक्षं आगतम् । यदातदा
देवस्य दण्डेन कल्पितदेव विजयमाप्नुयुः । एतन्नु संप्रत्यक्षं कार्यम् ।
पुत्रासौ संप्रत्यक्षः । पुत्रोऽसौ दशैः श्री राजमन्त्राणां, अन्ध विजयः ।
संप्रत्यक्षं विजयमाप्नुयुः ।

महाराज इज्जितेन शशधरमस्वयत् । धानुष्कैः सेष्यं सान्द्रतं बोधित एष लघीयसा हस्तेन
शरासनमाकृत्य शरं व्यसृजन्नित्वाप्यथ मध्यमां वर्तिकां ।

महा०—धन्यो धन्यः । नितरां प्रसीदामि । युवासौ विलक्षणो विचक्षणः । शशधर ।
नियुक्तस्त्वमद्य मृत्युः । समाम्बवे तवोपस्थितिः प्रतिदिनमवश्यम्भवेत् । कौशाप्यथ
प्रतिदिनमस्मै शतं मुद्राः प्रदेयाः । अथ पुरस्कारभूताः स्वर्णस्य सहस्रमुद्राश्च ।

“देवस्याऽऽज्ञायाऽहमपि किञ्चिद् विवशामि तुष्यतु देवः”—उत्थाय राजकुमारयोचै ।

महाराजः—आम् आम् ।

कमला०—धीमते पूर्वमेव निवेदितवत्यस्मि यदहमेकदा प्रातरेबोधनं गता पद्यानन-
प्रेक्षिता प्राणाय साक्षात्पमयाविधि, तदाऽयमेव युवा कुतोऽप्यागत्य मम्मरक्षयत्, अदत्त-
परिचयः । पुरस्कारानभित्तापः साधुवाइमप्यगृहीत्वाऽप्यवृत्तः । स एवायमद्य धानुष्क-
परीक्षायां प्रथमभावातः सविशेषमस्मामिमेतत्पथः । धीमतामाज्ञायाऽहमस्मै प्राम-
पयकं पुरस्कारोमि, प्रार्थये च यदयमेव वीरो मनुष्यस्य प्रधानव्यवस्थापको भवेत् ।

महा०—अहं मनुष्योदयामि । भवनस्य हृत्प्राज्ञा शशधरस्याभासः स्यात् ।

* * *

“कमले, केयं दशा, कापि शान्ति न लभते । सर्वं दिनं सर्वां विभावरीष विचार
एव व्यतियापयसि । सावधानं न कृणोषि, उत्कण्ठितेव दरीदृश्यसे । आचारैः कम-
प्यात्तरसि हस्तसि, उपलभयस्व । प्रातः सखीभिः कथं कथमप्युत्साहिता ताम्यः संश्रु-
तस्तेर “कोत्साहलं धीशु” नीत्सरेदे धीरे एषाकिन्येव यत्स्यात्पुनरिति” व्याजेनेवो
कथनमुपैसि । प्रतिक्षणं विचारयोनिधौ निमज्जेव प्रथमते । कौशिकीव सूर्यातपाद्
निभेपि यन्दिवायमात् । सुखमये मृद्यं दयसे । सामुद्रवं निविशसि दिवा स्वपिपि,
स्वप्ने हस्तसि, अस्पर्शधरं किमपि बक्षि गित्तिविधैः क्षिप्यात्मसि । रात्रौ भ्रमन्ती
तारागणयन्ती क्षिपि प्रलयसि । सलज्जेव दृश्यते करोतगली, शुको बिम्बायरो
मदराजलसेव तनुत्ताऽऽग्नेषु गौरवम् । स्पष्टं निरुप्य केयं स्थितिः” ।

कमला—नहि नहि । भ्रमामिभूतासि मनोभमे, ऋतुरिववर्त्तनप्रन्देयमस्तस्यता,
नान्यः को विशेषः ।

धनो०—अने, अहं धीमत्याः सहचरंस्मि । गौरवत एव मवत्सः भवोदशा

मनोव्यथाय सम्यग् बुध्ये । नेष्टुपनिर्वर्तनं कदाप्यनुभूतम्, विभ्रवं सूच्य मनसं यतिष्ये । अहमप्यभिलषाणा एव । सूच्य किमस्मिन् यूनि तव विशिष्टा स्पृहा !

कम०—जाने नहि का स्पृहा नाम । किन्त्वेका मधुराऽनभिव्यक्ता श्रद्धेव तस्मिन् मम वर्तते । यतदिनेऽहमुपवनं गता दीर्घिकायास्तटे शिखतलमुपविष्टा किमपि विचारयन्त्यासम् । पार्श्वे एव मदीयः प्रियः सहचरो हरिणशिशुरप्यासीत् । अहं शिशुमनो विनोदयन्ती जगज्जालेन विभ्रुष्य मानसं सान्त्वयन्ती कदाचन तं हस्तेन पृच्छन्ती, रोमराजि निपुणमोक्षमाणा, दाडिमीबीजार्भा तस्य दन्तर्पादि गणयन्त्यासन् । मन्दं मन्दं मारुतोऽप्यतेसम् । सान्ध्यगगनस्य लोहित्यं दीर्घिकायां सिन्धुप्रवस्य भ्रममुत्पादयति स्म, पवनप्रेरितेषु तरङ्गेषु शिशोः प्रतिनूत्तिनुस्मेयं कान्तिं प्रकटयतिस्म । नितरां चञ्चल आसीद्वरिणशिशुः विचित्रा च ममावस्था । अहं दीर्घिकाश्लेन प्रसूतिमापूर्य हरिणशिखरे पाययितुं प्रवृत्ता । अकस्मादेव मम दृष्टिः सम्मुखीनसान्ध्यशकुनिच्छत्रवं प्रति प्रवृत्ता, एवमास्मात् प्रवृत्तिरपि विवरीभूता । शिशुभार्य केवलं प्रसूतिदृष्टिर्वावद्रे प्रासरत्, तावदेव स्थितिबन्धो गृहीतोदीर्घिकाया । शिशोस्तरणशक्तिदुर्बलाऽऽसीद् वापीभित्तिश्च बहिरवने नाविच्छेद्य क्षणेन खिन्नोऽभवत् । अहं म्रियमानं तं नावलोकयितुमराधम् । अस्तवशिखाभिगवसाहसा, प्राणिप्राणनेयव्या वाप्या निरस्य शिक्षासम्पादितगता विविधैः प्रहरेर्जलमवापाधि । एषुदिनेषु मम सारथ्यमुन्वाहो मनःस्थितिश्च न शोभन्, वरमाणि च विशृङ्खलान्यासन् । परं तथाप्यहं शिशुमप्रदीपं किन्तु कण्ठलोनीकं सम्प्रदाः ॥ सारथेव ममइत्याजिगृह्ण । एतेषु दिवसेष्वहं जटे विहरन्ती नास्मि । स्वयमेवैव समयेन ध्रान्ता । आर्द्राशष्ठी मां पाशवदमन्त्रसीत् । एषा ईशगणा कथमस्यां सुदोषायां दीर्घिकायां पारमाप्तयामीति विचार्य मम मनो धैर्यमवहन् । अथ जीवनारा मद्गता बडेन “प्रत, प्रत ॥ निमज्जामि, निमज्जामि” इत्यबोधत् ।

अध्वनीयपटनाश्रीयसः पटवं 'सटपटस्य को जानीते । विस्तेष्टो दमस्तीत्येव कृपाणां रक्षितं' इत्येव तस्य बर्हिषि कर्त्तुं भीतिरेवोऽपि । तदवनेव पुत्र

भगवद्रेषित इव भट्टित्यागल मां हरिणव कूलमानीय, तार्णपार्णरमाप्रोः प्रयन्मं
विधाय मामुद्बोधितवान् । राहुवास्तृते इव सुदुले दुर्बाले मूलच्छिन्ना कदलीबाहं
प्रयत्नाऽऽसम् । मृगशिखरसि सम्भवोऽधोऽन्तेवासीव पाद्वे जासीत् ।

[illegible]

“तपस्विनी तदणी कामकेलियत्तयैरण्या मुग्धा, मृचालविशदयमा छजीवेव मणि
पुदिम अभूविषणुक्ता, वामरत्नविन्यस्तज्योत्सामीश्वर भनपिगतमिद्वस्तन्दा रहस्तप-
माधिरय छिमि विचारवन्ती मध्ये मध्ये उत्थाय गवाधतो ह्यस्ती नभस्तः कमपि
गवेष्टवन्ती वर्तते कमला । अहह केय दशा राजकुमार्याः”—उद्यानपतिकया
बिन्दितम् ।

“इत्तु, अग्नेर्वरुणा दद्यामः करणे मुह्यन्मसि । अमृतमा विगीतौ वचनीयता-
वाचाहमेव प्रथमं निदानमसि । इत्तु । वृत्तसि । पार्ष्णिपत्तरव सविष्टमवसानम् ।”

“इयं पत्न्याः उपायास्तु दत्तमिति । स च सर्वज्याहनि यमिनीषु मैत्रयो-
मैत्र्याण्युपस्थितममति ; तस्य हृदयपुत्रमिव येतः हृदि स्थितिर्नास्ति । सर्वे
दिग्भानुदग्धमेव वासयति । मित्रप्रेतु वासः अभिविद्यस्तं, अवारतं विचारः अपरे सार्वनी,
महासातामभवति, तत्प्राप्तस्तर्जयिरेवम् इव तत्स्थिति दिग्भानुं हृदिधर्यां वाति ।”

गणपतुर्गणेशोऽस्तु । एतेन एवदा शेषास्तथा ह्येव समाप्तम् । शता-
 प्रमुखास्तमित विरुः कर्मगणपतः सगुणः । शक्तिः एव साग्यं विधि-
 विरुः सैवमिह सती । प्रदेहः पुष्टिः सगुणः निरतिः प्रहसि ॥ २० ॥
 वामेनद्वन्द्वमुत्तर । निरतिः सगुणः सगुणः । शक्तिः सगुणः सगुणः ।

ध्रुमद्वयमण्डपनमपि विभाव्य विशिस्तनयना वृत्तिमुजः प्रहरिणोऽपि तन्द्रामिन्दुधन
मध्येमन्दनिद्रं श्लिष्टमित्तवः पतन्तो जागरणं लभन्ते ।

परितो रम्यपुष्पाटिकं विशालमदो भवनम् । द्विपदशननिर्मितविचित्रविचित्रद्वयं
शोभन्त आवासमवनानि । अभिमिति स्वर्णपरिवरणानि, भित्तिप्रतिष्ठितद्विपदन्तः
प्रतिष्ठितानिः महान्त उत्तरेसो भूयांसो मुकुटाः, उपर्यधितस्येतशोन्निहतिता
काचभाण्डानि वलयौ विटपाः शोभां संवर्द्धयन्तोऽवलम्बन्ते । शेषपुष्पनसरास्यौ
शोपाः सौख्येन सह प्रकशन्ते । अभितो भवनं देवानां, अनुकरणीयकरीजानां
प्रतापप्रभृतोनां राज्ञां सज्जोवानीव चेतोहराणि चित्राणि । भगिमयमुष्टिकाप्यलमरैः
विरमृताच्छादनानि सुगन्धिद्रव्याणि घण्टतर्पयन्ति । नागदन्तेषु शुक्लपिस्तारस्य
सौवर्णानि गृहाणि निम्नरमुधामयूरामयूखैः राजतानीव प्रदयन्ते ।

अथ पवनपयपार्श्वप्रभृतां, तन्मुखमयूषाञ्जितवन्द्रेणेव द्विरक्षदनेन निमिषवदुपरे
गगनागारयत्केनपटलायितप्रशस्तपटले, विप्रितकौशेयोत्तरच्छदे शौचवर्णे, पद्ममिव पुष्पतः
पटले, वरदामिव हंसपञ्चती पद्महाङ्गे दायनां ददर्श कमलाम् । कमलानुवचन
तन्मुगमुपमां निरीय गृह्यन्तो चन्द्रिकाऽयूषां छत्रि विप्रयते स्म । सुतरेषु कमलप्रतिरूपि
प्रकृतिं विदुस्ते स्म । रक्षा कौशेयी छाट्टी तस्या अत्रमादित्य गुप्ताऽऽसीत् । सत्येन
पादपञ्चिनोभिद्रिता मङ्कलामरकामिनी कमलीरथाय सय-सगायमात्रभूषणं रघुपुत्रं
शिवमूर्तीं प्रियोदन्तप्रान्तिप्रदृश्येच्छकप्य बभूवसमवां सुप्रशितिम्वेन रिमतेन पूषपन्ती,
शृणालकौमलाभ्याकराम्यामादृष्ट्याऽऽमन्वी तत्रोपवेशयन्ती भित्तिमङ्कयतः सौवर्णी
वेष्टिहनेन निःसार्य तत्र शृणालां पूमानां संकुल्या शङ्कराणि विधान एकपुष्पाग्रगुण-
शङ्खुप केदारगगनदन्तद्वित विचय्य मगधपट्टिदलं कीटिहं लक्ष्मणेन दशनी "छात्र
मनेरेमे । क ददन्तः" धरेनां विदामबोवत् ।

"धैर्यमाधर्य मरं भूवयामि"—

इतः समपाते छात्रधरेऽदमेकदा तस्य वागवचनं भूतवागवचनम् । मता धैर्येति

कदम्बन मिद्वेषराधने बहुशय भूताभावे मरिचि । लक्ष-

कायमपार्श्व विदुषां प्रकल्पसीत् । वृक्षपुष्पान् पदार्थान् लक्ष्य-

मर्दं धैर्येन धैर्यमूनी मन्त्रा एष्यममर्षोत्पन्नद्वयम् । एवमिद-

लोहपत्रं दिश्यान् पुस्तकानि दैनन्दिनी, समाचारपत्रं मञ्जीपात्रं ऐतनी वञ्जीः-
 तिमन् कोणे च उपनयनं व्यवस्था । अहं हजेन्नेह सर्वं वीक्ष्य दैनन्दिनीमारुणपटम् ।
 सैषा दैनन्दिनी मासचतुष्टयेनारब्धाऽऽसीत् । १९४८ प्रतीपतेरस्य मन्त्रेणैव मन्त्रादप्यस्य
 वृत्तमेकस्मिन् दिनेषु लिखितम् । इतराद्यस्य च वृत्तं प्रतिदिनं विनम्रताऽर्चितम् ।
 माघोत्तरायणं सप्तमिंशत् वर्षायां राज्यमप्यस्य राज्ञेनैवैवैः पुत्रपञ्चोऽभूत्, सौमित्र
 यौवराज्याभिनेकैरेव आखेटार्थं सिद्धिदानुषासिकः सहायप्राप्त्याप्य मर्त्ता पठोऽकाशः ।
 दिनप्रवानन्तरं चार्थं मणोहमनः त्रिदशैरेव निष्कर्षितं उपर्युक्तम् । अत्र ऐतनेन
 सर्वादिशामिनी यथा त्रिदशैरेव प्रकृतिः । उत्सवपेन विमलपुरेक्षणाय समागतेभ्यः
 सिद्धात्तव रक्षा कृता । अत्र ऐतनेन स्वयं सन्दीप्तं प्रयुज्यम् । धातुकाशीशायः
 समुत्तीर्णतानन्तरं प्रतिदिनमेव दैनन्दिनी लिखितेति “अद्य” “अद्य” शब्दः प्रतीयते ।
 एकं प्रतिष्ठापयामि महाराजहलाउरेर्दत्तं तत्रैवगीद् यस्मिन्चन्द्रेण एव तव
 विवाहस्य पण आसीत् । एव चोपैव ऐतनेन स्वया विरतेविशदं तस्मिन् विद्या-
 मर्त्येति येन मम कोबनवोर्वर्षं रात्रिभूम् । अलुलपादि तव इत्येव विचार्य मम मन
 आनन्देन पूर्णम् । उत्कृष्टमप्यस्य धैर्यं कृतम् । आचारा सर्वमुत्तमानुभूतानि
 कम्पता करेण ममा तत्रैव पुस्तकं न्यधावि । सोऽयं, यस्य त्वं दर्शनात् प्रागेव भूरिभूरि
 प्रसङ्गमाकर्णितवती, यस्य च वीरतां श्रमवत् बहुधाः प्रेरितवती, देवेन तव पाणिप्रेतस्य
 कमलकमनीये करिकरकठोरे करे दानुं विरचितोऽस्ति, यस्य च चरणदोरागञ्जीवन-
 सर्वस्य निधाय लोकेदवेद्विन्दुन्द्विदलनसुहा तच्छावरेणार्जपृष्ठा च त्वां चारुव्यति स्म,
 समुद्रिष्यकाटप्रवेशोऽयं समरोऽसुर्यमप्यत्वा त्वां विजरोति, स ह्युद्धमानसार्चिचल्लो
 भावी मर्त्ता चन्द्र एव शशपरोस्ति” इति ।

प्रेमाभूणि दास्यन्ती वाण्यावरुदकण्ठा कमला च त्वां वप्रेम आलिङ्गि ।

*

*

*

चतुरस्रं वयन्तः होलिकोत्सवश्च । स्वच्छन्दीतमम्बरम् । नातिशीतोष्णो वातरानुं
 सुखयति । उदयो महता प्रयासेन चयतमोऽपहन्तुं प्रयतन्ते । राजेवाकृतचारान् विश्रम्य
 सैनिकान् घृतमन्दमोरस्यैवेतोऽप्येकमन्तोऽपहन्तुमुपस्थितधन्वः । राजतेजानैरिव चित्रणैर्दृश्या
 नाशितलम्बः । विक्रमश्च तेन मनोमोदयता विजयेन चन्द्रवादमिव वितरद्वदिव

सर्वप्रगात् । विजयपट्टद्वयानमिव चक्रुर्नवोदा वलयनूपुरमणिमञ्जीरशिञ्जितम् । नितान्दे
प्रसुप्तकान्तावसनध्वजच्छेदेन सुवने विस्तारवामासेव विजयं वायुः ।

अद्यतनेषु दिनेषु सर्वत्र भङ्गाभवान्या सप्रेम पूजनम् । साहि पट्टयकवेलववतर-
द्राक्षाखाससबीजपयस्कनकुलदलमिथा मिथेयदुग्धसितप्रासजिनी, अङ्गिनां सज्जमानोद-
विनोदं मोदयति । सम्प्रत्यहिकेन आद्रियते आसन्न आसूयते, निकुञ्जेषु गङ्गाया अनिमूर्त
सेवा । गुलालस्य कथैवका, याया बोधिलोक्यते गुलालरचितेवाभाति । आरकवासक्या
ओनिर्विशेषं पुरुषा विदूरतो वीक्ष्यन्ते । बहुविधरागपूर्णं निर्मरैर्जना जगदेव रञ्जयन्ति ।
वराकानां गद्गर्मानामधत्वे गरीयसो दुःखस्य समय उपस्थितः । एते यत्र वारि भ्र-
कूपनिपाने निपतितगृहकोणे, इमशानगृहे वाऽऽत्मानं तिरोभावयन्ति तत्रैवैते नागरिका
दुर्वाला एतेषां वराकाणां पृष्ठं न हन्यं कुर्वन्ते । साज्जमाना धान्यमाना रेङ्कारादेवान्मान्
सहयोगिनः सूचयन्त इव ध्यायां प्रकटयन्त इवाभितः प्रेक्ष्यन्ते । अस्लीलशब्दैरनुकुञ्च
मानन्दसाधायमनुभूयते ।

एकतो मनुष्या महता चर्मनद्धेन ढक्केन सहोद्दोकारं कायन्ति, इतरतश्च कर्मिणः
सवल्यसणत्कारं तारं गायन्ति । एकतो युवानो मध्यवृत्तसुरजा वत्सल्यासेन स्थिता
दण्डदण्डेन दण्डदण्डेन वादयन्तो गां दहदहयन्ते । अन्यतश्च बपट्यो यौवनरष्ट्रा वचसा,
वाससा, निरीक्षणै, भूषणैश्चलनेन, गमनेन, ह्रासै, हसिनोद्गमन्यः खेलायन्ति । क्वचन
कादमीरागुरुपूर्णां सुष्ठिरामृदयते क्वचन भस्मगोमयगोमूत्राणि निषिच्यन्ते । प्रतीयते
सर्वद्वारसंभित्तां पाशवप्रवृत्तिं पुमान्नेषेण प्रमार्ष्टुं सज्जते ।

विविधकल्पा सविमाना सासथा समस्मभूषां चरकसंहितेव समौ होलिका । सुभृता
वाग्मतेन केनाप्यनुतरेण नावतस्ये ।

नन्दनविनन्दकेन, पादपातितचैत्ररथपरिमलेन सकल्पसंसारमुत्पन्नसारवृत्तेनैव कान्य-
कुम्भोद्भवेन त्रितेन्द्रियाणामपि प्राणमाकर्षयता, सुरमिलोत्तुपमिलिन्ददृन्दविहितविधानेन
निर्हारिणा इवेण पूरिता होलिकोत्सवाय परिकल्पतामवनं स्थापिताः शुभ्रमणिछविता नील-
रपश्मिता .तारकितमिषनमोऽनुत्तरयाः स्नानजलकुण्डिका विरोक्ष्यो भवन् भस्मयन्ति ।
समयेऽस्मिन् विगणय्य कमलिनीसङ्कोचशोकं रौलम्बदम्बेनारब्धा मंहतिरनुगुण्य-

इयम् । आभोदिना तेन दिवाः प्रोदुः । अन्तर्मुखि सौरमस्य प्रमथयित्वा पमिन्याः कमला-
मवनमरत्नं ।

अथ शिपनमोदतायां सततकूर्मतायां उदितहस्ततायां अमराः शान्तायां सर्वदिन-
आप्रेषु शम्पातायां मुनेषु निरालेखेका नीलता पवित्रः प्राशस्त्यौ ।

मयोरवा हर्म्येण कोणे कोणे साक्षाद् पश्यन्ती गतोपधमम् । सा च सत्वर-
मुपाय कुबरायन्वराऽऽह्वयमाणेन विपुलेन अवनस्यलेन मन्वोदरी पत्तश पाणिं सस्मितं
कुम्भारहणेन कराग्रं य ।

एकया भित्तियन्तायां काकुमुदो निर्वह आसन् । मनोरमयाऽऽह्वय जलेनापूरी ।
इः कमलमयि । कमलतो जलमात्र निरागच्छन् । दम्बोऽपि जलधरगणतकारं भुवे-
वद्यो निरालेखं तस्मिन् महीतवे सततजितोत्साहेन संयुजाः । विरं केलि बभूव । तेनामुना
सन्निपातलोकेन अग्रं परिचितं प्रतीयते ॥ १ ॥

घाघराः कवेः समाय कमलमकन्तो विपुलत्वेन विचारममोऽधोनेत्रः सत्तरं
सत्तरं गच्छतापीन् । प्राकटय मयुष्यद्विदुर्दृष्टम् मयुष्यतो दियुष्यत् । मुगनिपत्रं
प्रयुजापीन् तस्मिन् सत्तन् कृष्णेन सिति निवारितवान् । किन्तु सतीनामदृष्टावेन
सत्त निवारितनिष्ठः । एषः सतो सम्यग्मह—“सीत्तमेव सिद्धिहन्तारोऽप्य
असौदेन विजयतां वान्ति” असा च “इत्योऽपि सत्तोऽप्यस्य सत्तोलोत्सवे
सत्तमेव कमलायने सत्ततपयनाव अभिषेधोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।
कनकत्वेन सत्ततपयनाव अभिषेधोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।
इव तेना, सत्तोऽपि सत्ततपयनाव अभिषेधोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।
कनं वीर्य सत्ततपयनाव अभिषेधोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।

किन्तु मयोरवा तं सत्ततपयनाव अभिषेधोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।
निर्गमं विजयतां वान्ति” असा च “इत्योऽपि सत्तोऽप्यस्य सत्तोलोत्सवे

“सीत्तमेव सिद्धिहन्तारोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।

“इत्योऽपि सत्तोऽप्यस्य सत्तोलोत्सवे”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।

“सीत्तमेव सिद्धिहन्तारोऽप्य”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।
“इत्योऽपि सत्तोऽप्यस्य सत्तोलोत्सवे”मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरिक्तम् ।

शङ्खाकृतयो रामणीयकमहोदधेरारामस्य हरिताः कम्बव इव भ्रात्रन्ते । सन्ध्या वरुणः
 पुष्पाः प्रतानिन्यः प्रचण्डाक्षोस्तार्पं प्राश्रयः प्रतापय धर्ययन्ति । कचन कन्दर्पः
 मौष्ठाः क्रोड्वारं कुर्वन्ति, कचन च केचन उत्पन्नोत्पातरेकां केकाम् । कचन कुण्डलः
 कचन कोकिलकाकली, कचन सारसरसितम्, कचन हंसविहरितम्, कचन लज्ज
 काणामेणकानां वल्गितम्, कचन पुष्पवल्लीसमाच्छन्नपादपरितयेषु पातावगुह्यः ।
 गुञ्जन्मधुलब्धमुदितमधुकरनिकरभङ्गारः, कचन खेलघटकपुङ्गवः । चन्द्रिकावन्दनैः
 जलजातजलजत्रया विमलतला नृत्यगाधजला मुदीर्षा दीर्घिका पवनप्रतिपत्ति
 पार्श्वपादपरूरं हरितयन्त्याकर्षयति मनांसि । निशासु तारागणप्रतिमूर्त्या जलितक
 भ्रान्ति यस्या नोरं कामिनोशिरःपरिमलपरिमलितं सौरभसौन्दर्यसरस्वार इव फल
 इव रजतद्रव इव प्रतीयते । नागवल्लीदलधनुस्काणामु वेदिकामु पुष्पपर्वतस्यैव
 काम्यभुवीव शोभमानायामुपवनभुवि कमानुसारिश्चपटिपन्यासैर्विलसति क्रीडपुष्पस
 पादकुन्दुकपाणिकुन्दुकक्रीडनाय रम्भदूर्वः प्रदेशथ ।

फलास्तादलोलुका विदेशीया अपि कलविहारिणः पक्षपुटपूतपादप्रान्ताः क्रीडो म
 प्रचुरं प्रेक्षन्ते, हरिणो हरिणाः, विविधदेशासादिता विलेशयाः, कौशलेन सगरिनि
 धिप्राणि च । मध्ये य मवनीतमसृणधवलशिल गवाक्षक्षैर्जगति ससमन्वितव एवं
 मायं राजोचितसम्भारसम्भृतं विशालं बहुशालं हर्म्यम्, यत्र धवलोज्ज्वलपापानलमेकैकं
 वल्लभ्यः शिल्पिनी निष्णाततां निधाययन्ति । कौशेयनीलास्तरणास्तृप्तनिव मन्त्रवर्ण
 समानदूर्व सखीजनैः प्रणवप्रक्षिप्तशुभ्रकुसुमं तारकितं वियदिव क्षेत्रम् ।

समस्तशस्त्रशलाकुशलया गानविद्यावित्तया साहित्यार्थसाधनिष्ठातया धार्मिक
 शिष्यमाणा धनुषा मुशुण्डिकया लक्ष्यवेधने, करवालफलकमर्यादामु, जलतरणशरीर
 धावने मरुत्तरवायुयानादिपरिचालने कुशला कमलाद्रवैव निवसति । सिद्धोदरनील
 कस्तूरिकाकुङ्कुमावितरजोद्भासरत्नवट्टा कदाचन कनकमल्लदीमादाय धामुगम्

... आच्छादयन्ति सम मुपासमीरणस्तृप्तारः स्वोऽपि व्यटमन ।
 वरारोहाया नितान्तं नवीनं वयः, निपनेन्दुसमयति मुसे यौवनाम, मु
 ... कौकिलशोभनीयां छटाम्, तिरस्कृतविद्वसितोत्पलविलये ।

माने चतुरी अवाश्वरं हृदयेयमानन्दं प्रति ससृष्टे, कुचापि कस्यापि सुकृतिनः
समाकलित्रिपयेव प्रत्यहमेवमानमहोत्साहौ, बलीमासि मय्यं कस्यापि सुमगल्य सीपानं
सुभूरदिव, काव्यकलाकलापलापलापतिस्वस्वं, निरन्तरगाननिहतं मनोऽपि कस्यापि
मनस आचारोसुभूरदिव भुजलते कस्यापि गलादस्यस्थलेरुग्मे इव चले, तथापि
नाभुना मारप्रहृत्तिरहातप्रगयतस्वाका एतस्याः । सत्विकीमेवावस्था भजते यतः सा ।

*

*

*

अथ प्रौढमनोरमेव कुमर्मनेन संकुचितशरीराऽभवद् यामिनी । विप्राश्च
शब्दलमेरेख्यं जह्नु दिभक्त्याः । अमणवीक्षितायैवर्चमिष कस्यत्तं कुर्वेति पक्षि-
समूहे दिनेशामनतः प्रागेव, अन्धकारसङ्गमजिहीर्षति शोषितकिरणेऽङ्गु-
लस्यावेकमिष विक्षपयति धारप्रशदमासायेव शोतशीवे प्रारण्यर स्थित इव विमल-
विमले, सुसुमानोदमासायेव पीरे सति समीरे, उन्मुखपुनःकमिनी पूजामपिप्रम पति-
भूतेरिवलीयमानेषु गजनेषु, मास्मान्धकारेण सदैव संदरेत्सर्व इति भयेनेव
कमलक्षीतिमुक्तसुक्षेपु अनरेपूरिषतोऽभिषेकोत्सवसुषुप्तमुक्तसुषुप्तोभवाद् ।

अरुणिकरविशीपनपरिपूतं, परिमलगायपरिविक्तं सुखिसुखीतमनसैललने
ःहरश्चैर्भैमरेः कृतप्रमनं संवलं स्थिरयति पश्यताचेतः । सुवासारसलितभितीनि
पदाकावन्मुखमानग्रान्तानि आचन्दे निशान्तानि ।

राजतलमेदयरुतो राजनगरम् । कुमारचन्द्रोऽयमुवाच । भिषेक्षते । यस्या-
वदतमुवाचान् लोचिप्रताम्ब गामन्दो भजलं कामवन्दे कामिन्वः, वरवीर्य-
कारापि दिवर्गन्तो बरान् मुञ्चन्ति विप्रवेणवः ।

राजभवनन्वाद्य महेंद्रमन्त्रमपि परिभाषयति । सम्मुखे वास्य द्वात्रिंशत्साम्नेषु
विशिष्टरागस्तुल्यलविर्तं विमानम्ब मुदुमदुस्तक्यतिनेवम् । अभिविज्ञानं दोदुस्यमाना
मलान् सुमनातो प्रवर्त्तन्ती च सौर् सार्त्तर्जयन्तीशस्ते । पशितोराजभवनम्ब
शारदाम्बकतिभित्तरीरा बलिनः समर्प्या

विपुनरुदनपञ्चारे

विपुनः =

हरणमापदा, परं

भ्रमद्भ्रमरगुञ्जनमपि विभाव्य विशिप्तनयना वृत्तिमुजः प्रहरिगोऽपि तन्द्रामिमूढना
मध्येमन्दनिद्रं श्लिष्टभित्तयः पतन्तो चागरणं लभन्ते ।

परितो रम्यपुष्पवाटिकं विशालमदो गवनम् । द्विपदशननिर्मितविविधचित्रकवाटनि
शोमन्त आवासभवनानि । अभिमिति खर्णपरिवरणानि, भित्तिप्रतिष्ठितद्विपदन्तरेष्ठ-
प्रतिष्ठितानिः महान्त उत्तेजसो भूषांसो मुकुराः, उपर्यक्षितस्येतरोणिटहरितानि
काचभाण्डानि बाल्यौ विटपाः क्षोमां संबर्द्धयन्तोऽवलम्बन्ते । वेण्वगुरुचनसारवत्सो
दीपाः सौरभेन सह प्रक्षयन्ते । अभितो भवनं देवानां, अनुकरणीयचरितानां
प्रतापप्रभृतीनां राज्ञां सजीवानीष चेतोहराणि चित्राणि । मणिमयमुष्टिकावल्लभरीनु
विस्मृताच्छादनानि सुगन्धिद्रव्याणि प्राणतर्पयन्ति । आरादन्तेषु द्रुक्पिङ्गसारसार्णा
सौवर्णानि गृहाणि निपतरमुघामयूलमयूखै राजतानीव प्रेशयन्ते ।

अथ पवनपयपार्धप्रसृतां, तन्मुखमयूलजितधन्त्रेणेव द्विरदशनेन निर्मितचतुष्पादे
गगनापगापयःफेनपटलायितप्रशस्ततूले, चित्रितकौशेयोत्तरच्छदे सौपवह्ने, पद्मानिव पुष्पीक-
पटले, वरदामिव हंसपञ्चतौ पत्यङ्गाह्वे शयानां ददर्श कमलम् । कमलमुखवत्
तन्मुखमुपमां निरीक्ष्य नृत्यन्ती चन्द्रिकाऽपूर्वां छविं विप्रपते स्म । मुकुटेषु कमलप्रतिरूपि
प्रकृतिं विदुहते स्म । रक्षा कौशेयी चाष्टी तस्या भग्नमादिज्य मुक्ताऽऽसीत् । सुमेव
पादध्वनिनोभिप्रिता म्यङ्कृतामरकामिनी कमलोत्पाय सण-सणायमानभुषणं सृष्ट्वा कौश
प्रियसखीं प्रियोदन्तप्राप्तिप्रहृष्टदक्षस्य वफुमसमयां मुखविनिन्दकेन स्मितेन पूजयन्ती,
मृणालकोमलाभ्याकराम्यामाकृध्याऽऽसन्दीं तत्रोपवेशयन्ती भित्तिमञ्ज्वालाः सौरणी
पेटिकमेकां निःस्वार्यं तत्र भूतानां पूयानां शंकुलया शकल्यनि विधाय एलागुरुपद्मगुण-
शतपुत्र केदारमृगमदसहितं विरचय्य बागवत्यादलं गीटिकां स्वस्तेन ददती “कमल
मनोरमे ! क उदन्तः” धीरतां विहायावोचत् ।

“धैर्यमाचन्त्र सर्वं सूचयामि” —

इतः समायाते शराचरेऽहमेकदा तस्य बागवत्यां भूताकाममण्डलम् । मया द्विप्रैस्ति-
निर्णीतं यच्छराचरः कदाचन सिद्धेश्वराश्रमे बहुशय्य भूतावासे स्मरति । स्व-
न्निर्दं रमणीयं परं बागवत्याद् विदुस्तां प्राप्तमासीत् । धुस्त्रिधाचुर्वात् पदार्थः सारभ-
शोक्नयेरम् । अहं सौरनेन द्वितीयभूमी गत्वा एकमात्रासबोद्धव्यमश्रमम् । एतन्म

शेहमथ द्विप्राणि पुस्तकानि दैनन्दिनी, समाचारपत्रं मसीफत्रं ऐतनी चासीरेह-
रेमन् कोणे च शयनस्य व्यवस्था । अहं शब्देनैव सर्वं वीक्ष्य दैनन्दिनीमादय्यापठम् ।
तेषां दैनन्दिनी मासचतुष्टयेनारम्भाऽऽसीत् । एष्टं प्रतीयतेरम बस्तेखकेन मासद्वयस्य-
इत्यमेकस्मिन् दिनएव लिखितम् । इतरमासद्वयस्य च वृत्तं प्रतिदिनं विस्तरशालित-
मासीत्तस्य सारोऽस्ति यदसौ राजनगरस्य राज्ञेनदेन्दोः पुत्रयन्त्रोऽस्ति, रोऽस्ति
यौवराज्याभिषेकदिन आलेटार्थं सिद्धपृष्ठानुगमिनः सद्मयप्रत्यारस्य मयां पातोत्रातः ।
दिनप्रयागन्तरं चार्यं नयोक्षमलः सिद्धेश्वरेण निष्कासित उपचरितम् । अत्र ऐष्टके
सर्वादिशायिनी श्रद्धा सिद्धेश्वरे प्रकटिता । उत्सवधेन विमलपुरेक्षणाय समामतेनामुन
सिंहासक रक्षा कृता । अत्र ऐष्टकेन त्वयि शब्दसीष्टवं प्रयुज्यम् । धानुष्करीशायं
धनुसीर्णतानन्तरं प्रतिदिनमेव दैनान्दनी लिखितेति "अथ" "अथ" शब्दैः प्रतीयते
एकं प्रतिज्ञापत्रमपि महाराजहस्ताक्षरैरङ्कितं तत्रैवासीद् यस्मिंश्चन्द्रेण सह त
विवाहस्य पण आसीत् । एषु पत्रेषु ऐष्टकेन स्वस्या विपत्तेर्विशदं सवीर्यं विवरण
मलेखि येन मम लोचनयोर्ज्वरित्तरनिभूत् । अनुभूतमाहि तत्र हृदये विचार्य मम मन
आनन्देन पूर्णम् । उत्कण्ठास्पर्शं धीर्वशं पुतम् । आराया स्वर्गसुखान्यनुभूतानि
कल्पतां करेण मया तत्रैव पुस्तकं न्यपायि । सोऽयं, यस्य त्वं दर्शनात् प्रागेव भूरिभूरि
प्रसांछामाङ्गलितवती, यस्य च वीरतां लाघवव बहुशः प्रेक्षितवती, देवेन तत्र पाणिपस्य
कमलकमनीये करिकरकठोरे करे दानुं स्थिरीकृतोऽस्ति, यस्य च धरणीयोराराजवीवन-
सर्वस्वं निधाय तत्त्वैरवेदविन्दुद्वन्द्विदलनस्युहा तच्चतयेर्णजपृक्षा च त्वां चपलमति रम,
यस्यैवमाज्ञातप्रवेशोऽयं रमरोऽस्यैवमस्यां त्वां विकरोति, स शुद्धमानसपरिचितस्ते
भावी भर्ता चन्द्र एव शशकरोति" इति ।

प्रेमाग्रुणि सावयन्ती काष्पावरुद्धवृष्टा कमला च तं सप्रेम आलिलिङ्ग ।

*

*

*

अपुर्यं वसन्तः होलिकोत्सवश्च । खच्छन्तीत्यम्बरम् । नातिशीतोष्णो वातसत्त्वं
सुखयति । वडवो महा प्रयासेन चणत्तमोऽपहन्तुं प्रयतन्ते । राजेवाकृतकायांश्च विज्ञाय
सैनिकान् घृतकाऽमोरवर्णवेशोऽन्तेवन्तमोऽपहन्तुमुपस्थितयन्त्रः । राजतैर्वाणैरिव विप्रनैर्दलया
नाशितन्तमः । विदकाश्च तेन मनोमोदयता विप्रयेन धन्यवादमिव स्तिरदतदिव

“देवस्य यथा देव्या अप्ययं मानकृत् । देवेनोक्तं यदहं कमलां सूचयिष्यामि, अदत्तं
कार्यं विलम्बं मा कृथाः ।”

“हुं, अहमपि शुश्रूषे इदमनश्यतं कार्यम्, नो चेद्दानिः ।”

“किन्तु”—इतस्तज्जो वीक्ष्य चन्द्रेणोचे ।

कमला—(परित्यजेत्य) एकान्तम् ।

राधापरः—(सर्वासु गतासु) अद्य चरेण समवेति यद् राजेन्द्रपालो विनक्तुर्गिरि
मेकं महत् पश्यन्त्रं महतीं सेनाम् सज्जयति । प्रकृतः पराक्रमशालिसेनश्चापराजः ।
स यद्याह्नस्यति, निश्चितं सुन्दरतमस्य कलाकल्पस्य विमलपुरस्य विनाशः, सम्भवत्येव
पराजयश्च । तत्र देवस्येच्छा वर्तते दत्कोऽपि वीरवरस्तत्र गत्वा रहस्यमुद्घेयं तत्रैव
कार्यं विपश्येत् । सम्भाव्येत चेत्तदैव युध्येत च । कार्यायानुष्मं अयैका समाऽभूत् ।
प्रस्तावे प्रस्तुते न कोऽप्यभेसरो बभूव । महाराजो मयि बाधुः प्राक्षिपत् । अहं स्तुतव्यं
समाधियमाणः सर्वान् प्रतिज्ञातवान् यत् धीमतामाशिषा कार्यं साधयित्वा प्रतिनिवर्त्ये ।”

कमला—(साधनयमेव) नहि नहि, राजेन्द्रो माम्पापी दुष्टश्च । तत्र गच्छेन्मम
मामकीर्णं मनो विह्वलतां भजते तत्र गन्तुं नाहमनुमोदयिष्यामि । इतः सनातन्येव
पितरौ सर्वथा विरम्यतौ, अधुनाऽवश्यन्ती क्रियन्तौ स्तः । मुधैव समयं व्यतियामर्ष ।
यदि हृदये स्वस्वीयस्यपि किमुभक्तिवत्स्यं पूर्वमिदमेव कर्तव्यम् ।

राधापरः—दुष्टत्यनासाहृतसङ्कल्पः क्षत्रियः कापि कर्तव्यतां न भजते ।

कमला—किं कथयामि, अनध्वज्जगतेन विमूढास्मि, चेत्तः शिष्टाचारमपि कथं
यितुमिव वदते ।

राधापरः—कथमयं वैलक्षण्यं वाचि ।

कमला—धीमन् ! अहं ज्ञातव्यमस्मि यत् धीमान् राजद्वारात् युवराजः । किं
महाराजोऽपि रहस्यमेतद्वेत्ति ?

राधापरः—कथं भवती वेत्ति ।-----

कमला—धीमता देवनिन्द्या-----

राधापरः—आः कश्च । नहि, नास्ति बाधुनाऽवश्यञ्चता ।

कमला—कर्तव्यज्ञानां कार्यम् . .

वर्षेण, मासेन, पक्षेण, सप्ताहेन, युगेनापीति तु को जानीते ।

आगमने त्वरावृत्तेषां नो चेन्माघवीलतेव तिमममदसा, विद्योगेन दग्धा
कर्मवल्लरी कथावदोषः

यतिष्ये ।

नाधीरता मां मुयति । जयदीप्य एव रक्षकोऽभुना । देवो देवान्

* * *
एव सुवासितानि पुरुषवज्राणि समादाय राजकीयरजकः सरवरसत्वरं
हः, पुरोदैवः प्रमाणम्” प्रणिपत्य चरेण स्वाप्यशः समदेशि ।

तात्वा तं कथय यद्य सवै रजका राजभोजनमाप्स्यन्ति त्वमस्माकं
सत्कर्तुं राजप्रासादे निमग्नितः । समये द्वितीयकक्षायां समागच्छ”
देशि ।

समये परिमलसमाकृतलोकः प्रक्षिपतमुभयनेपत्यः करकर्ण्डेन पटुतां
रमन् रथ्या भित्तीषु सुगन्धयन् राजभवनपरिचरिणं प्राप्नो द्वितीय-
। “एहि एहि विराट् पटोसि, आगच्छ उपविश” इति वदति विभागाध्यक्षे
वशात् ।

गन्धिप्रप्यं कुतः समानीतवानसि, कुतश्चेमानि महाहाणि वत्सांसि”
तमपृच्छत् । रक्षकस्य स्वकीयानि वत्सांसि वासन्, स पृच्छामाश्रेणैव
विष्टो म्लानाहः संवृतः ।

साहसिकानां भीरुणि चेतांसि । अयन्तु सङ्कल्पमस्तवः सिञ्चो सुगूर्ध्व
न्द्र एव विद्योगिनिचरे सूर्य इव तमःस्तोमे सिद्ध इव गजजने, विस्फूर्जदुरिव-
र इवावीरवारे आवर्त इवाग्नीध्री, ऊर इव प्राणिनां कास इव देहिनां
समेप्यति निरुद्धमविभ्यन् आययन् विद्येषां मनांसि । परमयं सप्तको-
रिति विन्तपताऽप्यशेषोक्तम् —

रूपं सिधिलायसे ।

गन्, नदं वेपि यदेतन्नि धीमतां वत्सांसि, प्रातरेव कमलोपवनदरा

मामाहूयाह “यद्गूनि वासांस्यधुना प्रशम्य देवानि ।” राज्ञोभवने न सर्वदा मुञ्चते मह-
रौभाग्येनैतत् शर्णादेन दृष्टमिति विचार्य अहंताममेतद्वासो निदित्वा रत्नरत्नमात्रः परिव-
गतोऽस्मि । सोऽहं देव ! अहनेऽगरादा सङ्गुन् शम्यः ।

एव विवस्ममानो वज्रःपुत्तार्य “नहि नहि मा मैत्री” रितुक्त इत्यश्रुत्वा
सदृश्य भोजयितुं नीतः ।

*

*

*

“प्रभो, न माने...कोऽपि निदस्याःसुगुणार्जुनरत्नारिचयो मा स्थासीः क्षीयनेक्षि-
द्यानस्य समीप” मिति बहुशो वर्यमाणो विभी र्मा भाययन् भूतावासं प्रतिवर्तते ।
ए कुत्र मज्जति क्षेतेऽस्ति, भ्रमतीति किमप्यहं न जाने । अज्ञातजवपदस्य साहच-
मानवधर्म इति कृत्वा तस्य वक्ष्यप्रशङ्कने साहाय्यं कृतवत्यस्मि । हन्तव्या मायस्त्रिभौ
भवभरणसेविनी” इति ।

अथ लोलरकमीनिकसुयान्माम्निनी कोट्टपालहस्ते समर्प्य सशस्त्रसैनिकानाङ्गमन-
घुप्तं भ्रमन्तं भक्षयन्तं वा तमानेतुमिति ।

“देव, आज्ञप्ता वर्यं भूतावासं गत्वा पिरिगुहसुप्तं केशरिक्किशोरमिव कान्दर्यं
नरभ्याघ्रं प्रेक्ष्य तत्प्रभावपरिभूता मूढा एवमुत्तपादध्वनयः प्रत्यावर्तिताः । देह, सोऽहं
राजेन्द्रपालविषये कृतप्रतिष्ठाः कदापर एवासीत् । देव, कोनाम यमेन रमेत, मुवन्मपङ्क-
कालाहि करेण कृतयेत्, केमूढ उल्लोलसहस्रं हिंस्रसङ्कुलं पारावारं प्रतिरो-
मत्तगजेनाजि रचयेत् सुमुक्षितं सुप्तं पद्माननमुक्षिदयेत्, अतोऽविदितसमावदण-
रमो विगतनिद्रं कर्तुं”मिति, सैनिकैर्न्यवेदि ।

“आः गेहेश्वरा भीरव औदरिका अपसरत आत्माः” इति कुडो गुतचरविभाष-
प्यक्षोऽमिकोट्टपालं चक्षुरक्षिप्त् । एव मनोमात्रं श्रुत्वा, गत्वा च तत्र विराट्पदं
सूर्यातिपतसमपि सुरभिपुष्पमनवीजितमसाद्य भूतावासं शून्यं पर्यट्टं पत्रेषु लिखितं
गीतिं, दैनन्दिनी चमपेटिकयाप्यत् । स च सर्वा सामप्रोमादायाप्यज-
न्यवेदयत् ।

अप्यक्षय सर्वाः सामग्रीः सुसुपेक्षिकया प्रेक्ष्य क्षणविकारेण सह मन्दिर-
समीपं प्रेषयत् । मन्त्री चापरेकुः महाराजनुगम्यमावृत्—

"क्षमस्व देव, नरेण पादोऽपि विचार्यै क्रमणोयः । भविष्यो ह्यसंस्तुतागरद-
भक्षणम्, अनम्रिपातं दहनम् । अलक्ष्म्याश्च निषावम् । विचारो हि भूमिर्धरासः
धिया जीवन्त्य मर्यादायाधः । युधिष्ठिरप्रभृतयः प्रभृतयः पुरा किल विचारेणैवाप्यासया-
माद्युगज्यम्, अविमृश्यकभिरां कृते सतोषं शोषं विदमः । महाराज, यस्य
पराक्रमोपक्रमं, सौन्दर्यसम्पत्तिं बुद्धिदैववच धावं धावं हृष्यजास, येन सह स्थिरीकृतः
कमलाविवाहः यस्मै तिलकोऽपि प्रेषितः, यस्मै मर्दमिह्रेण न्यनृतपरपरिवर्गोण,
प्रणे स्मणीयनाम्ना, हिरण्यनाचारेण तप्यते दिवानिधं महाराजनवेन्दुना, धूमते
दोषलोचमवदन्ती यस्य कनकी नितरं क्षीणा, सोऽह्मिह्रेण न लक्षितो न-
निदितः, पादाम्बल इव न कार्यं कृतः । स एव वीरवर्णनीयवीर्यस्य राक्षो
नवेन्दुवर्तनः पुत्रो विक्रान्तिशारदधर्माधीश्वरमुखचन्द्रः शाश्वतत्वेन एषपुरवासित्वेन
प्रकाशितमप्यर्थं चवनरचनया तिरोदग्द् राज्यकार्यं प्रसाधयितुं राजेन्द्रपालपुरं गतः ।
पश्यतिवर् धीमल्लिखितं प्रतिष्ठापनं गीतिश्च शाश्वतरनिष्ठा ।

हरसिद्धियात्रा

उज्जयिनी निवेशः

अगद्विस्तृतयसौराष्ट्रवेन्दुपालस्य महवीर्यमहिम्नो रामपालस्य श्वायतनः प्रस्तावः
परमप्रमोदास्पदं सम्पद्यते । श्रीमतोः सन्तत्योधन्धकमलयोधन्धस्यौ शक्तिं परां
प्रीतिं प्रकाशयन्तु युगोत्कर्षः । समये विवाहसूत्रसूत्रितं युगलमेतत् स्वर्गोऽपि न
विद्युज्ज्यात्मा; युज्यराष्ट्रायुषा निवया, कलया, क्रिया, सम्पदा यशसा । पूरयन्तु चे मां
प्रतिज्ञां परमपावनः परमेशानः ।

विषयमनु प्रमाणीकरोति—

रामपालः ।

विजयपुरम्

नियमनं स्वीकृते नवेन्दुपालः

राजनगरम्

रघुनन्दनः—

कुन्धपुरोहितः

अश्वत्थतीया

११८०

तत्त्र्येमाणमिवास्ति यद् यात यात्रिकाः ? दूरत एव यात, एतस्माद्भूवर्जनेन पृथिवीसमात्कूरूपदान्यथाऽन्धकारान्धीकृतान् बोऽयं कृपणदशोऽस्त्यति । पार्श्वे एकः पादो विपद्ग्रस्तेन कूपेन सहनुभूतिं प्रकटयन्निव स्थाणुभूतः स्वशरीरमापि चिन्तावितायां विचार्य । सत्यं महता प्रकाशेन सूर्यते मयं कस्मिन्नपि काले शालशास्त्राभिर्विशालो भवेत् । तस्यैका शिफा कृपकुण्डं विद्युर्मे निर्मता सेनाल्यन्तिकं प्रेम प्रष्टमति । धृषो भूलादत्तेन कतेनैव, पादः स्वसच्छादका चैन—एवमेतौ क दापि परस्परं दुहसम्बन्धावास्तां परन्तु सम्प्रति द्वयोरेव दशाऽतिसारकिणः क्षयिण इव चिन्ता । अन्तः शर्मचटकाध्वरचरायन्तेस्म । "वरटानां तत्र बहु बलमासीत्, अन्तर्भित्तिषु तेषां छत्राणि महत्या संख्ययाऽऽख्ययन्तेस्म । ते दंशेन कालपाशेन यमवृत्ता इव विष्विभृता आसन् । केऽपि तेषां निर्गमनसमये तस्य पार्श्वतो व टीकतेस्म । एतेषां सातत्यवासात् पथिवैर्यं प्रवेश एवापहत आसीत् । "पतत्रिका वराक्योऽपि तेषां मध्ये दस्तु जिह्वे व यथाकपचिजिह्वन्ति स्म । ज्ञां वारायतपुत्रव्य विदारां प्रसन्ना आसन् । कृपकुण्डकृतकुलायानां तेषामनवरतगुह्यः सर्वा काननस्थलीं मादयति स्म ।

विशृङ्खलानि शिलाशङ्खलानि सम्प्रत्यपि शान्यविभ्रमाय विस्तृतान्यासन् ।

एकः पथिकः शङ्कितचित्त इव यमपि कोणेऽन्वेययप्रिवेतस्ततो वीक्ष्य वस्त्र-पट्टकारेण शिलामेकां निक्षोष्य कूपवेदिकायामुपनिष्टः । मुस्तात्पतता स्वेदजलेन प्रवेगं प्रचलता धावेन चार्धं नितरां श्रान्तः प्रतीयते स्म । समुपविश्य रुग्णभावकम्बिनीं कन्धामेकतः संस्थाप्य पुनरितस्ततः प्रैक्ष्य शनैश्शनैस्कुटं नदितुमारभे—

बहुभिर्द्वैरेतस्य कान्तिसिद्धतकस्य साहाय्यमाश्रयामि, परमयं दुष्टः केवलं प्रबलमेव मानयति, तस्यैव मार्गां गायति । तस्मा एव गृहरदस्यमाह्वयति । तेनैव मन्त्रयति । अहह !! दुष्टेनामुना कमलया विवाहःप्रतिज्ञातः । अहो ! कथमिवैनं दुष्टं रङ्गं कुलीनाऽकुलीनं राजकुमारी वन्द्यकं वृणीतम् । हन्त ! येनानेन निर्दयं स्वप्तिपि परलोकपथं प्रापितो निपेणः । स्वस्वामिपुत्री सरोजिनी भगिनीनिवेशोऽपि दुर्नेत्रैर्वीक्षिता । समस्मिन् राज्ये चापूर्वं यज्ञः प्रसारितम् ।

१ चमकेड । २ टांटिया (पीतअमरः) ३ तितली । ४ (बह बहाने लगा—)

५ अः पूर्वं यस्य तत्त्व=अवश इतिभावः ।

प्रजापि निष्करणं लुण्ठिता बहुयः । सतीनां सतीत्वेऽप्यसदाचरितम् । संजं ह्य
 दात्रियदत्तकः कस्य कस्य सुखे भ्रातृ विधास्यति । आनन्दोत्सृष्टमुहान् कौत्सानुश्चिन्तयन्
 आशामव्यभवनेयुपविष्टान् कौत्साद्वर्णयिष्यति । प्रेमप्रयोधौ सन्तरतः कौत्सादिनर्प
 यति । परन्त्वहमप्येतस्य कान्तिसिंहदत्तकस्य विनृत्योऽस्मि । समुत्तं तमि
 निप्रयिष्यामि । तस्य दाय्या, यां पुण्यमुकुमारां मनुते, कष्टकाकीर्णो विवस्वतः
 तस्य मनोरथं व्यर्थयिष्यामि । अधुनाऽहमपि प्रतिबाने । कमला कान्तेरहमपि
 न भविष्यति न भविष्यति । किं कान्तिसिंह एव सौन्दर्यसम्पत्तिमिच्छति ।
 वयमपि वाञ्छामः, नहि वयमेव वाञ्छामः । अथैवास्मादमास्तादपनु दुः कान्तिसि
 एतस्य लालसाद्वयस्य । प्रणानविगणय्य, अपयशः प्रसार्य, कुसरीतिममिच्छत्सु, मर्या
 सम्मर्षं व्यसक्ततां व्यसनीकृत्य यस्व कार्यं साधयामः, स केवलं स्तुतु एव सत्तोऽप्य
 पश्यति, तदास्माकमपि कर्तव्यं यद्वयमप्युचितं विचारमामः (सम्मुखमवलोक्य) कतु
 अधुना वीरवरप्रबलौ समामच्छतः सावदिर्यं तिष्ठामि । (तयोरभिमुखं) मया इ
 विचारितं बहुसमयो भूतः, अद्य नागमनं सम्भाष्यते ।

वीर०—साधु । किमस्माकमपि कार्यकमः परिवर्तते । अपि सूर्यसिंह ! इह
 समायातः ।

सूर्य०—नहि । अधुनायामतु तेषां सूचनैव न समागता ।

प्रबल०—तेऽपि समागता एव । उपविशन्तु क्षणं ध्रममपनुदामः ।

एते यथा कन्धामुत्तायोपविशन्ति, तथा कान्तिसिंहोऽपि समायातः ।

इतथ कष्टगदनां पाठ्यं प्रेक्षितुकाम इवातन्द्रधन्द्रोऽप्याकाशं विमासवामस ।

प्रबलवरिदोषिते कूपशिलातले स्थितिमता कान्तिसिंहेन तेषां अभ्युपगत्यः—

प्रबल०—तदिने तु देव । अस्माकं कार्यमत्येनैवप्राप्तेन सिद्धम् । वीरवरदुष्ट ।

सम्प्रगवसरस्त्वेवं लब्धो यत्तत्रत्यो गत्रकुमारोऽसूचयित्वैव कारित आसीत् ।

प्रहरिणश्चेतस्ततो व्यप्राः समासन् । प्रचुरो राः प्रातः ।

कान्ति०—परतथ यदस्माकं सत्कृतवानसि हिम् ।

प्रबल०—सः देव । कान्तिबिद् भूयानि तु वीरवरस्य मधुलेयप्रचुरजनैः

१ अवहित्वा—आकारणोपनम् । २ प्रेप्रमः । ३ देता ।

एव । अग्राणि च बभ्रभूषणानि सज्जानि । देव ! आनन्दस्य भवद्विवाहदर्शने
हृतीच्छाऽऽसीत् । परन्तु स बराको विद्योत्तरप्रदाहमवस्थन् सृत एव ।

कान्ति०—(उन्मत्ता ॥३॥) जी नवीन एवासीत्तः । आघातस्य तस्य मार्मिक
भासीत् । परन्वस्माकं रुद्धे तन्मृत्युना काचन हानिर्नामूत् । वीर ! त्वमपि कृत्यं
हस्तवानसि ।

वीर०—समये ऽहं गतः परन्तु यस्मै कार्यस्य प्रेरितस्तत्तथा न कृतवानस्मि ।
विवाहमयः, सतर्का, सारत्रसारभयतः सज्जा गरीयसी सेना । यद्यलीयस्यपि सतदिहा
दृष्टिर्निवृत्ततेतद्वश्यं प्राणानामेव संशयः, अतः केवल मदर्थेव ...

सूर्य०—देव ! कमलाया दौशस्य एव स्थिरीभूतो विवाहधन्नेनेति तु विज्ञातमेव ।
तदेव । किमपि कस्यापि सुखं भज्यते । सुखेव परलोकमालोक्यते । एतल्लोकं
फलदायते, परश्चता योयितः सौन्दर्यदर्शो भवत्कारणेषुं विपृश्यन्ति ; स्वयमेव
कमलाकाकलीमाकर्णयितुमाकुलीभूताः स्य ।

कान्ति०—सूर्य बहु विपृष्टासि । सर्वतः प्रथमं मनोरमया सह महत्तराक्या
युगयां कुर्वती कमला मया दृष्टा । वीरक् वीर्यल वीर्यी क्षिप्रकारिताऽऽसीत् ।
तस्याधिबुद्धं करोलपाली, कोमलकोमलाभ्यां कराम्यां मुमुक्षिःकाकलनमयापि ममाक्ष्णोः
पुरतः स्फुरतीव । तत एव विमुग्धकमलादर्शनेन गुणायवधीरयता मुखेनाहमन्य
एव संवृत्तोऽस्मि । विररात्राय तत्रैव युगयजनं कर्त्तव्यवानस्मि, परन्तु हन्तः पुनः
या दृष्टिपमेव नोपेता । अहं व्यकार्यं दम्भम दत्ता सर्वदेवेदसी न भविष्यति,
समयेन समासादिप्रवाहो भविष्यामि, परमाज्येनक्षिप्रमेव एषते । विचारयामि
धन्नेन सह तस्या विवाहः स्थिरीभूतो, योज्योऽयं राजकुमारो वीरस्य । मारम
कस्यापि सुखस्यान्तरायो भूयति मानसं मां सुहृदन्त्रयति । परं किं कुर्यां तस्याः
प्रतिभूतिः प्रतिक्षणविक्रमया स्वनेऽपि सन्मुख्यं न मुष्टयि

प्रबल०—(मध्यएव) न मोक्षयति च । देव ! प्रतिज्ञार्तं वीरान पदित्यत्रन्ति ।
अपि प्राणजर्णयन्ति ।

वीर०—देवोऽहमस्मैवीर्योन्वयनलम्बते । मया तु करणोक्तं सम्पन्नं विचारितम् ।

कान्ति०—विमिश्र... ..

वीर०—मयाच श्रुतं यच्चतुर्थ्यां रामपातस्य जन्मदिनम् । अस्मिन्नवसरेच विनिर्भोज्यं मद्यपानादिकञ्च

कान्ति०—सत्यं, (हर्षेण-प्रोच्छलच्छरीरः) अस्माकं प्रयोजनं सुसिद्धम् । क्षत्रियैरेतादृशरसरे सर्वे एव मदमत्तं भवन्ति विशेषतो दासीदास्यम् ।

वीर०—आ, तदपि सर्वं विचारितम् । हर्म्यस्योत्तरहरिति विविधे कमलपत्रप्रपञ्चद्वारलोहदण्डे^१ गोधापाशमायोज्य सुखमुपरि धार्यं गन्तुमिति न कश्चन रक्षादासयोर्मयोद्रेकः । केवलचन्द्रचन्द्रिका मां शिथिलयति.....

कान्ति०—किं भयम् । अनुनिशीर्षं गन्तव्यम् । एषोऽवसरः पुन नै लभ्यते । सूर्य ! तवापि कथनं कस्मा अप्यवसरायोचितं नाम, परन्त्वरे । यस्याः श्रीकमलपत्रप्रपञ्चो हृष्यन्नास्तं, घटितनेकमनोरथो विस्मृतमानसस्त्यक्तापरकार्यः केवलं तत्प्रवृत्तिपादनेरुषं सव कमला दुग्धमक्षिकामिव मां दूरं प्रक्षिप्य चन्द्रेण रन्तुमताः सुखमनुभूयन्ति । किं तत्सुखमहं सोढुमर्हामि, नहि नहि

सूर्य०—तत्सुखं विधास्यामः । पाशाभेदैव पाशाप्रतिशोधं विधास्यामः । यथाज्ञाप्यते तथैवाचरिष्यामः । वीर ! कः कार्यक्रमस्तव्या निरधारि ।

वीर०—सप्रबलोऽहं तत्र गमिष्यामि । सूर्यश्च प्रामादं बहिः समदतरो मिलेत्^२ सूर्य ! वायुप्लवोऽप्यानेयः ।

*

*

*

प्रज्जः पीराः पञ्चमानसेवनाय पुराद् बहिः प्रयान्ति । नगरसीम्नि विशदमपुरप्रती विधासिद्धमुदिनीविद्योभी हृदो ह्लादयति जनानां मनः । विमलताम्रशीकरसीतः समीरणः, मधुरमधुरं द्रवन्तः पक्षिणः, चलद्गताः द्रुमाश्च निरोजःस्वपि विनोदप्ररोसभावमापादयन्ति ।

अयं राक्षो रामपातस्य जन्मदिनम् । वर्षाभिमीया हस्तरे च राक्षः प्रसारे मोक्षयन्ते, न कस्यापि गृहेऽस्मिप्रज्वालः । रात्रभोज्यसज्जायै सर्वे सज्जन्ते । केचन भर्त्रा पितृन्ति ।

१ चौण लुष्टाद्याश्च भक्तारोदणाय गोधायुष्मं रज्जु मुक्षिप्य तस्यां भित्तिरुद्धायां तदवद्वरज्ज्वामनेष्वागोहन्ति ।

२ वायुराणौ जले प्लवनतरणसाधनः “वायुप्लवोऽ” इत्यमरः ।

इतरे च मासानां समं मलं शरीरतोऽपनयन्ति, अन्येन स्वेदमलिनानि कुनासांसि
गतास्यन्ति ।

मय्यादान् पूर्वमेव कथाम् आत्यन्तुमारं सर्व एव समायादुमारम्भाः, स्वाधनेषु
छातुरनेषिताय । वेदविदो विद्याः, अधिकारिणः क्षत्रियाः, सुविशाः विद्याः शूद्राश्च
श्वलकथाम् दयारीति यद्यप्यतिष्ठं यद्यमर्षादं स्वागतच्छत्राय राज्ञा नियोचिताः ।

बह्वीरुद्राया एदिशमताया अह्वष्टया देहिप्रायाः श्रियाया अद्य प्रावत्यम् ।
 कादंशप्रपुष्टताइत्यौभूरणि व्याप्रिउव प्रतीयते ।

कवन 'प्रकोटन परिपूर्तः, 'कण्ठोत्तरितमण्डं रागाहमोदनमद्यते । अन्यत्र
रागनीचरं पामरं परिषेप्यते । कवन मलदण्डी' मिथा 'कृचिकऽऽस्त्रायते । इतरत्र क्षीर-
हारवयकृन्मोदनाश्चमिदन्व' र्णममिष्यते' । कवन मुग्धिप्रय्यैर्भाविता मनोमोदका
कव्यशमभुता उदाहृतं पूर्वन्ते । वाम 'उदात्तपुष्पाभिरिषाधोतदधुता 'पुतापूपा
अधराणां विद्यन्ते । अमृतकलिका ॥ कलाकलिका—मकरन्दविन्दव हृष विन्दवः"
आनन्दकृषिषा 'हृषाकृषिषा, आहृषी' सुहृ' माय' महुह' मिथा स्वकवम'
'वकातिषा 'प्रदस्तामदम्पलीन स्वाम्पली दाली' उग्रम परिषेप्यते । कविद्वित्रिहं'
हेमरु' 'हृषिहृषीहृ' प्रदस्त' निष्ठान मास्त्रादयति, कवन कृषिका' 'हृष्या-'
विहृ' वैहृ' कवन' 'धाम्नाहृ' कवन' शायकं गगनलिकवा गिष्यते । कवन
'महृ' 'मुहृ' 'मुषिषा मुहृनाऽमहृदिषा' लिष्यते । कवन चम्पोरनीनिमिती
वैराग्येणहृषोरुषावदेह हागुक्तिदेहमाव्ययते । कवन सारकथाः' 'सद्विषा अद्विषाव
कथा' 'वर्षेणुतं वर्यन्ते । कवन मेदिनमरितं' रसालदलकलितं स्वादुषदेहन

१ लख। २ बजलोहिमांरही बिछायेबला बाँधछा चिया। ३ सामखान्छ
(बूछ)। ४ घोडा। ५ बूझा बेलछा। ६ खर भाले। ७ सीक।
८ बालूह। ९ छटेरी। १० बूँदिसा (बुँद)। ११ पूँदिसा। १२ भाहट
१३ मूँद, १४ रसद, १५ बोट, १६ बालूकीनी, १७ अरुआम, १८ छीहरी हुँ,
१९ बल, २० मोरुद, २१ बज्जन (छाह), २२ हीन, २३ राई, २४ पोसल,
२५ बीन, २६ बज्जोमबं, २७ बीन, २८ छनिल, २९ भादल, ३० अदल, ३१
मलो, ३२ लखरी छोटो, ३३ बज्जो, ३४ बज्जोसाले, ३५ बज्जो ३६ मेरीही छली

मन्तधीयते । कचन पुरोगेन पौरोगवेन^१ जनगीयमानं यशो भोजनप्रशंसा श्रूयते ।
 पटोलशाकं^२, कूष्माण्डशाकं^३, वास्तुकशाकं^४, कर्कटोशाकं^५, मूलकशाकं^६ मेण्डाशाकं^७,
 घृन्ताकं^८, गोजिह्वाशाकं^९, महाकोशातकीशाकं^{१०}, कालिव्रशाकं^{११}, कारवेल्शाकं^{१२},
 आलूकशाकं^{१३}, अणुपणुशाकं^{१४} दीयतां देहि, आनय, अलं, गृहाणेत्येव श्रूयते सर्वतो ध्वनिः ।
 घृतपका गवाक्षफलानी^{१५}, करीरफलं^{१६}, पर्यटकश्च^{१७} परिवेषितः—भोजनयज्ञस्य
 पूर्णाहुतिर्जाता । पचतमृजता^{१८}, स्वादापिबता, आहरमुच्छुवा, हसतमोदता क्रमश उपरता ।
 लब्धावसरा क्षणदा दिनपतिमस्तं विज्ञाय स्वाधिपत्यं तेने । निशानायोऽप्येकाभिनीं
 प्रयतमानां प्रियां प्रेष्य एवोदयगिरिमारुरोह । सच्छासकप्रसन्नो जगतीन कल्पनाय-
 विभासिनि नभसि दैनिककर्मभ्रान्ताः मृत्याधन्दिष्याऽऽस्ताम्यमानाः, सद्यो निद्राऽहं भेजुः ।

*

*

*

प्रहरी हर्म्यमभितः शिथिलमर्यादः सालसं गतागतं कुर्वन् चन्द्रप्रकाशे वृत्त
 एवायान्ती द्वी नरी दृष्टाऽऽह—“को स्थः दूर एव तिष्ठतम् किं न जानीय इदं
 महाराजशयनगृहम् ।”

“प्रहरिन् ! विदुरप्रचलनेन नितरां भ्रान्तौ स्तः । किमिदं महाराजशयनगृहम् !
 तस्य न जानीयः ।”

“कुप्रत्यौ युवाम्, वेशभूषादिभिरप्रत्याविब प्रतीयेथे ।”

“प्रहरिन् ! अस्त्यैव देशस्य प्रिया पुत्रावाप्त परम्पु हन्त ! दाक्षिण्यदुर्गती परदेश
 व वदितौ शिक्षितौ च । आतः प्रहरिन् । बहुकालेनापीतं वर्तते समालं सम्प्रति
 नितरां भ्रान्तौ स्तः ; आप्यमिलन्त्युं शक्यते ?

मूर्खः प्रहरी अनभिज्ञश्च चतुरसंसारस्यैतयोर्वार्त्तया सञ्चरुषो जातः । एकेन धूमपात्रे^१
 मालं न्यधायि ; प्रहरी च हसन्त्या^२ बहिमानीतवान् । पूर्वं धूमपात्रं प्रहरिण
 योगदत्तम् । स द्वित्रिस्तद् बलेनाकृत्य मूर्च्छितः । एकेन विहस्योक्तं, “प्रबल ! मूढः

१ महानसाध्यः, २ परबल, ३ कोदण्ड, ४ वयुवा, ५ ककडी, ६ मूली, ७ मिर्ची,
 ८ बैंगन, ९ गोभी, १० धीया, ११ मतीरा (तारबूज), १२ करेल, १३ अलु
 १४ खीरा, १५ गुनारपत्ती, १६ बैरिया (टीट), १७ पाण्ड, १८ शब्दं मयस्य-

ननुप्यधे स्थिता ज्यायांस आयतीम्वं प्रतीक्षन्ते स्म । क्षणेनैव ग्रामटिका व्याप्ता धैनुकेन । गवां पृष्ठपरामर्शिणा हस्तेन ध्वनिमत्यमूर् पादौ । आसीच्च तिष्ठद्गु, सुतन्त्रे होपस्तुताः पयस्विन्यो धारासारेण संसारं सन्तर्पयामासुः ।

अहमपि तेनैव सार्धेन तत्परणरेणुस्फुटितपवित्रगात्रो बाजिनमाहटस्तस्यामेव ग्रामीण-ग्रामण्यो गृहं गतो भुक्त्वा सर्वा विमावरीं यापयित्वा, निष्ठ एव तपस्वता कस्यापि महाप्रभावस्य साधोर्हंसं ग्रामीणेभ्यो विदित्वा तद्दर्शनोत्सुकोऽथ ग्रामण्यो गृहे न्यस्य पश्चातिरेव गहनं काननं प्राविशम् ।

सत्रसहायो विध्युतपयो निविष्टतरे द्विस्रकविहारमूमौ बनेऽस्मिन् सर्वं दिनमतिवृत्त निद्रेऽधुर्महान्तं पादपमेकमाख्या विमावरीमत्यवाहयम् । प्रातरानन्देनैव तिग्ममह-साऽऽच्छादितानु दिक्षु उत्तमसिखरमाख्या द्रवीक्षणेन गच्छतिपद्मे उपगण्डशैलं तपन्तं कचन साधुं दृष्ट्वा देवान्मनस्येव ममस्यन्, कष्टकाकीर्णसर्वाज्ञो विशिथिलसन्धिः सायङ्कालनोऽवगिन्व तत्रागमम् । महारमानं परितोऽन्तेवासिन इव व्याघ्रसिंहशार्दूलौ मृगवच्छाद्वलमध्याह्न स्थिता मां वीक्ष्य सकृदुत्पापितकर्णाः पुनरवनतशिरसो मां प्रणमन्त इवासन् । अहं तेषां मण्डलमतिक्रम्य मध्ये परिकृतभूमधुपविशम् । रम्यं स्थानम् । शान्तं वातावरणम् । सम्मुखमेवैका खलीयसी कुटी गण्डशैलं कर्तयित्वा कृता गुहा, खच्छौ निर्मरः सम्मुखव मुनेः स्थितिभूः । पशव आदेशं शुभ्रुव इव मौना अभिमुनि स्थिता अशान् ।

महाजननः शरीरमस्थिमात्रमपि तेजोवितानमिवासीत् । सम्यमन्ते हिमपवले रमणी प्राञ्च शरीरं प्राचीनकालस्य स्मृतिषुधुधत्वरे चित्रयते स्म । विशालं शालं, उदमां घोषां प्रलम्बो कर्णौ शशिश्वेता - जटायुं साभं मुसमण्डलं पर्य-तेन जातिदेशकुशलनामानन्तरं कार्यार्थं पृष्ठः सर्वं सत्यं सत्यं न्यवेदयम् ।

महारमा—वत्स, दुःसाध्यमिदं कार्यम् । त्वयातिमुकुमारः ।

—सत्यं देव, तदपि रहस्य रक्षा स्वस्य जीवनदनेनाप्यवश्यं करणीयम् ।

विरयेऽस्मिन्नाहं विदित्य वेति । धूयने रज्जौ राजेन्द्रपदस्य वामा मुन्दरी इत्या- सा कस्येणमिदं विदितं - - - - -

भगवद्गहिः प्रोक्तैः सैकते सुपदा प्रतस्तथाम
 हरिप्रणहरिणः हरिप्रथ पश्यन् विराजं राजभवनम्
 सुप्रियाः पञ्चराः कर्तव्यविधिरूपा भूषाः कृपाः वीरराज
 भुवी भर्तारं सभाकिरे समन्तीनः सेवकस्यो मन्त्रिप्रथ, मध्ये
 वेदिवातां विहागने सममनं सुप्रथ वीर्य हर्म्यं प्रविशतश्च मध्यवहरी
 केसवन्तां प्रगाधनभवा केसात् प्रगाधवन्तीं सम्मुखमुखवन्तीं हस्तप्रभा कर्त्तुः
 प्रेक्षमाणां, कुम्भप्रदेगलदम्बरं वदन्तुस्तद्वन्तीं हस्तप्रदेगलदम्बरं वदन्तुस्तद्वन्तीं
 गुह्यं राजकुमारमिन्द्रम् ।

पुनः वदन्ति तस्मिन् सैवे त्रिदेहिर्ब्रह्मदत्ता प्रदणो कर्त्तव्यः । तस्मात्पृच्छी
 रितीति तत्र प्रप्य भगवतुः प्रभावम् । एवंपुनर्विदितं, किन्तु त्वमदिनम्पदमधिरो-
 क्तुमिदं मम निद्रां मीतिं वदन्ति नन्दनी ।

अथ त्रिदेहे वदन्त्यात्मनेन वदन्त्यात्मने ।

प्रथमा वाक्.—यस्य केयं दत्ता पुण्यामुप्य । परिवर्त्तनशीलं बगद् विनश्य
उच्छ्रायाः ।

द्वितीया वाक्.—नगरस्य समृद्धिं विद्यावैभवं यदा स्मरामि, विद्यमते चेतः
राज्ञोऽस्य न्यायप्रियता, प्रियता प्रयता^१ प्रजायां, चायाद्वोद्वृत्ततेः^२, रतेः प्ल
परिभावकस्य, कस्यापि^३ विबुधवर्षतां नियामयतो, मयतोऽप्यविशे वास्तौ, प्रजापत्य
व्यवहारो लोकोत्तर एवासीत् । परन्तु हन्त, सा सिद्धिः कस्यापि नावशिष्टा । प्रिय
किं विस्मयते राज्ञ उपवनम् ।

प्र० वाक्.—तदपि ॥ विस्मर्त्तुं शक्यते, स्वर्गं फलपूरं, पूरकं पतत्पुच्छरपिच्छाणां
विविधा कृताश्च परिमलेन मलिमानपि भोहयन्त्य आसन् परं वर्तमानेन राज्ञा सर्वं चरित्र-
माग्रीकृतम् । सोऽयं प्रतिक्षणं युद्धवार्ताप्रियः स्वकीयं पुरमपरस्मिन् मार्गे निमग्नं
पुरं जगतो भ्रमय पापाणेन प्रकल्प्य सततं युद्धाभ्यासनिरतो जगत ईधरतामभीप्सति ।
भ्रूयते एतस्य कन्येनमस्मिन् कर्मणि नियोजयति क्षास्ति च । यदि कश्चन बनुरस्ता
राजकुमारी सत्यमेव समानीय युद्धमार्गात् प्रतिनिवर्त्य लोककल्याणे योजयेत्तदोन्नतिः
इत्तामलकवत् सुलभा । राज्यायतः प्रतिघटं नवतिमुद्रा सैन्यप्रसापने ध्येति । यदि
स घनराशिर्जगतः सेवामै शिक्षामै समुन्वत्यै वीवारत्वेद् वर्पपक्षकेनैव स्याद् गरीयसी
सद्भवस्या—इति रुद्धोऽयं वार्ता प्रसारः ।

अहं मासद्वयेन नगरस्य, राज्ञो राजकुमारीः प्रदेशस्थ च रहस्यं विज्ञायैकदा मुनि-
बधनानुसारं पार्श्ववनं प्रविश्य सूक्ष्मेक्षिकया तत्र पद्याननस्थितिं निधित्यैकस्मिन् प्रोक्षे
तरी सज्जशाखाश्च उपविष्टः । अपराह्ववेलायामालेखेवेसा कृष्णत्वाच्चतुष्पुष्पाप्येकाग्रिणी
अनिन्द्यसौन्दर्यां सुन्दरी वनं प्रविवेश । ध्यानः संकितेराखेटे समीपमेव पोषयामासुः ।
सा सन्नद्धाऽसि करे कलश्रन्तो सतर्काऽभवत् । अहमपि शरासेने शरमायोऽयं
प्रतीशायामासम् । अकरमादनलपक्षोपो निरुत्तमं द्विदो नित्यवैरिभ्याः वपाय
वृत्तसङ्कल्प इव राज्ञं सत्त्वस्मेकस्याद् शुष्मान्निश्चतः । सुविक्रमीं लिङ्गन्ती तस्य त्रिधा
सत्त्वमेव मानुषरक्षासादलोत्प्राडवर्त्तत । सोऽभिसुन्दरि प्रस्थितः । सिंहदर्शनसमकालमेव

१ प्रयता=पवित्रा, २ चायाया अङ्गीकृता, पुत्रीत्वेन रतिर्येन स तस्य, ३ कस्यापि-
प्रपन्नः ।

लिङ्गा सुन्दरी तस्या अश्वत्थाप्रपादलुत्थाय एलायितुमन्ता इवोद्दिग्ः संवृत्तः । सिंहोऽभ्यधमा-
वकाम । अश्वत्थ वेगेनारोहिणीमुत्तिष्ठयैच्छतः प्रययौ । आच्छेदयित्वा सुन्दरी न मूमौ-
प्रवृत्ता । सिंहत्वाप्रपादलुत्थाय सुन्दर्याऽऽर्तनेत्रैः सत्कर्णं वीक्षितो यत्पद्मे प्रावल्ताव-
देव मद्बाणविद्धः कर्णं मन्दन् धरामपासीत् । एतत्सर्वमेकस्मिन्नेव क्षणे जातम् ।

“देवि, कश्चनमस्मिन् वीरभयद्वरे बने एषाकिनी मृदुलतनुलताऽऽत्मानं सन्देहसिन्धौ
निपात्य धमसि, नैतत्त्वानुरूपम् । निवेदय वव त्वां प्रेययामि, कश्च तव नितरां कथं पयो
अट्टासि” —बृहस्पतये तस्याः संशयमपहरता विनीतेन मया न्यवेदि ।

“अहमत्र पार्श्वं वर्तितो राज्ञो राजेन्द्रपालस्य पुत्र्यसि, युद्धाभिरचिह्नं सर्वदैवाखेटार्थ-
मागच्छामि । बहुधा सिद्धा हेतुयैव मया निपातितः, परन्तु हन्त, अद्याजेन महीनाश्वेन
सुपितारिम । समये यदि भवान्मागमिष्यदहमवश्यममरिष्यम् । अधुना जीवनदातुरेवना-
हेतुमोदेव आख्यातमिज्ञातम्” —बृहस्पत्येन स्वेदं धूलिवाष्पमन्यता सुन्दर्योवे ।

“आ एवम्, त्वं वात्सल्यभाजपूर्णं महिलासमाजे बन्धु मन्त्रापादः किरातकोलभिल्ल-
सेवितं गृहितं कर्माग्नीकृतवत्यसि तत्र किमु वक्तव्यम् । गार्हं शान्तिःसुखाश्रुतां मे वारं
भवता सहालपेनोत्तेजयिष्यामि, शम्भो याम्यहमपुत्रा, धीमती चेत् समिलता गन्तुं
श्रितीभूतोऽयमथ आरुहागमच्छु”, अश्वामिमुखं प्रवल्ता मयोवे । साच नितरां
विनीताऽऽभारं हृदयेन प्रदर्शयन्ती परिचयाय सुदुर्मुं दुराजग्राह । अह्वावीचम् ।

देवि, समयातिगतिनी ते प्रश्रुतिः । पश्य स्वयि मुदकर्मणि प्रश्रुतायां का दया तव
देहास्य । सर्व एव विभागाः नाममात्रमासते । एकदाहं वृत्तिविज्ञासया तव नगरस्यवैक्षण्य
प्रश्रुतिः । नगरपालिकाया आयमर्माः सम्पन्नोऽस्ति, किन्तुकोचास्त्रादाः कर्मका
पशुपंभागमेव संगृह्णन्ति । नगरस्य रथ्या राजमार्गाः भग्ना न कोऽपि पर्यवेक्षते ।
केवलं प्रासादमार्गे एव सुमगः सरलः स्वच्छश्चास्ति । रथ्यासु वर्तान्यासन् यत्र पार्श्व-
रुहाणां मत्स्यूत्रचलमागत्य रथ्यानिवासिनां स्वारथ्यं दृश्यत् दुर्गन्धितां प्रसारयति । रथ्या
नितरां विरमाः । नगरदृष्टिं प्रावीनगृह्यतो हस्तं हस्तार्द्धमात्रे निवृत्तानि सन्ति ।
मन्ये पौरप्रतिष्ठनाधिकारिज श्रकोचं दृष्ट्वा दृष्टपतेरिच्छनुषामनुज्ञानन्ति । येन
रथ्यानां सौन्दर्यं सुगमता च प्रणश्यति । राज्ञो न प्रकाशस्य प्रबन्धः । केवलं पौर-
प्रतिष्ठानसदस्यानामधिकारिषाच गृहाणि पौरप्रतिष्ठनेन प्रकाश्यन्ते । इतरे विस्तृयन्ति

यदयमेतेषामेवाधिकारः । प्रधानमार्गेष्ववसरस्य कृताः प्रेक्षन्ते । न कोऽपि
 प्राणायामाभ्यासं विना तेषु मार्गेषु गन्तुं शक्नोति । वराकालमार्गेष्वपिनो वि
 रोगरीक्षिताः सतचक्षुषोऽहनिदां कण्डूयनरा मवाकमशिकानिवारणमरणरा
 दीभाग्यं दुग्धमन्ताय स्वीकुर्वन्ति । नगरे वराकालानां पोषणाय गोशालैका पौ
 र्यास्ति । गवां द्विजाती तत्र दुग्धे पान्तु सदस्यानां शिशवः श्रियो मृषा
 कर्नकराथ पयः पोत्वा शेरस्य पयसो दधि विधाय नवनीतय प्रधानसदस्यगृहेषु प्रेष्य
 मुदधिन् परिवर्त्तितानुभ्यः प्रदीयते देशां मातरः सदस्यगृहेषु निजुक्तं कर्म
 विरोधज्ञां समन्ते । एवं तेषां नाम विलिख्यगृष्टाङ्कं गृहीत्वा तन् द्योतं जलं दध्य
 तंभ्यः प्रदीयते । नगरक्षारप्याप्यशः प्रधानो नगरवैद्यः प्रतिदिनं प्रापत्रयं
 दत्तप्रयं पददण्डय पौगर्तितानानुमतिं क्षारप्यविवरणं ददाति । ते
 यन् प्रत-कालिकं पयः प्रवाहिदां करोति, अतः शिशुभ्य उदरिरेयम् ।
 चार्मिन्तस्य स्थायः सदस्यानाय हितं सन्निविष्टमस्ति । दयनीयेषां दत्ता
 पट्टशालनां नैव साध्वी व्यवस्था । अप्यापका अतमये समाम्नाति । अ
 केपय विधायन्ति, अगरे वासाधि प्रशालयन्ति, केचन पत्रं स्त्रियन्ति परे
 गृहारनंतं भोज्यं भुज्जने, इतरे मित्रैः सहालयन्ति । केचन कृषि
 छात्रन् प्रेषयन्ति, अन्ये गृहकार्यसम्पन्नानय, मध्ये मध्ये कोऽपि
 सिद्धयं कोटदणं कुंद्वय इत्येवम् । दण्डवेदादिह दत्ता पुनः सङ्ग्रहं
 अधिकादौशी विपश्च भेदी यज्यते । यस्याः तिसदस्य स्युद्धि अप्य
 अदह अन्महयेयम् । लीकय मार्गिन्य आद्या एवं दुग्धं बहुयन्ते । एषाने न
 न प्रकल्पय, न स्वयन्तवः प्रवन्धोऽस्ति । यत्र तत्र कालानां विषयं, वि
 विटिरेव प्रयुजं वर्त्तते । अयः पट्टिका, सङ्गताभि सर्वप्रयणि अ
 पुस्तकानि सट्टरगमपत्राङ्कां स्युनेष्टिदां प्रणयन्ति । धर्मं, राजदण
 विदालीदमिष्टकः प्रत्येवं समेति । केचन दधिय दिते बर्दिगजातो
 कमर्जन्ते, पुनः का मुद्रायाङ्कय दृढं नोदते । दृष्टिने प्रविशते मुद्रा
 एते नैव ॥ विरोधको मवृधोचनेन पुण्डरीक व प्रणयन्ते । एवं दधि
 मोदकद्विजुर्न । अयमवृत्तंदिन विजुयदण्डय करोति । तेषां वान

आदित्यपुरकारा नाथकृष्णाय स्वार्त्तं लभमानः पाठशालां हवन्ति । अयोध्या अमरकशायु
निवोदिताः पाण्डुप्रममन्तुगन्ताः कश्चित्कालं विशङ्कामहेन यावन्तोऽप्ययोध्याः
निगच्छन्ति । शिशुर् न शारीरिकं न वा भौतिकं चीष्टवम् । न वाक्पटुता न
च व्यायामनेतृत्वम् । कदाचि मुनेर बोधनं यावयन्ति । धिमेनद् भवत्या युद्धानिहनेन
बद्धवत्प्रम् ।

कश्चित्कालमप्यस्य स्थितिनिर्गतं होचका । सरदाप्यशः प्रतिमासं गदीनं
महत्तरं कोणाति । प्रतिमासं पयसती मुशगां कम्पयति च स्वपुत्रं प्रसुरामुरोगार्ति
कदाचि । तातसो भवनेरुप्रवयमानं एषधे । हे बलनिर्माणकर्त्रे सोऽयं कलमति ।
बलिगुत्रातिः एषैषां एकं प्रयोष्य स्वनीभूताः सप्यापमवित्तनां परिवारतां
विशुषयति, कलापतामः पटुनामः च दुःखम्वा नेति त्वं वेदित, युद्धोपगेषा
नाम्नदीशये । अजकालोनिहन्त्रणेनायं का रिपतिरित्यपि तत्र परोक्षम्—अभीष्टी
कुपुशित्तय दयां कर्तुं वेत्त । दानिकातरं दापयत्कम्पुनेन न निदग्निप्रममं
प्राप्तुं शक्यं, एतेनैव तापैव नाशं शिशुनिताप्येनपामताहे तमदेव व्यातरिणः
प्राप्तुं शक्यम्, एवं कावोऽपि । निर्धनायां प्रतिनिवृत्तदध्योपभोगं कुरतां रिपति त्वं
कर्तव्यमुदयथा ।

अनराजप्रवाहि निर्दिधिवन्ताः विह्वलकाः प्रतापविह्वलिता होचन
नेतां एतस्यी समं दापयन्ति, दत्तयोत्तमनि भेदयन्ति तेन एव प्रहर्ति
च । वराहान् कोऽपि बधयति न सन्त्ययति । सेऽद्यत एव कलकालिका
महति । ताप्यर्धमेतेषु बाधयेत्त एतन् सप्यते । ताप्यर्धमेतः पूर्वमेतन्
वेत्त ताप्यर्धमेतस्य वराहो विधीयते । ततोऽप्यप्यगर्भं कुपुसप्यां न
एतन् एतं प्रहर्ति । न एतन् विधेयव सत्कर्म कदा निहन्त्यदीप्य
महीयते ।

अनराजप्रवाहि निर्दिधिवन्तां होचरीका । वीरान् अनेनैवविमलेन हन्त्यप्य
तेन सरदेनेन तेषुगुर्विनी बोधयन्ति । दानपेदेनैव होचरीका एतेन
तेन होचनं होचनं दानपेदेन विधुयन्ते । व्यातकतेषु व्यातय व्यातः
कदाचि । होचरीका अपि ते कृताकार्त्तुं न व्यातयन्त्यपुं कदाचि । एतन्

परिभ्रमन्तः प्रहरिणश्चौराणां सुयोग्यस्य सूचनायै च चरन्ति । कस्यापि विपत्ति-
मग्रस्य विपद्विवरणमपि नोच्छिष्यते विनोक्तोचम् । कृतीनां कृतीन्, धार्मिक-
धर्मः, धनिनां धनं, सुखिनां सुखं, मर्यादामृतम् । किं भवतीति विचारे सर्वेऽरि-
मुद्रयो नोन्नतिं कर्तुं समर्थाः । किमेतस्योत्तरदायित्वं त्वयि नास्ति ।
केवलं मुद्रकर्मण्यतिप्रवृत्ता समृद्धं सम्पत्तं देशं व्यक्षय्यः । यदि कश्चन निष्प-
न्यायालयो भवेत्तदा देशद्रोहापराधे आजन्म कारावासं प्रापयेत् । परन्तु मा न
भूदत्र तव कारावासः, भगवान् जगदीश्वरोऽशुक्लसन्निविष्टस्यामवश्यं दृश्यिष्यति
शत्रु नाधुना जगति कोऽपि मुद्रममिलयति । सर्वे शान्तिमुखां विपत्तयः शान्ति-
वातामिव द्युभूयन्ते । निरवधिनिर्वच्छिन्नशान्तिप्रिये पवित्रे भारते पुनरप्युदयान-
प्रसारयितुमीहते । नाधुनाऽशुक्लमानामावश्यकता । जीव, लोकजीवने च सद्भाव-
मपेत्यैव प्राणिवर्गस्यामिलकः । परन्त्वमधुना लोकसंहारकृतसङ्घट्टयैव शास्त्राणि
निर्मापयति । कस्य कृते । साम्यवादस्य प्रबलधारया समाप्लुतेऽस्मिन् जगति
तव साम्राज्यवादस्याहेतुक आधर्यकरः कदमिलः दास्यात्सर्वम् । जगत्प्रीत्यर्थं
साम्राज्यवादः सदैव स्वरमुद्यमिभिर्यवादादिभिरंधीयांसमापातमेव प्राप्य विनाशाय
सज्ज इह स्थितः । किं भवती कस्यापि विवेकमतो हृदये साम्राज्यवादमामन्त-
वादार्थवादान् प्रति श्रद्धां प्रेरते ॥

“परन्तु देव, एषा प्रवाहपठिता नीरिकाधुना महता वेगेन प्रवहति विचारभा-
जिन्नु हृद्रोऽस्य कार्यकालः । एषा धारा न निरं स्यात् समर्था । अत्र
शीतत्वमग्निनाऽपश्यं दूरं प्रियते सङ्घट्ट, जिन्नु स्वायिनी स्वामयिनी शीतता न
सर्वथाऽपहतुं शक्यते । एवमेव निपेक्षजिनोः शरीरनीरोग्योः दुर्बलमुष्णयोः
विवेकाविवेकमतोः साम्यं न कदापि स्थितिपुं शक्यते । एकदेवैव जीः परंतापस्य
सम्प्रप्य प्राप्तविवेका प्रत्यावर्त्तति । तत्र पुनरेव भवता साम्यवादः पुष्टकल्पना
अन्यसंख्यां वर्तयिष्यति ।”

“अतुमौदयाम्यहमपि लक्ष्मीं विचारम् । मा नम्यं चलीत् साम्यवादं अहम्,
एव नवनवे समुद्रधरा जगत् साम्याविदो धर्मः जिन्वेकदेशं समर्थम् विचारम्
प्रवर्त्तयति, शशीनमर्माहं विनाशयिष्यतीति द्रुक्कयम् । एतर्था सर्वं दत्तं तव

गणानां विपाकगोत्रकानां यमानाद्यावद्व्यकृता । जगत्स्रजन्तिमभिलषति । जगतो जीवनेच्छा प्रकटा, एतारशे जगति न भवाद्दृष्टा आवद्व्यकृता” ।

“क्षणं विभ्रम्यारराधिन्या अन्तर्धं मर्यत्कार्यः । सापराधोऽपि परितप्यमानः तापुमिरक्ष्यं मर्यणोय एव ।”

“क्षणिके परितापे को विद्वान् विधत्ति । अथ मृत्युं सम्मुखमुपलभ्य दमज्ञान-
हेतवमिदं परितप्य पुनर्विरम्य स एव पन्थास्तदेष वक्तुम् ।”

“देव, सत्यमय पर्यन्तमहं युद्धाभिरुचिरासुम्, कन्याप्यहं पितुः पुत्ररयानीया विधं विजिगीषुषां, किन्त्वय भवद्विचारमात्रार्थं युद्धं त्यक्तुं कृतसङ्कल्पास्मि । मम पितुः राज्ञो राजेन्द्रशक्त्यमाहमेव युद्धपरमर्षादात्री, अहमेव बहून् राज्ञो विजित्वायुना रामराज्येन योद्धुमुपुकावती । परमय विचारः परिवर्तितः ।”

“तिमममहसा बीरवरेण रामकलेन सह भवत्या युद्धं सर्वथाऽप्रमीचीनमासीत् । एतत्तु न वेत्ति । अहं युद्धमयद्धरं रामपालं साक्षात्प्रविशक्षणां तत्तु चमूय सम्यग् वेत्ति । तेन युद्धे निश्चितं भवत्याः पराभवो ह्यस्माकलक्ष्यत् प्रत्यक्षम् । अहमैदिक्षीं मयी शक्तिं विज्ञातवानस्मि यत् बीरवो सारं धीमती बह्वि ।”

“शान्तं पश्य, अहं भगवन्ते सूर्यम्, परितः स्थितान् वायवान् वनदेवतां जीवनशक्तारं भवन्तस्य साक्षित्वे न्वस्य क्षत्रियसर्वस्वं धनुष्यं शङ्खं प्रतिमाने यत् विश्वसनात्मकं कार्यं विहाय राष्ट्रोन्मत्यै सर्वात्मना स्तयिष्यामि । सुप्यत्वायुना देवः ।”

“नितरां प्रसीदामि । अस्तु, अहमेष्टमै महते कार्याय कृतसङ्कल्पोऽविलम्बं यदि, देवो द्रष्टुं तावकीनं वक्तुम् ।” अग्रतोऽसरोऽहं धीमहिदि आभवत्विति ।

जनान्दिने चन्द्राय संपुनादे नितरस्तु परिष्कनेषु “चिरञ्जीव, तावकं पुष्टिबलं विमृश्य नितरां प्रसीदामि” हर्षार्थं विमुक्त्यै राज्ञा प्रस्तादि । “यान्तु पुत्र, इतोऽप्यधिकं मरीयाः कार्यं सनापदितं मेवाहं विरीदन् वक्तुं पुरः स्थापुष्य न क्षमेमि । नैतस्मिन् कार्ये त्वतोऽधिकं कल्पयि समर्थं प्रेक्षे । पराक्षो राज्ञी मनोरमया सह चन्द्रादे सुभा कमला प्रत्यनं सम्या

येषां गृद्गारमुख्या अहमदमिकया तालवृन्ते निवृत्ता
 वैद्भ्यांद्याश्च येषां पदतटदलनप्राप्तसौभाग्यदृष्टाः ।
 श्लेषः सिलष्टोऽङ्गमर्द्धे रसिकजनमुदे शाखिणां श्रीनिवासा-
 नामैत् काव्ये तृतीयः परिमलललितः कान्तनिःश्वास एषः

इतिथी—

मान्यमूर्धन्य—विद्वत्पारायणिक धीमश्वत्थारायणजेन
 काव्यालङ्कारेण श्रीनिवासशास्त्रिणा रचिते
 काव्यकोविदकुमुदकुमुदिनीनयके चन्द्रमहीपतौ
 तृतीयो निःश्वसः

चतुर्थो निःश्वासः

सार्यं शशाङ्ककिरणाद्भवन्नृकान्त-
निःप्यन्दनोरनिक्षरेण कृतामिषेकाः ।
जफौपलोद्भवसितयङ्गिमिरहि तत्रा-
स्तीघ्रं महाम्रतमिषाघ्नं चरन्ति घ्राः ॥

सुभाषित रत्नभाण्डागार

जीवन्नरो भद्रशक्तानि परयेत्
कचिद् भूमौ शय्या कचिदपि च पर्यट्टशयनः
कचिच्छाकाहारी कचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
कचित्कन्याधारी कचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्यै कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥
भर्तृहरिः

धैर्यं धामवतो धनम्

विविधमभट्टः

स ततः श्रान्तमरमन्मनः सर्वत्राभ्यविराजयन्नेव । अपुनः क्वचिद्विरहिता
राज्ञो नवेन्दुपालाय परिषदं वामः । वसः विपुलाभयमाहं दिव्यगुणां तु
करीष का वरुणोऽयं व्यतीतनि । दत्तयन्तो यतोऽस्ति तत् एव नास्मभिराकृतं
सर्वं प्रभुम् ।

अपुनः तस्यां कानि तन्त्रे कचिद्विज्ञाः । अलसदास वीरराजम् । गूढार्ता विवदः ।
किमिति मेघसूत्रे तस्य दृष्टम् । तिर्यक्तां देवदत्तां देवदत्तां देवदत्तां एव वादम् । अश्वार-
विद्विषा नृपुतिशिशुम् । कर्म करणम्, कचिद्विषा चोदनीयम् । वशाभ्य-

स्यति चन्द्रः ? क गतचन्द्रः ? कमपि पृष्ट्वा गतचन्द्रः ? कदापि केनापि कुत्रापि
गमनाय धृतगन्धमुखादितिप्रदन्वारम्पये विचारचानुर्दमानुर्भव्यं समामवने ।

भविष्यद्विदां ज्योतिर्विदां पण्डितानञ्च प्रासादे सम्मेलो दरीदृश्यते । अदर-
सम्भारेण ते पूज्यन्ते सत्त्विक्यन्ते कौशेयोत्तरच्छदामु सौवर्णीकासन्दोषु सान्द्रान्तरं
समुपवेक्ष्यन्ते ।

केचन महोष्णीयास्तिलकाद्भित्तमस्तका आप्रार्दने दृष्टो राजनीं दष्टिं कल्पन्त-
इत्थमधुनास्तिलः प्रगल्भमापणै महीपतिं मोहयन्तो धनलभसाऽऽऽम्बरताण्डवं विरचयन्ति ।

अपरे च जटिला आत्मानं देतो मगवतीभक्तं विल्यापयन्त आरक्तकौशेयधना
भाषणभूषणा भूपतिं तोषयन्ति । इतरे च दुग्धप्रतिनोऽखिलां सिद्धिं कर एव कल्पन्तः
शोषितकाया भवन् प्रभासयन्ति ।

परं कोऽपि सत्यं “धुः परधो मास्ततो वर्पतो नवाऽऽयास्यति चन्द्र” इति कथयति ।
पुत्रप्रणयिनी जननी उपजासं वयः समाभिता “हा चन्द्र ! मन्मनाकैरवविकासक ! चन्द्र !
क गतोसि अप्रसूय प्रियां मातरम्”—इति विलपन्ती तस्य शयनागारं, प्रसाधनसामग्रीं
वाजिनश्च प्रतिष्ठणं प्रेक्षमाणा, एमारं एमारमहनिशमधुपूर्णलोचनसरोरहा स्वारथ्यमेव
गमयाचकार ।

महाराजो रुग्णः प्रजागरकुलो निमीलार्धत्रयुगलो गतसत्त्व इवोपवर्धमध्वर-
स्थितः । विदूरे चैको भूतयः प्रलम्बदाम्ना व्यजनमाकर्षति । न कोऽपि शक्तो मौनप्रभोः
प्रभुत्वमपहन्तुम् ।

“विद्याधर ! हरि—सुभद्री महत्या प्रतिक्ष्वा गती, अपि प्रतिनिवृत्तौ !” तन्वा
साम्नाज्यं मर्दयन्महाराज आह ।

मन्त्री—आम् देव ! परिभ्रमणकृशकृष्णमिप्रहौ म्लानमुत्तौ प्रातरेव प्रतिनिवृत्तौ ।
परन्तु.....

महा०—(मध्य एव) अहृतकार्यौ । किमेतदेव ।

मन्त्री—आम् देव ?

महा०—एतदेव सम्भावितमासीत् । शास्त्ररूपमिव वर्पचतुष्टयं भीतम्, नास्ति को
समाचारो जीवति न वेति, प्रतिदिनं पटवः प्रतिदिनं प्रेक्ष्यन्ते, परं केतनभुजः पटवः प्रेक्ष्य-

चतुरशिरोमणीनां समवायः समीक्षते, परं कस्यापि मुक्तमण्डलं कृतवृत्त्यत्वेन
सामं नावलोकयते । प्रतिदिनमेतदेव धूयते, मद्भाग्यत एतद्भिन्नाऽऽरावन्तिरेव स्थाः ।
(विभिन्नाऽस्य) मन्दिनः । सङ्गमोऽस्मि, अस्माद् दुःखोदये निःसर्तुं मर्तुं कामोऽस्मि ।
ननु सोढम्, इतोऽधिकं सोढुं नाभ्यसिम ।

मन्त्री—नैतच्छोभते धैर्येपारिपुत्रधरे भवति भगवन् ! पुरा स्मिन्न नगरमनुधि-
ष्टिरादयो विपत्तिमनास्तेन वशता सहन्तः कालेनानुत्तं सम्पदं प्राप्य प्रपुरं यशस्तेतुः ।
शक्तिधरोप्यात्मनाऽस्मिन्काये सम्नोऽस्ति . . . ।

महा—(मध्य एव)—अपि अप्याम्नादितः कथन समाचारःशक्तिधरस्य ।

मन्त्री—देह, भयैव सेनागमनं सूचितम् । मन्ये कृतघार्यः स निवर्त्यति ।

सोऽपि समनुत्तमुत्तः ।

महा—(विमनायमान इव) आम् लक्षते ।

अधुनैव वेत्तव्यस्तौ दौवारिकः प्रविश्य त्रिजयं व्याहृत्य “देव ! धीमन्मन्त्रिणुमारोऽपरेण
केन विद्वत्तनामपेयदेरावातिना सार्द्धं धीमन्वाची प्रविनंसति, धीचरणी प्रमाणमित्यूने” ।

महा—[उत्पत्तिनयनो दौवारिकः निपुणं निरीक्ष्य] आम् प्रिय । दौवारिकः,

काव्यकृता शक्नो व्यवहारस्यामुष्य, भलु, योग्यं प्रिय ।

प्रणम्य प्रवर्ते प्रहरिणि समायातः सहचरः शक्तिधरः । महारथं मन्त्रिणस्य
प्रणम्य, राज्ञा—“पुत्र ! शक्तिधर ! विजयीव”—इत्युच्यमानस्य दिष्टकाटनीटिकाया-
मुपविष्टा पादौ च सहचरः ।

शक्तिधरोऽप्यी वनेन शोभितप्रभः आहूत्वा सुप्रभापरो मन्त्रुलो वयसा पयसिस्तित्वर-
देशीवो, जनार्दनेर्गोपमानमेव “वीर्य-विशदृष्ट-पुरह” सेमुसी-गुणः, कोदरकलेवर
उत्पादकः प्रभावितसमस्तसमीक्षति ।

सहचरभ्यामपि विवर्णः प्रहृष्टमधुर्बन्धितो विलसतनुर्दक्षिणमनीततः, प्रवेद्विन्दुर्ल-
कपेलाचकः पीतदशनोऽधिराजा मुनि इह इव प्रजैवते ।

अप महाराजो मेदण्ठेतेन सूचयन्मुक्तव—

अपि पुरातनं पुत्र ! स्वनि मित्रां कृणोभूतः कोऽयं समानीतस्तथा ।

१ पर्वप्रम् । २ विमलम् । ३ विमलम् । ४ विपुलम् । ५ बुद्धिः ।

शक्तिः—धोचरणकृपया कुशलम् । महाराज । किं विस्मयतेऽसौ चन्द्रमित्रं विश्व-
शेखरः । यो हि युवराजमहोत्सवे तस्मा उच्चतुल्यप्रसूतमभ्यमदात् ।

महा—(निरमृतं पूर्वोदन्तं स्मास्ति इव, पूर्वाभुभूता युवराजसमयच्छट्टामनुभावित
इव विस्फारितनयनः) आः (क्षणं निन्दस्य) यथास्या चन्द्रोऽस्मान् दुःसितांश्चकार ।

शक्तिः—(कथयतो महाराजस्य मध्य एव) देव । श्रान्तिताघनमप्येष एव ।

पौयूरारिप्लुतामिव मधुरां श्रोत्रश्लेत्तसा मानसमानन्दयन्तीं वाचमिमामाकर्ष्य धेनुम-
पीरो महाराज ऊचे, अप्यासारितः कथन समाचारः स्वमित्रस्यापि पुत्र ! कथितस्य
कापि गमनपदवी लब्धा ? अपि कुशली वारते चन्द्रः ?—विशदच्छय कथ्यतां स्वकीन-
यात्रा-वृत्तान्तः ।

शक्तिः—देव, अस्मान्मनसा निरर्गतोऽहं विचित्रविचित्राणि, शोभनशोभनानि इमानि
स्थानानि नगराणि चन्द्रराक्षसस्यम् । परतथ नर्मदातुल्यशैलशिलागुहाषु आतडाधिरं तत्र
वासमकल्पयम् । नर्मदायाः सुरम्योऽयं प्रदेशः । उभयतस्तटं हविषमुरा-यन्त्रकृतिता वर्षा
कृतवर्षाणि कुर्वन्त्यसीत् । विदूरं याचन्नितरामनुदित्य नर्मदा श्वेतगुप्तेमिव प्रत्येत ।
कृते स्तम्भः स्नानसिला श्लीतकाष्ठे पुरस्कृताम सूचयन् । एष्टाः कृते नितरां निविशं
वनमासीद्, द्वितीयतथ निरलयादयः समः प्रदेशः । एष्टाः सार्धं स-हरि-वराह-भाल-
खड्गिना प्राप्यं राज्यं, द्वितीयतथ मृग-वमर-शरा-गणय प्रसूनीनाम् । एष्टो निशितनय-
निशरितहरिणां हरीणां श्वेदाः, परतथाकान्तदम्बकाज्जनां केदिनां केदाः । एष्टा
समूहराशोग्मूलां वृद्धिं, परतथ कलाभ-दहसि दाम् । परस्याविरोधि प्रोद्यन्तं
विममन्ती नर्मदा प्रवहन्त्यसीत् ।

अहं नर्मदारोचमि स्थितानु शिलाभूविष्टोऽनन्तावन्दपुष्पां विबन् कदाचन हरिण-
कायकाणां स्थान-विष्टो तारुणां, कदाचन वन्यशकाकाणां शैष्टप्रदेशो निदण्डं श्रीदं
कदाचन नर्मदद्वन्द्वेण *ललापउत्पलं, कदाचन पारोषु कर्णपुत्रकलनां कदाचन
*भूरिभारसमुदयमयः पश्यन्त्यसीत् ।

नर्मदाद्वन्द्वे सुन्दरिण्युक्तिवत् एव अभ्यस्य असीत् । असीत्ततो केन

१ श्वेता—सिन्दूरः । २ वृद्धि—वर्धमानम् । ३ शिखी वर्धमानं—रम् ।

४ ललापो मस्ति । ५ भूरिभारः श्लोकः ।

वेरफेन तपस्विना स स्थापितो भवेत् । शतशस्त्रापसकुमारस्तस्मिन्वसन्, हविर्गन्धि-
विभावमुधूमः पार्श्वेप्रान्तमपुनात्, परध्व 'ध्वंसावशेषमात्रमासीत् । विल्वरूपाणां
सामद्रव्यानामु निर्मिताः परिधयोऽद्यापि यज्ञवेदी व्याघ्रस्थाणुशिखरेषु" चेत्तदामनीधर्पण-
मर्त्तान्ध सौरभेयीणां प्रचुरां सम्पदमसूचयन् ।

तदानं यस्मिन् तारसाः सविभ्रमं म्यहार्धुः काननीमूतमासीत्, केवलं कचन कचन
स्थिता अन्यदाडिमा बीजपूराश्च तस्य प्राचीनपरिचयमसूचयन् । कौण्डिण्यादापि
देवमन्दिराभ्यासन्, भगवानि नितरां जीर्णानि । तेषां नितीविशयं बहवः क्षुभा
निर्गता आसन् । अग्निमवेदिकानां—यस्य वेदवृत्तिनो वेदमथ्याप्याभ्यासुः—लोथानि
प्रकीर्णान्यासन् । तत्र 'वामद्वरपूराणां पिपीलिकापूर्णानां प्राचुर्यम् ।

एकं विशालं भग्नावशेषं विनाऽत्र किमपि नासीत् । परमदापि—सम्प्राप्तदत्तामीकः—
सोऽतिथिसेवां न व्यरमरत् । विद्वयात्रिजोऽद्यापि तस्य रक्षायासु विश्राम्यन्तो
भीष्ममीप्सस्य प्रचण्डचण्डकरकिरणबाणानयन्तुः । विस्रुतमार्गा 'अध्वनीना
अद्यापि प्रादुर्देप्यान् भङ्गव्यातावसदन्त । सञ्चलमुमिदपि स्तरस्त्वयैरपि फल
वर्धदेवमतोऽयम् । धूपमुष्णम् सृगानदापि स स्ववेदीवामन्तः शं क्षाययित्वा
निर्विभ्रं रात्रि व्यतिपापयितुं सहायिद । अर्जुनशाखासु विदग्धाः पक्षिण आश्रम-
स्थातीतगाधामदाप्यागन्तुकान्प्रवयन् । नगराणां मदमत्तमानवेपु प्रासादेषु, विलास-
शालिपूरवनेष्वज्जन्दस्व वाततमोऽप्यशो नास्ति यस्तत्राश्रमस्य भग्नावशेषेष्वसीत् । तस्य
मूकस्वरेण कुरुगरगे, बाहुत्रिमौदासीन्ने भूतगाधामार्गैश्च-विलम्बणा मादकृताऽऽसीत् ।
माधुर्यपूर्णं प्रकृतेर्दृश्यमासीत् ।

सोऽयमाश्रम एव ममाधुना वास आसीत् । अहमितस्ततः सन्देहरचानेषु परिभ्रम्य
सदैवतिष्ठम् । तस्य भवनानि सम्प्रति वासयोग्यानि नासन् । आश्रमस्य मध्य एकः
निष्पलस्त्रासीव स्थित आसीत्, को जानीते कतित्रिवर्षैस्तस्मन्, जीवने कीदृशैः
राश्रुवातेर्दावानलैधानं व्यभिक्तो भवेत्, परन्तावीद्विस्तृतो निथलो निष्कम्पश्च । अधुना
तस्य स्वचा बार्धक्यं ध्यासीत् । शाखासु बालत्वं युक्तवच्च रीतिमासीत् । तस्य शाखासु

१ सण्डहर—इतिमात्र । २ स्रुष्ट । ३ चीटियो का स्थान । ४ दत्तामी—अन्ति-
मावस्था । ५ अध्वनीनः—पक्षिक ।

सहस्रशः पक्षिणः कुलक्रमेण न्यवसन् । शेष इव सोऽपि तान् स्वशिरसाऽपश्यत् ।
ते सर्वे न्यशीवन्मृत्युपथद्वन्द्वनृत्यन्तर्दन्ताकुर्वन्, परन्तु स सर्वे सह आसीत् ।

मया तेषां समीपे पिण्डस्त्यक्तमे उच्चैः प्रकाण्डे काण्डे एको न
व्यरचि । महता अग्नेष तालकाण्डे वैशदण्डैरेकाकी तमकार्षमेव । सुन्दरमुन्द
कोमलकोमलैः पुष्पत्रैराच्छदिता सा कौशेयास्तरणमपत्यरोत । वंशानामेका छिद्रम-
भित्तिरपि मया परितो निरमायि । अहं विदूररक्ष्यं कृत्वा समायन् तस्मैह सग-
तां मनोरमां कुटीं पश्यन्नासम् । मन्त्रेण तस्या नियोगं न सहमाने आस्ताम् । सपि म-
नेत्रैरिव सहस्रशश्छिद्रैरनिमिषनयना शिबन्तीवासीत् । अहं तस्या कोणे बहुविध-
पल्लानि रक्षन्नासम् । तान्येव मम जीवनस्य साधनान्यवर्तन्त । कदाचन तुस्ति-
रात्री हिलभयङ्करं नशास्तडमगच्छन् वन्यशृङ्गिमीरुद्राणां रश्मेशपिचम् ।

एकदाहं सर्वं दिनं कथं सुख्यम् आसम् । कः पर्यमासीद् मन् कति गण्युतरो
मयापावत्रगाहिरे, परन्तु मम शरीरं निरुगमशक्तमभूत् । धान्तस्य मे
सोऽपूर्वी दिवस आसीत्, मच्छरीरं स्वेदरूपेण बहिर्निरैत् । अहं नर्मदाविप्ररोधवि-
शिलाफलकमेकमधिरावानः कदाचिदारमानं कदाचन भयङ्करं काननं, कदाचन
स्वस्थाबहुदधितामृतामृत्युताम कदाचन बन्धुमत्स्यं कदाचन बन्धुं, कदाचन भवन्तं,
चिन्तयन् धनमपनुदक्षासम् ।

दिनपतिः पञ्चासीत् । दिनमपि तच्छोकं सुखेव ह्य म्लानमभूत् । अन्तरमात्रं
मीनगभीरैर्धूलिमिश्रितैर्वायुवर्तैः पर्यपूर्णं पविमारात् । सुदशयेवानीसकालिः
पूर्णहास्यैः सैनिकैरिकाकाशभेद्यं व्याप्तं पञ्चभेदितैर्धूलिवापारैः ।

मदीयार्जेषु मृत्युपथेष्विव शिबिलेवमिषं भयं सञ्चरितम् । जीवनपरमात्म-
मनतैर्हं विरुध्यं साहसमहरोत्, धान्तोपार्जेषु वर्तना शक्तिः रक्षति
सनगाच्छत् । अहं सत्सत्सत्तरं निष्ठाभिमुगोऽपश्यम् । मन्दरपारेच्छाशरेणैव
मित्रं पण्डनासीत् । एवं प्रसीद् यद् विपत्रो मयाकतः रम्यजितां पीतप्रम-
दगतिं प्रसूतम् । अहम्मान् पीततां रक्षता समन्वितः । परन्तु रम्यजितां तुस्ति-
न मित्रा, एतेनैव सङ्गां कालिनि परिकल्पितम् । इहमीः इहमी नशातोऽप्यन ।
प्रकाशरश्मिरोत्पट्टिकायां वसुधायै पुनः स्थितमपि वसु नक्षत्रम् । प्रसू-

रुचिभिः प्रकाशदीपैरपि तिमिरदुर्गं नाशितुमशक्यमासीत् । महेश्वरिया मायेव भुवनं व्याप्तोदयत् । पल्लवहं मल्लुट्यां प्रविष्ट आसम् । मया दुर्गं प्राप्य मितोवाहं व्यधस्म । काननं वन्यपशुपक्षिणां रोमास्त्रकारिणा कोलाहलेनोद्दिप्रमासीत् । सर्वे स्वाश्रयप्रवणा आसन् । सौभाग्येन मुहूर्तात्परतस्मान्नेश्चनैर्वियद्विशददशमापन् । निश्चया उडवो विपद्प्रस्ताकाशेन सहानुभूतिमिव प्रकटयन्त्य आप्राकाशन्त ।

यथाकथञ्चितीरवता विसृता । वनभूमिः स्वपुत्रान् लालयन्तीव गाढमिदृतांधकार । अहमपि फलानि प्राप्य सुप्तः परन्तु सशङ्कः सचेष्टश्च । शिरोवेष्टनं शिरस्वेवासीत्, कृपाणः कटितटे लभ आसीदेव, वस्त्राणि सर्वाणि परिहितान्येवासन् । केवलं मुपानयुगलमुन्मोष्यैकस्मिन्कोणे निहितम् । कुटीरस्यै एकदस्ततोऽपि न्यूने द्वार एवाहं शयान आसम् ।

अकस्मान्मम विद्रा मग्नः । मम धैर्वधारि हृदयमधीरतामवृत् । तस्य गतिः- शास्तोऽप्यधिहाऽऽसीत् । आकस्मिकेन मयेनोद्दिप्रः सहसा पार्श्वनिकुञ्जाद् गर्जनमभूयम् । उपविष्टश्चक्षुषी विरफायां द्राक्षे यदधो निकुञ्जे जिह्वया सूक्ष्मिणीं लिहन् सिंहो भ्रमति । तत्प्राज्ञाप्रतिमे अधिष्ठीनी नैशिकमन्त्रवारं कर्तयन्ती द्योतेते । पुच्छमुत्पाप्य स गमीसामीरं सत्वरसत्वरं प्रमुक्षित इव पादान्मस्यचित्तस्ततोऽभ्रमत् । तस्य भयङ्करा धंष्ट्राः सन्तमसेऽपि प्रत्यधमैश्वर्यन्त । तत्सोत्पाटितं सुखं सुपटो- राखेटिनः पाटवोत्पाटने पट्टासीत् ।

तस्यैका लपीयसी रुष्टिर्मल्लकुटीरे न्यवतत्, एकेनैवोत्तूर्द्धनेन ॥ मल्लकुटीरोपर्यासीत् । हृदयभावश्चक्षुषोरग्रतः समायतः । स निश्चाहं गर्जनं कुटीरच्छद्रे भ्रमका- सीत् । तस्य मुखादाममसिगन्धो मन्मामसमुद्विजीत् । मर्मरखण्डैः कुटी स्वरसाः शोचनीयां दशां मग्नं सक्कणं न्यवेदयत् । परन्तु सम्प्रति जीवनसंशीतौ चिन्ताचक्रमसमीक्ष्य हस्तपृतनिस्त्रितोऽमीरिवाभूयम् । परं मम कुटी सन्नस्तैवासीत् । तस्य विचिता नसा वंशप्रानीरस्य पार्श्वतोऽन्तः प्रविष्टा आसन् । सिद्धवन्निघ्नेन फणकुटी सर्वाङ्गैरकम्पत । विप्लवास्त्रा मर्मरायन्तोऽ- नृत्थन् । कुटीप्रवेशाय केवलमेकमेवासीद् द्वारम् । यस्मिन्नेह स्थित एवातम् । मयाऽनुलसादसेनाशिणी उपरि कृते ॥ मूर्ध्ना गचितः । द्वावन्नारौ मम नितरां समीपे

ज्वलन्तावासात् । तस्य मण्डोः श्वातः कुटीमयूयन् । सिद्धो भीषणं सङ्गजं
उच्छ्रय्य द्वारस्य सम्मुखीनकण्ठे समैन् । मयापि सङ्गोऽङ्गिनी निर्मीन
प्रदत्त एव । परन्तु सिंहः प्रहारं वधयन्नुच्छ्रय्य पुनर्महता वेगेन कुटीरे
पतितः । अधुना कुटी विशृङ्खल आता । तस्या अङ्गानि सिधिलान्मवन् ।
या कट कट शब्देन स्वशरीरं सिद्धनसाम्राज्यद्वीपीन् । अनेनाकस्मिकेन
व्यतिकरेण सङ्गस्तः सिद्धोऽपि सङ्गज्यं एकतः संतूर्य कुञ्जलीनोऽभून् । मया च
तस्मै ममोऽकारि । कुटीदशा विवित्राऽऽसीत्, भूकम्पोत्तरं नगरस्य संप्रान-
सम्भ्रमगाग्रस्य बीरस्यैव ।

प्राची प्राकाशत । सूर्यदीपमादाय भुवनवीराग्रनामिवावरन्ती सा नितरामराजन् ।
अहं प्रातराशं विषाय गन्तुं व्यचारयन् । तस्मात्स्थानान्मम मनस्तुमसीत् ।
क्षणं भ्रमगात्रां कुटी, क्षणमाधमं क्षणं पिप्ल, क्षणं मत्प्रतिवेशकः पक्षिणः
प्रस्नेहं वीक्ष्य पार्श्वपर्वतकन्दराभिमुखमगच्छन् ।

उपवनमेवासीत् पर्वतः । वनपर्वतयोर्मध्ये एकं विस्तृतं मुरम्यं चक्षुःखलं क्षेत्रं
पर्वतनिर्भराणां विमलजलेन सिधसुखनतां दधशसीत् । एकतः सिन्धुनिर्मितेव सरला
तेषां वंशभित्तिराभवत् । अन्यतश्च शिखरैराकाशं स्पृशन् विविधमलतागुल्मगहनः
लोऽश्नितलमज्ज्म्य विवल्मुधामापिबद्भिः करीरफवसतिविशपारिभद्रार्जुनादिभि
र्भ्रातृणामनवरत्नसगत्कारेण च व्याप्त आसीत् ।

अहमेकस्य सच्छायमद्दीरहस्य क्षीतले तल उपविष्टः पर्वतीः वनपत्न्या वृद्धावलीः
उमाण आसम् । अक्षरमान्मया दृष्टं यत् सान्द्रद्वमनिलये आलभन्ती द्वौ
पौ पर्वतप्राणविकर्तननिर्मितायां गुहायां प्रविशतः । कस्तस्या निर्माणकाल
ज्ञेय, कियता धमेण कतिनिधय वषैः सा सम्पादिता भवेत्, परमशयि
ः । गुहाभवान्निर्गतो 'हे प्रभो ! हे नारायण ! हे दीनबन्धो ! मा
जीवये'ति विरलविरलोऽस्फुटशब्दो ध्वनिर्मत्कर्णौ स्तर्कावकरोत् ।

अखनपदव्याप्तोऽहमर्थं यत्लोहदण्डद्वारायां कारायां विद्वशेषारः प्रहृष्टमधुः कृपाः

हृणो दोनो म्थानोऽपरिवीयमानोऽसि । तन्मुखादेव तानि पदानि निःस्रामि ।
तादृगवस्थं दृष्ट्वा हृदयमसाधारणया कष्टतया पूर्णम् । लघुरेव 'विष्कम्भक' भवतीत्यदमे,
पादापपातेनैव तं सघोऽभिदम् । ततश्चैनं मयाऽऽनीतवानस्मि, तथा धीमताममे
रिधत एव । अनेन कथितं चन्द्रगमनश्रुतमिति ।

ततश्च समस्तदां साधुवादेन कष्टैव विरते धीमति कर्त्तव्ये प्रवर्द्धमानस्य महाराज-
स्याधीरतायां मौल्यं भजत्यु च संघयेषु चाक्षिपराङ्गव्यसङ्केतः स व्यजिज्ञात् ।

देव ! केवलं देहमात्रमिन्ने परमसुखं धीमति चन्द्रकुमारे गते द्वित्रेषु
दिनेषु व्यतीतेष्वहं मम निवेतनस्य क्षोभे^१ ह्युत आसम् । ममाकरमाक्षिप्त
भाना । निष्पीडः । सर्वतः प्रयुता च भौषणा निस्तब्धता । कूरतामन्तर्धर्तुं^२
तमस्मिन् च विहारां तिमिरिणी । मित्रीकहणफक्कारमन्तरा कोऽपि चाप्यः धृतिपथं
नावातत् । समस्तं जगदापादमस्तकं भवमयमवासीत् । क्षिप्रधाविना भवने-
मातुभूतो भवनस्याधीभाने कथनापूर्वीं ध्वनिः । उद्दिप्तो भीतधाहमसामयिकेन चानेन,
भित्तिमज्जुपातः पञ्चदिकं 'निन्दिरात्रमेकं निःसर्गं कुक्षि' 'शुद्धिचार्यं संस्थाप्य, भागदन्तेषु
लम्बमानावां चन्द्रहातानमेकतमं लघीयातं हस्ते हस्ताऽऽवदितवरणः सौपानैरवतीर्या-
ऽर्धं दन्तम दत्ता लुच्येतना एवमिदं विद्वारे सञ्ज्ञानं रोते । तान् विहाय-
ध्वानं विविक्तवृत्ता मया कष्टसुखचिह्ननिर्गमनलघु दृष्टं ज्योतिः । कपाटे
पादापातेन निरर्चयं यत्कपाटपुगलमन्तरतो 'मुद्रितमस्ति । अनुभूतिः प्रत्यक्षता
मभूत् । कतिचन पुरः शनैरालम्ब्यदिष्टिर्भावा मम कोशवर्तं सत्वारसारं
बहिर्निर्दिष्टम् । 'निर्माश्रयिष्यमस्तथासितं वस्तुजातं प्राचक्षत । ईते
ह्यस्तुमुद्रियन्तीति^३ कर्णलोच्य बहिरागस्त दृष्टवान् यत् त्रयः पुरा मन-
कोशवर्तं प्रमोष्य षोडशिकास्तावथ कञ्चिवायोज्य गन्तुं सन्तः । त्रयः पुरः
हारीरेण, सारसेन, कुम्भ्या, राक्ष्या, शस्त्रेण, हस्तेन, क्रीडेन च गरिष्ठाः,—
एकधर्मास्ति विचर्यामि नामधनदं चाक्षप्रोदंमार्गं कोशवर्तं द्रष्टुम् ।

१ ताला—इतिमाया । २ दसकोमल्लये । ३ तिलील । ४ पेटके वय की थेव ।

मुद्रा —इति मया । ६ टोचं लाईट ।

“तिष्ठत रे । चौर्यकलङ्कपङ्किलाः । दुष्टप्रथाः—इति सगर्वनमाभाष्य सदृशमेव
मारुढो निष्कोशकृपाकृपणकृपणपाणिरहमन्वधावम् । किञ्चिद्दूरं गतो व्यवहारम् ।
यदेते निर्दयाः साहसिका—एकास्त्रिं मां हन्युस्तदा दुःखदमिमं संवादं कः भवयिष्यति
स्वजनसम्बन्धिनः । सर्वे मित्रवान्यवैरविशक्त एव मरिष्यामि । मम हृदयगतिः पदे पदे
व्याकुलता चावदन्त । उद्धताः वीरभावा एकपद एव विलीनाः । सुखमण्डलं खिन्नम् ।
करोऽक्ष्म्यत । शरीरं शिथिलताममापीत् ।

अकरमादधः—“हिं हिं शब्देन सन्ध्याममनक् । तद्वाचि उस्ताह आसीत्,
स्वामिभक्तिरात्मविश्वासश्च । अकरमात्तिपरमभूद् हृदयम् । भीतिर्वीता । अहमस-
हायोस्मीति भावना नष्टा । पशुरयमस्माकं किमुकरिष्यतीति निश्चयः तस्य ह्वेषः—
नर्वनिनोत्साहेनाहं प्रतिबोधितोऽद्भुतधैर्येण पूर्णः ।

सम्प्रति मदीयो काहो वातेन समलत् । तेषां वाजिनोऽपि वेगेन मार्गमक्षयत
आसन् । परन्तु ममाप्यश्वस्तेभ्यो निवृत्तो आसीत् । को जानीते कति क्रोश-
मन्वानमहं व्यत्यास्य, परन्तु नक्षत्रेक्षणेन रात्रिः स्वल्पैवावशिष्टा प्रत्येत । तेऽहस्मा-
दश्वेभ्योऽवतीर्णाः । अहमप्यवतीर्ये बन्गा करीर शास्त्राध्यायोऽयं मया विना
रिपुनो निन्दितः निःशायं ग्राह्यम् । अनुदंशी चन्द्रश्चरैत् । व्यग्रस्य ममाक्षिणी
सम्पत् नावश्यताम् । तथापि द्वौ पुरयावाहती, एकश्च परेताराश्याचनैव
मकरवम् ।

यदा दृशन्ति । चन्द्रप्रकाशान्नादयं तमः । अस्मत्पर्शरहितत्वायं प्रवेष्टाः । मदीयं
नमस्कीर्तनं घनरुचिं त्रिपुञ्जराग्रे प्राप्यत, तदैव “वीर । वीर । पश्यति । पश्यति”—
इति समधूयत कर्णजुद्धरावलीटनः करासी वीर अवदः । भूत्वा वेगपुञ्जकाले
कुण्डित-रग्ने निष्कृत्यवनशाली प्रोत्तमदृष्टये कम्पमानश्चरचरवले भीमा निर्वृत्ति-
निन्दिराज एतिष्ठतोमनिष्ठरग्ने स्वेदद्रव्यगच्छीरे मयि निष्ठतुप्रवन्मन्त्र
निष्ठतः कम्पतव्यकलङ्कितेनेव, कालकम्पनेव मर्षापूर्णातेनेव अन्तेष्टेष्टिर्मरीष्टा-
हातुनिष्ठेनेव, सखिष्टेष्टेष्टहातुनिष्ठरग्नेतिष्ठितेनेव, कश्चरवर्देनेव हातुर्देष्ट-
कृतेनेव, कदाप्यस्त्येव महेश्वरीदमावेनेव, ह्यन्तुदेनेव वैश्वदेनेव शरीरेनेव

कृष्णपटेन समावृतशरीरो नीलवस्त्रावुष्णिताननो भयङ्कराकारः साक्षर इव कालो दृढशरीरो माल इव हस्तपूतमङ्गः कश्चन ना ।

साक्षान्मृत्युमिव पुरःस्थितं तं धीमय शोचच्चहमात्मानं धिक्कृतमकार्षम् । अश्रुरवृते विलस्य गरीयसा शोभेन प्राणानपि स्वहस्तेन संवीक्षितमारोपयता भया सास्याविमृश्यकारित्वं व्यक्तम् । तरङ्गवत्सल चञ्चला जीवनपारावारे समभ्येति नश्यति च बहुधा, परन्तु तत्तुरजमिदं न पीनपुष्पेनाप्यते, हन्त ! कथं मिश्रतप्यमस्मान्मृत्युमुखात् । कथमस्य विपत्-
पारावारस्य परं पारमाश्रयेमिति चिन्ताकुलो मरणमवश्यं सम्भाव्यमानः सत्परमेवा-
सिना प्राहरम् ।

परन्तु बलिष्ठेन प्रकोष्ठे गृहीतोमुना कालेन केवलं स्या निःश्वसन् अन्तःस्थितं क्रोध-
प्रतिभया वमन्नासम् । तावदेव बाधुष्यनिना' संकेतितः कथिदागत्य शिरसि विषमय-
प्रचुरपरिमलमूर्च्छां दायकौषधपरीतं वज्रं प्राक्षिपयेन प्राणाप्रवृत्तिवैबाहं नष्टसंज्ञः संश्रुतः ।
मृष्टमूर्च्छांश्चात्मानं सोहृदन्धनिमित्तद्वारे कालपारे प्रपम् । यस्मिंश्च कम्बलद्वयं
प्रावरणवित्सारथे, पयःपूर्णघटं अमृतमुन्मीपात्रं विना नान्यत् किमप्यासीत् ।
कथिन्मूढो दासो द्वित्रैरहोभिर्महामर्षं प्रपद्यन्मासीत् । तेनैवाहमिषन्तं कालं दुःखमा-
कलयामि जीवामि ।

अन्यथा प्रमाते स्वप्नमन्वभवं यच्चन्द्रः करेणुकमाच्छदो महति समारोहे समग्रिय-
माणोऽष्टचरे नगरे राज्ञो हर्म्याभिमुखं प्रयाति, तमन्वहमपि शक्तिमत्माहृदो यामि ।
विलक्षणो बाधुष्यनिर्गन्ध' मुखरयति । अकस्मादेको महोत्सोम' धत्तिता । तेन-
महाशब्देन व्यग्रोऽहं निद्रामकहाम् । क्षणं स्वप्नं क्षणं स्वप्नीयां वर्तमानां दशां
विमृशन्नाहं निशां व्यगमयम् ।

बभूव सुप्रभातम् । अद्य दिवं मम जीवनस्य निश्चितं दिनमासीत् । स्वर्गद्वये
वदंतात् । किरणायली प्रयोद् प्रावर्षेत । पक्षिणो ह्येन आदिसन्देशमिवास्त्वयन् ।
गुहावासिनो मृगा अपि सहानुभूतिं प्रकटयन्त इव मदीयद्वारद्वये कण्ठमपानैवान् ।
विचारव्यग्रे मयि अवहित इव मध्याह्नमतीत्यालोक्योऽभूत् । पादप्यनिद्रिताप्राप्तिः । ययानु-
मितं मूढदासो भोजनमानयति । अहं जीवने निराशस्त्वासयेव । सद्यो जीवनक्षपणाय

परमेशं प्रार्थयमानेन क्षरावासदुर्बलाभ्यां नेत्राभ्यां प्रैक्षि यच्छ्रोमान्मन्त्रिभुनात्
परमशक्तिधरशक्तिधरो द्वास्त्य पुरो वेदिकामध्यास्ते । क्षणं मया चन्द्रस्वन इवोऽपि
स्वप्न एव मतः । परन्तु क्षणेनैव आहितमान्यो मनसि निवेक्षरेखा समचरत् । भजे
तालके सर्वाङ्गबलेनाहगुडितम् । सस्नेहं, सच्छृङ्खलं, सत्वरं मञ्जोदनदारणयोश्चरत्
सरोरुहयोः पतिनोऽश्रुस्रोतसा वनप्रमणधूलिभञ्जितम् ।

आभारी ऋणी कृतज्ञश्चास्मि यदस्य अपेक्षितमर्थं प्राप्तां सम्पत्तां नितरामसम्भावितं
दर्शनसुखमनुभवामोति कथयित्वा विरिंसतीव तथरि, “चन्द्रः कश्चित्” — निर्दिष्ट
साधीरं भागमाने च राशि पुनः प्राभत वक्तुं सौतप्रचुरच्छ्रुत्वा ।

देव, चन्द्रः कः किमर्थं वा गतः — इत्यहमेव जानन्नसम् । यतः स मया सदैवामन्य-
गतः । शक्तिधरस्तु नासीत् ।

महा० — आम्, अस्माभिरप्येतदेवान्यमायि यद् विश्वेश्वरोऽपि तमनुगतः ।

विश्व० — एतदेव विचारितमासीत्, परं मध्य एव यस्मिन् विस्मयोऽपि न्यमजं तच्छ्रो-
मतां पुरो निवेदितमेव ।

महा० — (किञ्चिदर्थैरेण) आम्, आम् ततः ।

विश्व० — देव, किं न स्मर्यते भगवद्भक्तिद्विधाया, विमलपुरेश्वरपुण्या च चन्द्रस्य
परिणयप्रतिज्ञा ।

महा० — (सौतच्छृणुते मनसा स्मृतपूर्वोद्भूत इव) आम् कथं न, चन्द्रे गते सतद्दे-
व्यतीते सतस्त्रिलोकः समायातः ।

विश्व० — एकदा सान्धिवेलं विधि समाप्य प्रादोपमशानमुग्धुय भवनमुत्तोरपने
पवनानन्दमनुभवति मयि द्वाःस्थश्चन्द्रागमनं न्यवेदयत् । स्मितेव रात्रिमुलं रात्रयति
मौनमुपविष्टे तस्मिन्नहमवोचम् —

वातलेऽपि खिन्ना कपोलपत्नी गरीयांसमाधि प्रच्छत्यति, म्लानं मुरं कातर्यनि
म्यनक्ति, स्फुरदधरो धैर्यमिवावधीरयति, स्पष्टन्तौ चाणौ महतीं मुत्सुक्ष्मां धृष्ट-
किमिदं क्रियास्य कारणम् ॥

चन्द्रः — सत्यमुल्लङ्घितं मित्र ! वरपुत्रो नितरं खिन्नोऽस्मि ।

अहं — कुमार, कोऽयमभिनवः सेदावसरः ।

चन्द्रः—आम्, अभिनवः, यदयमामन्त्रणायागतोऽस्मि ।

अहं—अयमहं धीमतां जन्मवोऽवगिव दासः ।

चन्द्रः—सखे, सखे रोऽस्मि । पश्य त्रिशुराश्रानेन द्वाप्तो ब्रह्माभ्युपेक्ष्य लज्जामिदं पत्रम् ।

विश्वः—देव, तदेवेदं पत्रमासीद्, यदुज्जयिन्यां निमलपुरेश्वरेण लिखितम् ।

तदिदं पठित्वा स मृगमुदताप्सीत् । ज्यञ्जितकोपोऽवोच च ।

“अयम् तुल्यचित्तमनामन्तराधीयमयसस्यमाचरितमिदं पत्रं विस्मरता तातेन, महत्तत्त्वमदानां
मेतु परिचीता, यतो न पूर्णं रूपः प्राप्य द्विष्टनरविवाहितः कुलीनाः कन्यास्तदा महद्-
भ्याप्यम् ।”

“कुला, शान्तं पश्यम् । अमरस्यदिनी ते सम्पत्तिः, नेत्रघटविलोम्बया काममोहिनी
ते मूर्तिः भूवालककक्षीतितक्षीतः धीमधोमहमाश्रनवेन्दुपालसैकाक्षी प्रियः पुत्रः,
समस्तसर्वदत्तं दत्तं, पूर्णं यदस्ति दत्तंमात्रोप्येदं तुल्यम् अथ द्विष्टस्याऽदत्तत्वाद्दानस्तन्मये
तापि महद्बलसरोरुहस्यमयेऽत एव । विलक्षणोऽयं भगवान् विधिः” ।

“सम्प्राप्यते, परं श्वोभानिराजतिलकस्येन्तमयं स्थित्वा परत एतदयं
मास्यामि ।” इति ।

तदेव, चन्द्रो निमलपुरं गतः सर्वं होममेव विधास्यति देवः प्रमथनायः । तस्यमेव
धेय्यते देवेन चन्द्रस्य । अहमेतत्सर्वं विदुस्तपि धीमते निवेदनायात्तन्मयावसर आसम् ।

“परं विलम्बे कोऽवसम्बः”—इत्युक्त्वा मूर्च्छितो महमाश्रः ।

* * *

प्रतःकालः, कमलज्वोद्भास्यतुलारं विवकासं सुपभातम् । कर्मेकरचरेरसानि कार-
यन्ती भासकदिराजती जगतः कपे कपे प्रभुता । सकिपरी त्रिपतिपुः प्रियं सया
वसानुप्रे दर्शनान्नुनीलपन्तं स्वपुत्रमुत्तमम् । स च हास्येनाभिनन्देत्तमाह—

“पूर्वं महानिम्बसारस्येति कटुकाकापयवितं परिणामसुखं कर्म कुर्वन् नरो बंदोयो
दरास्तोति; अतो राक्षस-नारदं वयाव भवतादः सन्दरपेयमयस्येव भवदत्तं भ्यम् ।

“यतोभावो मनस्येव धेदात् । परिचरयता किन्तु सत्तर्कानुच्छेदेन च भवितव्यम् ।
निजविदुह तं सया भवदर दया त्वं भद्रवदं मये, किन्तु मा वाम अविज्ञाताकपरिचारेभ्यः
अपः । विराट् परिहृत्, किन्त्वर्जितहर्मो हस्तिन इतो मये, दया न स पुनस्तददेत ।

॥५॥ मा वद । सर्वेषां विचारं धृत्वापि निर्णये स्वतन्त्रः स्याः । निधिं निरीक्ष्य मयं
वज्राभूषणे सभ्यतां मर्यादोक्त्युक्तेः । धने नादाता नच दाता भूयाः । सत्यमात्मै
भव्यभावनः सर्वदैव सशृणो भवेः । प्रतिशतपरो भूया इति ।”

*

✱

✱

उपसमुद्रं स्थलम्, स्वर्णकणा इव मुद्रसन्निभा धूलिकणाश्चन्द्रकिरणराम्यर्चाद् भासन्ते
कस्मिन्नपि दिग्भागे शङ्खनिकुलाकुलिता नैक्ष्यन्ते सान्द्रपादपाः । कवचन कप
रात्रं राशी नारिकेलानाञ्च निरम्बविरताऽऽवलिः ।

शक्तिधरो यानस्य प्रसीक्षाभवने क्षणं विधम्य राज्ञो पित्रे च सन्दिश्य सहयोगिनोऽभि
नन्दानुदुदामितरणिं प्रविशत् । तरणिष्वेयमेकाऽप्यीयसी नगरेवासीत् । पृथक् पृथक्
श्रेणिविभागः वाचनालयः, भोजनालयः धर्मनार्थं स्वीकार्यं वैदिका निवासगाराः
तेषुप शयन-विभ्रम-शौच-स्नानादिधर्मणां कृते नितरां सौकर्यम् । शक्तिधरोऽपि प्रा
म्यराय फिमावाधं प्रविश्य कार्यक्षमं निरमासीत् ।

अथ नौ बाहुज्जनिना जनाञ्च प्रसूय्य धरन्-रुराज्येन धरधरावितधरा भोगेन विभज्यते
कर्तव्यमतीतं पयोधिं प्राचलम् ।

धान्तो भगवान् गमस्तिहलोऽन्त्यस्य चन्द्रमस्य गृहमनुपहतः । गृहयोरसारीरं पृथगिव धान्त-
 मभिजलस्य प्रगुणम् । दिवसस्तौ प्रोदिने चोदशिवे च योः पतिमता योः पितृषु कृष्णप्रवर्ण-
 मीनमन्त्रस्य स्थिता । पञ्चानविष्णुस्यैव दिव्यमन्त्रस्य सारितां न्यामिनेऽतितामन्त्र-
 विनीतृत्वं तमसि लीढम् । प्रथमस्तमन्त्रेणागि सप्तः सम्प्रवर्णः पुष्करं रूपं प्रगुण-
 पुष्करिणो नवमभ्यसिन् । अष्टमादेषिष्ट बायो रंहः । क्षणेनैव गगनं क्षणमी-
 रम्भोऽनेन सान्द्रमनस्योदयसन्तीति विद्वद्भिः । निष्कण्ठप्रवर्णस्य अष्टमस्यैव
 मेष्य सूर्यः, सप्तमस्यैव मेष्य सप्तमस्यैव मेष्य सप्तमस्यैव मेष्य सप्तमस्यैव मेष्य सप्तमस्यैव
 धर्मसिन्धुमन्त्रैः सुगन्धस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव
 दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव
 दन्तेन्यदसंहरिणं हननं विमर्शम् धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव
 धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव धर्मस्यैव
 दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव दिग्गन्धस्यैव

समुद्रोऽथ लच्छद्भुलमनुगैरनवर्तं विधीयमानां घर्षणमितोऽधिकं सोढुं न शक्यतीव
प्रत्येत । स्वभावान्भीरं तस्य हृदयं मानवानां स्वात्मरस्तन्या निरोधीव रणाङ्गणे मर्त्रतो
देत्यादपि प्रचण्डं, प्रलयकारि चासीत् । उल्लोर्लैस्त्राडिततरेः, मुसलधारं पतता धारासारेण
हतोत्साहस्य प्रधानकैवर्त्तंकरव मनो विह्वलतां प्रापादि पदे पदे । निमीलितैकनयनः
कदाचन दूरवीक्षणेन परां नावं, कदाचन जलप्रणल्यं, कदाचन मन्मथवातस्य गतिं,
तस्याः प्रशमनकालाय परामृशात् ।

जनमानसानि भगवन्नामजये समान्यासन् । किन्तु शक्तिधरदशकिधर एव ।
तस्य सुषटितं शरीरं निर्भीको धौवनमुलम आत्मविश्वासस्तेन सार्द्धमासीत् । भयङ्करेऽपि
समये सरितां पत्युस्ताण्डवं पश्यन्, धायन्नास्त ।

अङ्गरमात् कल्लोलतंहरता मृशमाहता तरिस्त्रियम्भूता, जनतायाः सकृदणः कोलाहल-
स्तमःस्तोमे स्त्रीनः ।

दिशि दिशि ततरन्याते विद्वद्वराभवरङ्गतो
यिततमहसः शाब्दे शास्त्रेऽयतीर्णबृहस्पतेः
व्यभित कृतधीः के० के० शास्त्री मनोहकविप्रियं-
बहुलमधु तुर्थो निःश्वासः स चन्द्रमहीपतेः ।

इति धौडीकमानीवेदवेदप्रविद्यालयमुख्याभ्यासार्थानां
पवित्रतत्रवारमित्तत्तत्तत्पूजितपादारविन्दानां
धीलधीनबाहुराधप्राप्तिनां

तनयेन

काव्यलङ्कारेण

धोनिवासप्राप्तिना रचिते चन्द्रमहीपती चतुर्थो निःश्वासः ।

पञ्चमो निःश्वासः

अपि दलन्मुकुले चकुले यया
पद्मघायि कदापि न हेलया ।
अहह ! सा सहसा विधुरे विधौ
मधुकरौ बदरीमनुसेवते ॥

सुभाषितम्

अन्ननवेदी यमुघा, बुल्या जलधिः, खली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

बाणः

इतो विद्युद्बल्लीविलसितमितः केतकरजः
स्फुटद्रव्यं प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमदः ।
इतः केकिक्रीडाकलकलभरः पद्मलक्ष्णा
कथं यास्यन्त्येते विरहद्विषसाः सम्भ्रमरसाः ॥

सुभाषितम्

देव,

प्रत्युषः प्राकाशत । मुकुरोज्ज्वलाः मुक्कवित्त्वा उड्जिघृक्षन्ति विस्फेपे
धावन् दिदृक्षमाण इव वा सांसारिकमाधर्यं भगवान् भास्वानादरोद्गोदयगिरिम् । भक्तपोषणा
जगत उदमविधमया ॥ मम निद्रा भग्ना । मम शिष्यपरीक्षिणा प्रणेनानुभूतो मत्ते
विलक्षणो गन्धः । निरुतां शिथिलानि गतस्फूर्त्तानि ममाङ्गान्यपि मूर्च्छामिवास्वयम् । मम
व्यायामि वपुश्च पर्यङ्कयित्वागेऽनीहम् । पादौ कमलापर्यङ्कं निष्कमलं प्रेश्य मम
सायङ्मभूत् । मटित्युत्पादेतस्ततो वीक्ष्य बहिरेत्य सहचरीस्पृष्टम् । ताः प्रत्युः

‘मनोरमे, किं मणति बहिस्तु न समेता स्वामिनी जागरणसमयमपेक्षमाणा विरं प्रतीक्षमाणा भवती मुनिद्रवितुक्षमा इत आगत्यः स्मः’ ।

‘किन्तु भवने नास्ति राजकुमारी’ साशङ्क्यं प्राबोचम् ।

एकः प्रवाहः प्रवृत्तः, क्षणेन भवनस्य कोर्णं कोणमवगाढम् । महाराजो निवेष्टितः ।
सकौट्टपाद्याः नगरनियामका मन्त्रिणा सहैवागत्य व्यववृत्तिरे, परं कमला नाधिगता ।
देव, धीमति याते प्रत्यहं दुष्यन्ती नैममापाते सोढुं शक्यति, देवस्त्वरयतु”

“राज्ञा आरक्षानियुक्तैरन्ततः किं विनिर्णीतम्” । “देव, अन्ततो मन्त्रिणा नैशः प्रासादरक्षको देवसः समाहृतः, अथयुमन्त्रो रज्जुबद्धः स्थितिलाहो निष्प्रभसुप्तो वर्षरपता स्वरेण सर्वं नैतोदन्तं प्राबोध्यत् । अग्रे च रात्रौ प्रेषितानां वराणां सुप्ता देवाः शृणोतु —

“देव, पश्यो रात्रौ पञ्चया जना महत्तरास्त्वाथरैः साध्यं वीक्षिताः, किन्तु देवस्योत्सवे समागमाशङ्कया न विशेषत आशङ्किताः । एको महत्तरो रात्राणुपहर्ष्यं वीक्षितः, स एव च रात्रौ नदीमार्गमाहूढोऽवलोकितः । वद्यासुते नाविक्रान्तयेकेन सूचितं यदपररात्रे कतिचन घटकाराः शोकेन साहं जीवन्वौचास्त्वाहं वने विनिर्गता” इति ।
चन्द्रधराणां योग्यतामकलां विभाव्य ताम् किमपि निर्दिश्य स्वयमेवामेवरोऽभूत् ।

*

*

*

“विवासा बाधते शुद्धं कलं लब्धुं शक्यते ।” नवागन्तुकेन वृद्धा प्राबोचि ।

“भवश्यम्, उपनदि बाहुल्यमस्मै, क्षणं विभ्राम्य, धूलिवृत्तरणमववस्तभ्रमणं, दीर्घो-
निःश्वासप्रव्यन्ती वाक् च त्वां श्रान्तं बोधयति । त्वादद्यानां कोमलकलेराणामेवं
निद्रासहाय्यं भ्रमणं मनो भ्रमयति ; अहमद्य भवन्तं दुष्यन्ताप्रस्तविषानुभवामि ।”
—गोविन्द, सद्यो जलमावय” —मुखं व्याकृत्य कैवर्त्तिक आह ।

“नानिकं त्वमदः कार्यं कुर्वन्नेव वृद्धो भूतः, मन्ये बह्व्यो घटनास्त्वया दृष्टाः”

“महाशय, नदीतटं दुष्यन्तानां स्थानम् । यदा एतद् मरुत्प्रद्वयेन प्रवर्धयेत च
प्रावर्द्धत नदी, शृङ्गाणि शृङ्गिण्यः पुत्राश्च तिलुताः, भ्रमणव्यसनिनश्च प्राक्षणां
कवलोग्भूताः ।”

“इत्यवोऽपि नया सामान्विता भवन्ति” ?

“अथ किम्” ।

“एषु दिनेषु त्वया किमप्यस्थाने दृष्टम्”

“पराहो निशोधात्परतो निद्राब्दगमनलघुतरमरुत्तराहृदयप्रयः पुरुषाः समेत पाथ एव तमालनीला चान्द्राम्ना स्थित्यस्ति, निशीथे तत आगमनमार्ध्वकरमर्ध्वं भद्रं जागर्ति एवासं वृद्धभावाग्निप्रा सम्यक् नैति, यतश्च कनीयान् मृतोऽस्ति सा न च द्रव दगीलीना, चर्षा.....”

“स्थाने,” ततस्तथा, भीत्युत्थाद्वचस्तर्ति प्रोटयतोक्तम् ।

“ते मां मुद्रापथकमस्तरं” दिसचोऽतिवेलमाप्रहीयुः, किन्तु कश्चिन्प्राप्यतामनुप साहाय्यं न दृश्ये” तमालधूममाहृत्य पुनः प्रोवाच आविष्कः—इतः पारमस्मिन् च विचित्रमवनानि नान् वषयगति, जगत्क्यन्तावां लुप्टाकानामेवायं नितयः । ये गताः न प्रतिनिवृत्ताः ।”

“भाम्, ते क्व गताः”

“क्व गताः” इति तु ज्ञानुमदाशयम् । ते मरुत्तरदेहं क्षवमिष, वयुर्णां मयूखारणयाधना जीवननावधोत्तार्य वयां निपत्याभिर्वर्णं यान्तथमुपोरगोचरे गीताः । मरुत्तरं गतो वयागताम् ।”

“यस्यो वयां वशीजरस्य वा”

“वयान्तरित अस्तीच्छवः (विविदिषार्य) विजिलमिव धूमने रम । मन्वे वीच्छ वशीन् ।”

“त्वं मां पारं प्राग्विष्यसि ।”

“ननु देव, मैत्रेयान्न यत्रा मज्जकानां वृते व्यापि ।”

“पुरातनः कञ्चनान् पीडयन्ति, तस्मिन् मे ममवमार्तं प्राचय ।”

“यदेवं तर्थावदमेव कर्तव्यमि । किं नाम मरुत इ”

“वन्तः” ।

उत्तरागमनेन चन्द्रमहोपतीः पुरुषं वदति, विषमदृष्टिप्राप्तं पुरुषं वदति, अन्तरा

१ अन्तरा कञ्चनान्

कल्याणस्पृश्यतले, विशालशाखशाखिसहस्रसङ्कुल, कुलभवनकोष्ठेषकानां गृहं गण्डकानां
नित्यं लुलायानां, सद्यः सिंहानां वेदम व्याघ्रानां निरुतनं करटिनां कन्तासम् ।

अतिशयशीतलार्द्रायां वनावनान्मिनवानि पदविहानि पश्यन्बद्धिः शुष्यन्तीं
गलनलिङ्गमोष्टयोः प्रवृत्तां पर्वटीं प्रस्पन्दमानं चेतथ नारजः स्तब्धसेनाभ्रातृ
श्रुतवानदो वचः ।

“आः दुराः, सर्वं जीवनं दुष्कर्मसु भवद्भयो विगमय्य हृत्पमुपहतोऽस्मि । मया
सततो निरपराधा निर्दयं हन्त इतोः आः खलम्, हन्त मतोऽपश्यते । सत्यः
पातिताः.. महात्मानोऽवमानिताः, सत्यं मया लज्जम् । किं भवे ..(पर्यरपता स्तरेण)
हन्त, वराकी कमला ।”

अन्तिमशब्दध्वनेनैव स त्वं ध्यमायीत् ।

वाचां प्रचारमन्वेष्टुकामो यथा प्राचतत्तपैवाप्राप्तीन्मिश्रमाणं निःश्वरद्वयुलान्दमाना-
वपवमुष्णशीणितशोणितशोणिमधुसूयोने पानोक्तोमुमुक्षितपरं वाम् । तस्य
प्राचस्पृष्टितो शिद्धाऽन्तर्गता उत्तरके दृष्टी सिधितं शरीरमासीत् । स मुखं व्यादायानन्त-
विश्रयामशेत ।

पावकश्चो भ्यविहितदधौवीत् विह्वल सतीरयत् रम्भासम्भं सम्भयत्, मेनकां
मीनयत्, उर्वशीं वरायत्, तुम्बुहं सम्भयत् कदलीमुकुतां दत्तयत्, सुषामवधोरयत्,
विष्णुहृदि, वित्तमनसामनि विह्वलि, पशुपतिशामनि मनोहारि विमानिताम्बरोमानं गानम् ।

निर्जने वने मनुष्यमृत्युः—प्रहारेण न वन्यहिंसणे पुनश्चैवमचेतोद्गारि गानम् ।
विरेः मयद्भारमपीमयीनिविष्टो मेतः । आश्चर्यम् ।

गानोत्तरं तावत्प समकोचवां विधित्सुर्यथा स प्रातिष्ठत तस्य विमदि हरयं
नानुमन्यत । प्रतिनिकृत्वं दृष्ट शशो नमोत् । निकुञ्जः निष्पुटकृत्यप्राक्लोदितः,
सोषितं प्रवृत्तमासीत्, सन् तत्पश्य कुत्रचिन्वितः ।

उपकाननमेव प्राहृतिर्दं विस्तृतं क्षेत्रम् । दुर्वा नमिन् न कुसुमकता न च पुत्र
पादाः किन्तु पक्षिबन्धः कचन समूहिताः विशालाः पात्निकः रात्रायोर्बं विष्टाः ।
क्षेत्रादरात् गगनं स्पृशन्तः पर्वतमखः श्रेयन्ते । मधुसूयसदृशसूर्य्यया सान्द्राक्षिष्टा
वाति रदेकरिन्नु दृष्टो समारुहोऽप्रमत्तेव दृशन्तरं गन्तुं शक्नोति ।

तत्रैकस्मिन् पादपे कीशेयदम्निषड्यां दोलायां समानवरोर्णवामोभूतानि
मुन्दर्यः रसागाहृतीकूर्णं सरस्वतरां मधुरमधुरं तात्तारं गायन्तिः—

रम् भूमू रम् मम् सल्लिन्द ! वर्धसि । स्थायी ।

भावणमासौ हासो भूमेः सान्द्रो वातो जगदभिरामम्

मारामृतमिव वर्धसि । (१)

विद्युदियं स्वर्गाद्यवर्णां निष्कृत्रितवधिरीकृतकणां

आहृत्पाञ्चुशमशयति (२)

अमितरुचिर्वा नीरदमल्ला कालिम्ना कलुषेकृतशालाः

मम मानसमसितयति । (३)

निमलेयं छाष्टी मम तन्वाऽऽदिल्लिष्टाऽऽर्वा तादस्यमुपेता

अमितो मां ससि हसति । (४)

पिङ्गवाणी भवणान्तर्विष्टा विमथितमानसवदितकथा

रुर्वा श्रुदुमिवेच्छति । (५)

मञ्जुलवञ्जुलसान्द्रनिकुञ्जे केचविह्वलं सारसरसितं

मम्मममदिरां वर्धति । (६)

गानेनापुना विस्मृतान्यध्यापार उन्मुखो मृगगणो मन्त्रमुग्ध इव रीठमद इव
वरीकृत इव रज्ज्वाऽऽवध्यावृष्यमाण इव विवशस्तत्र व्यथोभिष्ट । साधर्यः सावचल
अन्द्रत्ता वीक्ष्य यावदग्रे प्रचलितस्तावताः दोलादाग्नेव सान्द्रपादपेष्वारुह्याः सवर्त्मना
लीनाः ।

चन्द्रो इयचारयत् :—दैवं मानुषीषु कदापीदृक् रूपं प्रैक्षि । अद्य कल्पना रूपसत्ता-
मप्यरसां साक्षादृत्त्या प्रत्यक्षीकृता । विद्याभिरपहृता भवेत्कमला ? किन्त्वासां रूपमीदृ-
नाख्याति । किं पुनोशयकिस्त्यं करपत्रायते ॥ प्रकृतिस्थं पानोऽयमपि प्रत्यक्षयति ।
सुपमा...वाङ्माधुर्यम्...विचित्रम् । अवश्यमेता एतत्प्रदेशस्याभिज्ञभूयः । एतासां
साहाय्येन कमलावश्यं लब्धुं शक्यते ।—विचारचयमज्जकं शिञ्जितमाकृष्यानुशिञ्जितं
लब्धासौऽन्वसरत् । .

अदृष्टचाखटवीध्वनुमितमाणो विभीर्धमन् शारदमेघनिबद्धमिव सितं भलमिव

भुवनस्य सान्द्रमुषानिर्गुह्यदेतमवृणमिति, यूरमिव प्राचीनयज्ञोपवर्णां स्तुतिमिव धर्मस्य
वीर्यं प्रसादं साधामाकर्षं न्ययमानः प्रविशितुः प्रदक्षिणं कृत्वायेष्टं यदितरां वदुःसमसो
भवन् यत्र नास्ति ह्यस्य पञ्चज्ञस्य वा विद्वमपि ।

हृदयहितकमलं त्रिषुमिव सौम्यं परिष्कृतध्वन्यस्वाशासन्तानं समन्तरोमं विलस्य
स्त्रिर्वातिरहस्यतामपान् । स्वभावनरुमसिन्धां वनभूमौ सूर्यस्याः समयेन विद्वमप्याप्तं
तमः । वृक्षपुष्पसमशोऽपि प्रादुर्भेधं ध्वन्यमवधायकमप्यासीदिति श्रित्यम् ।

सर्वेषां वादये सुमोऽलम्बननिद्रामन्दः प्ररूप एवोदधाय सवनमवनायां तमः ।
भारमाद् गोधमेकाग्रोद्गताधवासुक्तस्य औषीनं दध्नुः शिरोवर्ध्नेष्व धौतवन्मनोऽप्य
गोधाय तपोऽप्यौदृष्टिम् ।

महासितशितौ लस्यजान्त्रोऽधनायासायेनोपार्कणस्य । दिव्यु देवे प्रतिवृत्ते सर्वं प्रति-
वृत्तम्, यतो बहुभारायतिता बालगोषा प्राणानुदर्यत् ।

भवन्त्यस्य श्रीलालारविणः श्रीहृदयमिव शान्तिप्रदः सद्विषयोऽस्मिन् यमस्य विलस-
वेत्मेव मृदोः विद्याल उदितलो भागः । एवतोभित्तौ गुःठं लोहनिर्मितं दृश्यम् । त्रिपुण-
मिरीशनेन निरवधि दासोऽयं द्वारे कष्टमनो द्विहस्तमिति शोभागेव रथो दुर्लभ-
योगो लोहफलके प्रतिवृत्तिः आसीत् ।

सर्वं विचार्ये तिमिलनि वसति समयावधे अत्रालये तल्लो निरीत्य वृक्षप्रमगेन
काष्ठतान्निधिराज्ये कष्टमनुदर्यत् ।

वीर्यवराधय सोपवर्नि इवन्ते तमः । शिरोऽहस्तावधनिः सायङ्गः धांयरा-
विजयनिगाऽऽलम्बयन्मिदं शेषमान्दवर्निं मुष्टिलोहसिक्ता कस्तुरि यमिव भौहर्षं
सिन्धुमयादुर्गं साधये विमृशजालीन्—

अन्तः प्रोते वदुःसं दुरदं भवन्त्यस्य । अभितो लस्यितवन्ममसा निनिमग्नस्य
सैवलिता निमित्तमाः प्रतिमन्त्राः सन्ति ।

दुर्लभं वेदनिः पदुर्गवधार्थं, विद्वत्समिव शोचनमवधायतां पदो-
दितः । एतन् पञ्चमन्त्राणां प्रम्वेः लपेदन् मुग्धस्य एवानीदतो
तेजोरेता प्रोदतेऽपि ।

अन्तर्निहितोऽर्धविषं तमः प्रम्वराज्ये दुर्यं लस्यितवन् प्रतिमन्त्राः लोचनान्

हिन्ने प्रतिगन्धौ पथि पतितः स्वं प्रियमाणमिवामन्यत । दुरत्ययो दुरैवदुर्विपाकः ।
कामाभिह्वनकुण्डे सर्वस्वं श्रुति युवानः ।

निर्वपतो जीवनदीपस्य स्वर्णमयी प्रभा तदङ्गोरग्रतोऽनर्त्तीत् । जीवनमरणसन्धौ च
सकृत् स्वकीयं सुसप्तमुदयमस्मरत् ।

“पाटचराणां विनाशाय कृतया प्रतिज्ञया सहैव कमलापि नष्टा, कोटशोऽहं दुरष्टः ।
हन्त, पालयित्री हर्त्री सर्वापदां मान्या जतनी, वातसत्यविगलदधुस्नपितश्मश्रुः पूजकः शिवा
क च शक्तिधरः । यानसूचयित्वा समायातोऽस्मि कृतग्रः । क्वागत्व मृतोऽस्मि ।
मत्प्रतिज्ञायामाहितविद्वाधो रामपालो व्यर्थः, व्यर्थमेव च प्रियप्रभामपेक्षणम् ।
व्यर्थान्येषाशाभवानि विरचय्य प्रजाः प्रलोभितवानस्मि । हन्त मियै
मन्दभास्यः ।”

*

*

*

प्रातःकालः । समुदीयमानधीर्भगवान् विमाकरः । पर्वतशिखरे साक्षित्यं वर्तते ।
पर्वताद्गतः प्राकृतिकोऽयं प्रदेश उपवनानि परिभावयति । तरुवारपूर्णं परमरम्योऽस्मिन्प्रदेशे
फलपादपाः फलभरेण मनुजमनमाननामननं सूचयन्ति, यन् परिदिष्टन्त्येका तन्वी
सरित् प्रवहति । अमितोऽनारोह्या पार्वती भित्तिः, ततः सेहुण्डस्य धना भित्तिः ।
प्रदेशमध्यं कृत्रिममिवास्ते, परमधुनाऽपरिष्कृतम् । पथिप् कुण्डिकासु वन्दविट्पा उद्वृत्ता
स्थले स्थले पतितपर्णानां कूटं, वेदिकासु बीजानि पक्षिपुरीषसङ्गरथावलोक्यते । जल-
प्रणाल्यो धूलिपूर्णां अविदिता इवासन् । मसृणपापाणा उद्यानविधामवेदिता
असम्पूर्णाङ्गाः काठोर्यं भजन्ते । कृत्रिमनिर्भरकुण्डिकासु मरकतपुत्रिका अङ्गभङ्गां पार्श्व-
ध्रुवताद्योपगताः ।

उद्यानस्यैकं एकं पुराणभवनं यस्या दावेन कन्यैः पशुभिः पक्षिभिविहृतां प्रसिद्ध-
मासीत् । कचिद् भग्नं छत्रं क्वचिद्गव्ये कवाटे, खण्डिता भग्ना भित्तिर्लक्षकसंपूर्णा । वन-
प्रवृत्तिदेव्याः पुष्पाभरणैः पक्षिसङ्गीतैः कीचकवनवंशीमिनिर्भराणामथान्तनादेन सरसगमैः-
समीरणेन कविकल्पनाऽकल्पनीयमानन्दं विभावयन् हरितहरितेषु सान्द्रसान्द्रेषु पादपुष्पेषु
प्रसन्नमानन्दानां मधुरमधुरं कृष्णं तर्जयतामिव प्रतिपक्षिणां पक्षिणां विगर्वं स्वरं
श्रव्यहृदयः श्रव्यनिकुञ्जेषु विविक्तकोणेषु कमपि गवेदयन् नद्यास्तटेऽनो-

॥ अत्रास्मात् मित्राणां विप्रस्य वामाक्षस्य च प्रत्यक्षं चास्तिद्यामसु क्षीपणार्थं मदीयं
 क्षीरं नो मया विरं कृत्वा पीय वन्तः सर्वस्य साक्षात्पुत्रे रिपुसङ्घे हृत्पुत्रस्य वरुणा
 तद्विरहिताश्वेभ्यस्तद्गृहस्यो नदीतटान्नेरुमाकाः सन्तुर्णि शम्भो न मृतमममृ-
 तं मतोद्गाह्यहरोः सत्यमममृतं वरुणा विप्रस्यः एवं चान्द्रोद्रे वरुणममृतं
 तेषां वरुणस्यैव । तस्मादन्तर्निहितमेव तस्य विश्ववर्धयेतः वरुणस्यार्त्तमेव-
 ते चास्तिवामा वामाक्षस्यैव वामा एव चास्तिवामवदः—

“मया बहुधा प्रेम्णा गन्धाऽऽदृष्टा वरं साधनमिदं दनस्यैव विमर्शं भूयं,
 तत् ॥ अत्रानि दुस्तुष्टं न ममतिष्ठति कर्णं कर्तव्यमिह ।”

मित्राणां दृष्टमस्मिन्ना वा का इति ।”
 मैत्रं मृष्टिं मह्यं कष्टं विप्रस्यस्यैव चन्द्रेतिन्नी मित्रस्य वामाक्षस्यैव मैत्राण-
 । तेषां वरुणस्यैव वामाक्षस्यैव प्रतीयेत । इति नो हि कर्तव्यं वामाक्षस्यैव विप्रस्य-
 नि प्रेम्णा ।—

“अत्र तदा कर्तव्ये ।”
 वन्दो व्यष्टिऽत्, दन्ता सत्यमममृतं, वाहू अतुरताम् । भूटिद्यारागवामा ।
 ये क्षीरने प्राप्तेभ्यस्तद्विरावाताम् । उ क्षीपमर्शितं मैत्रीय विवेकविप्रस्यो-
 ते ममिदं दृष्टं मृष्टोरस्य इव श्वश्रुत्यायाऽनुमत्य मरुतस्यैव विप्रस्यैव वामाक्षस्यैव-
 वामा एवैति; अविदिगन्धमाणी निद्राटमावप्य सधमन्थानेन नद्यां पतिगोक्षीनध्याताः ।

विराजोऽयं प्रदेष्टाः । अस्यां दुर्वाया प्राप्तेभ्येन क्षीरस्यैव वरुणस्यैव विप्रस्यैव-
 तद्विराजोऽयं भूविमर्शितः । अविद्वर्षविप्रस्यैव ममतीमृष्टिभीगनिवाहपुसाद्वयः
 । वरुणस्यैव पुनर्विप्राः महान्तो महोदहाश्च राजन्ते । विषा प्रणयारिपुत्रधन्वो
 ये संतोष्य विदीर्षितध्वं विप्रस्य सत्यमया इमया म्यामतीक्ष्णमात्रं इव इष्ट्या
 मीशमाली विदुरे श्वेतमष्टदोषं मवनयेत् प्राप्य मण्यद्वारे तिनितिकास्यैव-
 हरी, “न प्रदेष्टममृतं”—इति विप्रस्यैवैति । बहुषु द्वारेषु मवनयारवा-
 नेवेद्यमेव द्वारं बहिः गृह्यत्या वदमाणीत् ।

नन्तु ऐशमन्थापन्, तदन्ताः प्रविश्य ददन्तः—सर्वाणि द्वाराणि मीलक्षीयेय

हिंने पूतिगन्धी पयि पतितः स्वं प्रियमाप्नोम्यन्मृतम् । दुरत्ययो दुर्दैवदुर्विपश्च
कामाग्निद्वयनृप्ये सर्वस्वं जुहुति युवानः ।

निपेतो जीवनदीपस्य स्वस्तीमसी प्रभा तदन्तेऽप्रतोऽनर्त्तितः । जीवननरणसन्धौः
सहृद् स्वकीयं मुसगमुदयनस्मरत् ।

“पाटपराणां विनाशाय कृतया प्रतिज्ञया सदैव कनकादि नष्टा, कीदृशोऽहं दुराष्टः ।
हन्तः पालयित्री हन्त्री सर्वापदां मान्वा जननी, वास्तव्यविगतदधुस्तन्तिमधुः पूष्कः स्ति
क्त च क्षाकिधरः । यानसूचयित्वा समायातोऽस्मि कृतघ्नः । क्लृप्त्य नृनोऽस्मि ।
मरप्रतिज्ञायामाहितविश्वाधो रामरालो स्वर्गः, व्यर्थमेव च प्रिमप्रबन्धामपेक्षन् ।
व्यर्थान्येवाशाभवदानि विरचय्य प्रजाः प्रलोभितवानस्मि । हन्त प्रिये
मन्दभाग्यः ।”

*

*

*

प्रातःकालः । समुदीयमानध्रीर्भगवन् विभाकरः । पर्वतशिखरे स्नात्स्त्रियं वस्ते ।
पर्वताश्रितः प्राकृतिकोऽयं प्रदेश उपवनानि परिभावयति । तक्षारपूर्णं परमरम्येऽस्मिन्प्रदेशे
फलपावपाः फलभरेण मनुजमनानामनागमनं सूचयन्ति, यान् परिमिश्रन्त्येका ठनी
सरित् प्रवहति । अमिचोऽनारोह्या पार्वती भित्तिः, ततः सेतुस्य घना भित्तिः ।
प्रदेशमध्यं कृत्रिममिवास्ते, परमधुनाऽपरिष्कृतम् । पथिषु कुण्डिकासु वन्यविटपा उज्ज्वला
स्थले स्थले पतितपर्णानां कूटं, वेदिकासु धोजानि पक्षिपुरीषसहस्रधाबलोक्यते । वन-
प्रणास्यो धूलिपूर्णां अविरिता इवास्तन् । मसृणपाषाणा उद्यानविभ्रामवेरिष
अधमूर्णाङ्गाः काठोर्म भजन्ते । कृत्रिमनिर्मलकुण्डिकासु मरकतपुत्रिका अन्नभजतां पर्व
अश्रुताशोपगताः ।

उद्यानस्यैक एव पुराणमवनं वृक्षा दावेन वन्यैः पशुभिः पक्षिभिविहृतं अंशितदृश-
मासीत् । अत्रिदु मग्नं छत्रं कचचिदप्ये कवाटे, सण्डिता मया भित्तिर्हृदयसर्पपूर्णा । चन्द्र-
प्रकृतिदेव्याः पुष्पाभरणैः पक्षिसङ्गीतैः कीचकवनवंशीभिर्निर्मलानामधान्तनादेन सरससमीर-
समीरणेन कविकल्पनाऽकल्पनीयमानन्दं विभावयन् हरितहरिणेषु शान्तरान्ध्रेषु पादपकुञ्जेषु
प्राप्तासमानन्दानां मधुरमधुरं कूजतां सत्रयतामिव प्रतिश्रितानां पक्षिणां विगदं श्रवन्

— विहितलोचनेषु वसति सवेक्यते —

॥ छायायां शिलायां विश्रम्य बाधोत्पत्त्यर्थं प्रशस्त्य क्षातिशास्त्रानु शोपगार्थं मायोज्य
होपीनो नद्यां चिरं छात्वा धौतं वासः परिधाय छायायोतले शिलापट्टे कृतान्ध्र उपरमाय
अधिवशिवार्चनस्तद्विद्वदो नदीतटान्प्रेक्षमात्रः मधुतपि सप्तानि मृगमास्वात्-
तानि मनोहरदृश्यदृष्टो रम्यस्वास्थ्यः पक्षिणां प्रियामिः समं चन्द्रप्रोष्टं पत्तराभ्यर्धं
तत्त्वं पश्यन्वर्तत । रम्यस्यानभिरीक्षणेन तस्य रश्मिचक्रं धेतः पाठप्रत्यावर्त्तनेनेव-
ते क्षान्तिधापन् परमसातमागेषा बाणो तस्य क्षान्तिमभनक्तः—

“मया बहुशः प्रेम्णा साम्नाऽऽग्रहीता परं साऽस्मन्निन्दनादभ्यज किमपि मूढे,
१. च । कथयति पुष्टं न मशयिष्यामि अपि मरित्यामि ।”

मियतां क्षुद्रमाषिणी सा का हानिः ।”

मैतद् मूढि, महत् कष्टं विषयात्मानं चन्देहसिन्धौ निरास्य यामानीतवर्त्तस्यै नैतादृश-
ः । तदाऽऽचर यथा सास्त्रानु प्रसीदेत् । हृदिनी किं करिष्यति गलभूषणतिरिचम् ।
नि प्रियम् ।”—

“अस्तु तथा करिष्ये ।”

चन्द्रो ध्वमोऽभूत्, दन्ता भयमकाम्यन्, बाहू अस्फुरताम् । भ्रुवटिरारासनयत ।
ः कीचने प्राकृष्यजलशविषाधस्ताम् । स कोपमदिरां निषीय विवेकविक्लो-
ः मणितहस्या क्रुद्धोरम् । भ्रुवन्तुल्यावानुमाय मत्पार्वतमिर्त्तं रधस्तादनुदी-
वाणी समैति, अविदितान्यमाणो लिङ्गाटमावप्य सधमध्वानेन नद्यां पतितो मीनध्वान्तः ।

*

*

*

वेशाळोऽयं प्रदेहाः । उर्म्यां दुर्गाया प्राग्यस्वेन मीलकण्टकण्टमणिमकीशेय-
ऽऽच्छादितेव भूविभाति । इतिस्त्वचित्प्रह्ला माळतीमौलिश्रीमणिकावकुलादयः
मर्दयन्तः पुण्यदिशाः महान्तो महोरहाद्य राजन्ते । प्रिया प्रणयपरिप्लुतधन्वो
उ संशोष्य विकीर्णन्यं निमृश्य सङ्गमया क्षयया स्वायतीकिशमात्र इव दृष्ट्या
गोदमाणो विदूरे श्वेतमण्डकोर्णं भवनमेकं प्राप्य मध्यद्वारे सितशिलाशकलेऽ-
रिः, “न प्रवेष्टव्यमन्तः”—इति लिखितमैक्षिष्ट । धनुषु द्वारेषु भवनस्यास्या-
नेवेकमेव द्वारं गहिः गृहलया बद्धमासीत् ।

अस्तु लेखमध्याम्, तदन्तः प्रविश्य ददर्श—सर्वाणि द्वाराणि मीलकौशेय

क्लिन्ने पृतिगन्धी पथि पतितः स्वं प्रियमाणमिवामन्वत । इत्ययो दुर्दैवुर्नि
कामाग्निहवनकुण्डे सर्वस्वं जुहोति युवानः ।

निर्वपतो जीवनदीपस्य स्वल्पीयसी प्रभा तदस्फोरोत्प्रतोऽनर्त्तीत् । जीवनमरणप्र
सङ्गत् स्वकीयं सुखसमुदयमस्मरत् ।

“पादचराणां विनाशाय कृतया प्रतिज्ञया सहैव कमलायि मया, कोदशोऽहं इत्य
हन्त, पालयित्री हस्तीं सर्वापदां मान्या जननी, मात्सल्यविगलदध्रुस्नपितश्मश्रुः पुण्यः ।
क च शक्तिपरः । यानसूचयित्वा समायातोऽरिम कृतप्रः । कालस्य क्षौद्रं
मत्प्रतिशायमाहितविरवाशो रामराजो व्यर्थः, व्यर्थमेव च प्रियप्रव्रजमरेह्यम
व्यर्थान्येवाशभवानि निरवध्य प्रजाः प्रलोभितानरिम । हन्त मि
मन्दभाग्यः ।”

*

*

*

प्रातःकालः । समुदीममानधीर्भगवन् विभावरः । पर्यतशिरसरे साक्षित्यं बलं
पवेताह्वनः प्राट्टितिकोऽयं प्रदेश उपवनानि परिभावयति । तद्वारपूणे परमार्थेऽस्मिन्
फलराशयाः फलमरेण मनुजम्मनामनामनं सूचयन्ति, यन् परिमिष्यन्तेषां तन्
सरिन् प्रवहति । अमितीऽनारोघ्या पार्वती भित्तिः, ततः सेतुण्डस्य दना भित्तिः
प्रदेशमर्धं कृत्रिममिक्वारे, परमपुनाऽऽतिरुतम् । पथिन् बुद्धिद्यायु बन्धविद्या वृत्त
स्थले स्थले पतिनानां कूटं, वेदिद्यायु बीजानि पतिपुरीषगह्वरभाषतोऽस्यने । क
प्रवन्त्यो घृतिरूपां अर्चिता इवन्त । मयूषाण्यण तपानभिप्रवर्तित
अवगूणाऽऽ काटोयं भवन्ते । कृत्रिमनिर्भङ्गबुद्धिद्यायु मरकादुविद्या अन्नमन्त्रां वती
छन्दोविमलः ।

उपमन्त्रेण एव पुनश्चमनं कृत्वा हवेन बन्धैः पशुभिः पतिमिदित्वा अक्षिपित
मासं । क्विद् मयं एतत् क्वचित्काले क्वचिद्, क्वचिद् मया भित्तिः । एतत्काले । क
प्रतिपद्यः पुनश्चमनः पतिप्रोक्तः । क्वचिद्वर्तमानं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं
सर्वांगेन क्वचिद्वर्तमानं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं
मन्त्रमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं
मन्त्रमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं विमलमन्त्रं

पञ्चमो नि.पासः



परिचयः

नमः सर्वज्ञे विष्णवे विद्येश्वरे भगवते प्रणम्य हृदि स्मरामहे—

आम। एतेषु धीमन्निष्ठित्वास्तुतां वन्दयन्त्याः धीमन्त्रं वृत्तांश्च
 धृष्ट्वा वन्द्याः । धीमन्त्रं त्रयः वन्दयन्त्याः धीमन्त्रं वृत्तांश्च
 ॥ येन वन्दयन्त्याः वन्दयन्त्याः वन्दयन्त्याः वन्दयन्त्याः
 विष्णुस्य विष्णुः । आनीत्याः वन्दयन्त्याः वन्दयन्त्याः वन्दयन्त्याः

दीर्घा—सामान्यतः

निदेशक प्र. १५५/१९८३ :

अथवा

[illegible][illegible][illegible]

भाषयन्ते नरकद्वाराः । एकस्यां शिलावेदिकायां लोहकीलपरिहृतायमेकः सद्यो
 मृतः पञ्चजनः प्रतीयते, सूत्रमया दृष्ट्या निरणावि यत्सोऽयं शब्दो यः पार्श्वकनने
 दृष्टः । कचन जोगं कर्मरास्थि कद्वलस्य प्राचीनदर्शं प्रयवति । कचनाधोनिम्नं,
 कचिद्भग्न कपालास्थि दण्डापातेन मृत्युं सूचयति । कचिदुत्तलभिन्नं शङ्खस्थि
 भिन्दिपालगुलिकया मृत्युं प्रमापयति । कचन विशृङ्खलनश्लेष्कः कङ्कलः पाशमृत्युतां
 विख्यापयति । इतरे यशोऽस्थिन् प्रतिच्छुरिका दादार्शनपगतच्छुरिकाः सद्यो
 मारिता इवावगम्यन्ते । आयुर्वेदीयशवच्छेदविभाग इवास्मिन्नाश्वर्दचकितः शोकशङ्की
 भयविस्फारिताक्षः कमपि गवेपयन्मयमधुना मधुनाऽप्यह्यै दुर्गन्धनिधानेऽनाचा-
 प्रधाने, सद्विस्तिरोधने प्रकाण्डहत्याकाण्डभाण्डे प्रचण्डे भयनखण्डे विनीर्भ्रमन्
 पार्श्वभित्तिवातायनादाकर्मितवान् “हा ? प्रियम् ? भ्रिये, “हा त्वं न वेत्ति
 कथमहमस्मि” इति । कुरुणाकूपारपूरपरिप्लुतेऽस्मिन् नवसि काप्यद्भुतेव शक्तिरासी
 दतश्चन्द्रस्यस्कान्यविषयो द्वापानभिक्त उपकुम्भं पादापानायोज्योत्थापितपार्ष्णिः प्रैक्षिष्ट
 यत्—कूपनिम्ने कारागारे एकस्मिन् कृष्णकम्बले, रसालकपोलशालिनी कमला,
 मलायितवसना, शुष्कगण्डमण्डला, म्लानमुखचन्द्रा, मृतकस्येव शिथिला, इतप्रमेव-
 दीपदीप्तिः, शुष्यजलेव महानदी, मष्टमेव वाटिका, मृतदुपेव पुरी भयङ्करा, शिखेव
 कृपीटयोनेर्धूमायिता, आग्नेव समाचो धूर्तरवमानिता, शीतसुषमाऽसमा बामाना,
 मानाम्भोधेर्वेला लोहद्वारे कारागारे भित्तिमाश्रित्योपविष्टास्ति । अधुनापि
 तस्या मुखं—निष्प्रभमपि मुन्दरमासीत्, सत्यं “रत्नं पाङ्के न लुप्यते” । तस्याः
 सन्मुखे चैकः प्रवण्डचण्डः पिचिण्डिलो गृहीतासिधेनुकः स्थितोऽस्ति । कर्मल-
 क्रीधान्धा सरोपं वक्षु मारभत—

“आः पाप ! किं पीनःपुन्येन क्षुरिकां दर्शयसि । अरे न वेत्ति, यस्य
 भारतस्य परमपूतनामधेयाः सीतादमयन्तीदीपयः पुत्र्य आसन्,—तस्य भारतस्य—
 यस्मिन्नङ्गना जीवन्त्य एव स्वामिनाधितासु भस्मीभूता भगवतो भूतभावनस्यङ्गराणां
 सम्पद्यन्ते,—तस्याहमप्येका पुत्र्यस्मि । तासां चरित्रं, साहसं, कर्म, तदेव भारती-
 हरिर् मदीयशिराजलेषु प्रमृष्टमास्ते । अमूल्यपातिप्रत्यघर्मे कर्म मारुचीनां प्राणार्पणम् ।
 मूढ, सुप्रेव मुहुर्मुहुर्गति दोषवति, पारां निश्रुतवति, यदि युवाति, वीरोऽसि

पञ्चमो निःश्वासः

हे साधेव प्राणानपहर । परं दुष्ट ॥ निकृष्ट । त्वत्सम्मुखे प्राणास्त्वक्तुं
ज्जा । मर्त्यं देहि इमां सुरिका, यया स्वामीष्टं साधयामि । आः विद
दि तु । नहि तु त्वां किं कारयामीति निचरैः परम्—

इति कथयन्ती किञ्चिच्चिन्तित्य जाता, परन्तु पुनः प्रोवाच—

कामोन्मत्त । पापान्ध । पश्य । अक्षिणोऽन्मुखम्, विचारय । हृदि
मन्त्रादृश्यै कीदृशं महान्तमपारं शिरसा बोधुं शिच्छसि ।

कुलाङ्गारः । न चेत्ति भारतरमणीनाम्नेतः स्वर्गसुन्दरं, सज्जनवच इव शृणुते,
तालवश इवोत्थलं, तपोधनविचारकत्वं पवित्रं शिशुसमावधत् सरलं, कति
शोऽपि प्रबलं भवति । यत्र लोभलोभयाः, भयभावनायाः, विलासवासनायाः
छायाया अग्राणि नास्ति ।

नरपिशाच ।

मानसमुक्तामदाभरपुष्टा इती किमवकरं किरति । कं विलोकयति, मेघमत्तम
हृदयन्ती मयूरी किं गर्हणीयं इमंशालग्नं स्वर्गेऽपि मर्षते । मूर्खः । सुधैव कुबेरामये
पतिता विप्रुदेव चातकृतृष्यै अतः, सा महान्तं रक्षाकरमपि कुटिलेन कान्तेनाद्या

इतोऽधिकं चन्द्रः धोतुं नाशकत् । धर्मशिला, विपत्तेरगाधे पयोनिधौ ।
भग्नः । प्रलङ्घनरिणा भ्रमज्वालेन धैर्यं इमो व्यशशि । स कटकटायितश्चान्
जरोषः "प्रिये, मा मैत्रीः, आः कुमुदकोमले । साम्प्रतं स्वर्णकलमधिरोते ? असा
तिष्ठ रे दुष्ट । क ते स्वयं मदस्तिष्ठयवृत्तेः । प्रिये । आगतस्ते प्रिय
व्याहृत्य भित्तेः पततो भवित्यति द्वारमित्वालोभ्योदकूरत । कमला
वाचमिमां भ्रुकोकर्णाऽमृतं, परं निष्कटम्, यतो भित्त्यरोहणसमकालमेव,
प्रभृत्लोहदण्डापातान्मूर्च्छितुश्चन्द्रः । आशायाः तरणिः शैलशिलगत
शूर्पिताः तले पश्यते ।

विशालोऽयं प्रसादः ।

२२ (पानम्)

२२ इतिवत्

परिमलेन श्रान्तं प्रीणत्, फुल्लद्विविधमुमं, लग्नविपुलफलमवकोष्ठितं, वारीविभूषण-
पीवरपवनपरितृप्तमुपवनं राजते । यत्र मधुरमधुमय्यां भालतीलतायां मद्यन-
मत्ता मधुषा मारयन्ति । यत्रोपवनचतुष्पथेषु स्फटिककुण्डिकासु मारयन्त-वशात्किमु-
लघुलघून् विन्दन् निरतयन् नितरामामाति शुश्रिमनिर्भरः । यथोचितमिदमभिर्विरक्ति-
सरणिर्मांसाकारस्य कृतित्वं, स्वामिनो विलासित्वं ख्यापयति । प्रासादो हि रक्तारण-
विहितः सुषट्चिह्नतो रमणोपधास्ते । मयण्येतद्विलासीरचितानि, भद्रमविशानि
सोपानानि, करटिरदनशकलशालिता द्वारशाला, दृढं राजतपत्रच्छमं दृढदुर्गमं, द्रव-
पत्रविभ्रा बाल्यो विदग्धाश्च सिल्विनः शिलाकर्मणि नैपुण्यं द्योतयन्ति ।

समाभवे वाचंश्च श्रुत्वे । पशु द्वारेषु केवलं मयद्वारेवानाहम् ।
भित्तिमण्डूपाः, पुष्पमुद्राः, उन्नतमाः 'काचवत्स्यो' भाग्यानि' च वा
एदिमेषपन्ते भवनस्यामुष्य ।

मन्त्रेऽभिर्लिख्यः शिवः शास्त्रविद्यतिवत्, शीरवर्णाः, सद्यःभूतः
 पौरवात्तप भालान्ति । तारां वा महासुन्दरी, सुप्रमाणनिर्जनिः पौनर्दमः,
 नयिकेयाभाति, यां कथं नामज्ञानं यावत् 'सुन्दरी' पदेन बोधयिष्यामः, मन्त्रे
 मन्त्रदिष्टि ।

चिमिन् निरुपयामीऽस्याः सौन्दर्यम् । अमिनशलावम्यलतिहा, नगीनीकुन्या
बन्दवगीरा, सार्धैर्वैव सुदमा, प्रमुत्तलनेव ललिता, विमलसरलसरलदम्पलभेदना,
सुहृदीभला, मन्तुभाशिगी, कामकान्ता, वृष्टभूनेव पवीरना, श्रेयप्रतिमा, गौरवशिला,
पटवर्तुर्द्वी प्रसन्ननालता, अस्याः मानमप्यन्यमललतिहादमनीयोः मन्दराजना
परिचलतुपुम्पवद्योः(कोन्तवीः) हनवीः वप्याममला, इवेता कौटुंबी बाटी कर्तिनी,
कम्पुर्द्वीव्या अमया श्रोत्रे च हीरक केले रचवति, गीर्णं मीत्रमनादे मे
परिवेष्टनी दहीरवी मङ्कः—

*अग्ने ! देवत्व समये मयिना, सोऽयं च क्षणेनामर्ष्यन् ।

कलः - मम् । मूर्ध्निः कलः । अनेकमर्थः । पुनः अर्थः ।

महन्नाम्ननाः सार्धं धूम्रा रश्मिः कश्चन निजिमाह्वयः सुष्ठु । तदा वीर्यं वरि

१ विन्दोत्तमा । २ होत्तमा ।

मह्यस्य तद्वत्तमाभ्युपगच्छन्त्यस्य मध्यमज्ञेन पर्यङ्के चावस्थिता बहुलाट्टिकामायोज्य
सामग्रेऽङ्गेन च परिबीज्य सान्द्रममासाय सचेश्वरस्यम् ।

सुन्दरी.—धौतवस्त्रं कदा निहितम् ?

अस्यः—हरिमन्त्रं वाप्यां प्रतिष्ठे एकर्यां निरुद्धेदिवायामहाच्छः शास्त्री च
 एते । सां विरिचनेन आवाप्य एवममः सन्ध्यां निरुपाति । मन्त्रुं किमीश्वरे
 शोभं परिदेव । तदागमनतर्हमेवाम जमेतन् मन्त्रे स्थानमिन्मिच्छामि । आभरारो
 परिदेव, हर्षितं संवाच्य परिदेव । अहं स्वर्गमाश्रयन्त्यानयामि (भजीय) एतु
 प्रवृत्तप्रवृत्त शास्त्राणि परिदेव ।

सुन्दरी०—किं परिशेषमस्मि, विश्वात्मिनि ॥

कसत्त०—माः सुत्ते । कसत्तः शिञ्जिनापि न हातवत्त्यसि ।

सुन्दरी—२६ मुनिव शत्रिवाण्येकात्रेण्ड एवाऽऽम्भर्द रचयसि, परमय न रामसरदा
राजम्याः । अय क्षत्रियाणामुपदेश विवाहाः एतज्जते । एवं व्यर्थमेवराज्ये रोदिनि,
आर्द कथयमि वर पार्थ कानने दत्तवानन्तरम वीरानि मयसः ।

वसन्तः—आम्, उद्भिदि ! (उद्भिद्वत्तम्) देहि पार्श्वं हस्ति ।

बभता ह्य एव निर्माजवा समेता ।

पु०—बाग्रीक ।

१२०—आम्र व दूर्वाणि श्लिष्टः । (निरुह्य) कण्डा भयम्बरीयः ।

५०—कवि, ..

बराह—भरे। कुतुहले। एवं व वरनि। भवि। मीवीभूता धिम्।

बुधशरीर—यः शरीरः अक्षाक्षम् । त्रिः सतिवारं पथि पदहेनो
मिगमि ।

कथा—(छात्रेभ्यः) विभक्तं विभक्त्यर्थे, विभक्तिं कर्तृद्वयार्थे वा। एतेभ्यः, कर्तृभ्यः। कुतश्चिदर्थेऽप्युच्यते।

उत्तरी-आर्य, श्व घनमि, चन्देयवर्धनमि दन्तं हृदयार्थम् ।
नमःपुत्रोप वनिष्ठिर विवाहकरी उच्छित्त वासतोरा मर्वी वन्द्यम् ।

॥ एतन्मते सर्वज्ञो रामोऽस्मिन्निष्कलम् ॥ ५५ ॥

पार्श्वकानने दोलासुखमपि त्वामवशयत् । चन्दनवनचन्द्रिका च प्रच्छन्नद्वारास्य माया-
भवनस्य द्वादशसंख्याचक्रायां निगदिता-----

सरो०—(साक्षर्यं सहर्षम्) कदा ! क वा कुमुदिनि ?

कुमुदिनी—अनीतायास्तु पश्यो व्यतीतो भवेत् (किञ्चित्स्थित्वा) सरोजिनि ! त्वं
कमलां कारातो निस्तार्य सत्कृत्य तस्याः पुरः प्रेम्णा वरावदायामहः प्रस्तूयन्
मन्ये कारामोचनप्रसन्ना, ऋणमपनिनीवन्ती स्वपतिना विवाहमनुमोदयेत्, परन्तु ॥
नाम कान्तिसिंहो हृत्तमदो विजानीयादन्धया सोऽस्मात्सपि प्रहृष्टं निकृष्टो वैरमिष्यते ।

सरोजि०—कुमुद ! प्रिये ! कथं ज्ञातवत्पसि ? सखं कथय !

कुमुदिनी—(विहस्य) योगिन्यरिम, योग्यभावाभूतावती ।

चपला—नैवं कथयसि यद्वियोगिन्यरिम प्रवत्स्य । (उभे हसतः)

*

*

*

भगिनि ! कमले ! स्तोकं दाहिमीरत्नं पितृ, पश्यो व्यतीतः, नाधुना त्वज्जेड
दार्ढ्यम् । पीता कपोलपत्नी गर्तगते गलज्जले निष्यमे नेत्रे मम सेवां कर्षयन्ति ।
कथय कापि मुष्टिरवहेला दद्यस्ति सपदपनयामि कमपि मुचिकित्सकमङ्गयामि । त्वमेवैतस्य
गृहस्य स्वामिनी, वयमाज्ञावाहिन्यः आज्ञास्य ।

कमला—सरोजिनि, किं वक्षि । अहं स्वस्या सन्तुष्टा चास्मि । त्वत्तां कदापि न
भविष्याम्यनृणा ।

कुमु०—(धनैः) भविष्यसि ।

कमला—भगिनि ! नहि नहि मातः । देवि ! (सरोजिनी हस्ताभ्यां कमलाया
मुखमाच्छादयति)

सरोजिनी—प्रिये ! कमले ! त्वयाहं भगिनीनिर्विशेषं दाक्षीनिर्विशेषं सम्बोध्य
बोध्य च ।

कमला—यद् भवत्यै रोचते, परमृणुभारमसमर्थास्मि बोद्धुम् ।

चपला—यदि कोऽपि भवतीमनृणां कर्ता परदेत्तस्मै किमपि देयं नाम ?

कमला—देयम् ? शिरोधरासुतार्थं पादयोः पातद्विष्यामि, लीचनवनमेव तनूये
मुच्छेत्तुं शक्नोमि ।

चपला—अपि सत्यम् ?

कमला—सत्यम्, किं क्षत्रियकुलप्रसूताया रसना द्विर्भाषते । सत्यम्, नितरां सत्यम् ।

चपला—परमप्रियवस्तुवितरणे वदान्योऽपि सङ्कोचमवसति, अतः सम्यक् पृच्छन्ते ।

कमला—तर्हि विरपटवचोभिर्मेदय कथमानुष्यमासादयितुं शक्नोमि ।

चपला—सरोजिनि, त्वमपुना विधाम्य, अहं धीमत्या मनो विनोदयामि । (उभे-
नपठतः) धृदताम्—

नस्त्यत्र सन्देहलवोऽपि यन्नन्दनपुरेधरो नन्दनसिंहः प्रतिभावान् सहस्रयो
नगराणामधिपतिरासीत् । राजसभजनं जनसमुदयेन प्रहुरितं प्रैष्यते स्म । शतशो
गायकाः, कलाकाराः, चित्रकारा भवनमप्राजयन्त । कथञ्चान् ताचनं व्यहमन् । शतश
आधर्मभवनाम्यद्यापि तस्य प्रतिभां परिचाययन्तो राजन्ते, येषु निलीनः पुमान् प्राणानेष
कष्टेन जहाति । येषस्तद्व्यस्तं धनं निहितमास्ते । मद्यपि सर्वाः कला अपरवे
कालकृत्कलात्प्रयापि तत्प्रतिष्ठाया एव विमयादात्मम् । कथं च अप्यतीतं स बुद्धिमत्प्रियेण
विहीनसाऽऽहृतः स्वर्गं दनायकमासा । तत्पत्न्योऽपि अपरलोकेण खेवितुं तमनुसक्तः ।
नन्दनसिंहो निपुत्र एवासीत् । केवलमेव, एवाशी सरोजिनी एकाकिन्येव तस्य पुत्रपत्तिः ।
अस्या दौतुकमाधर्मभवनेषु सुगुणमस्ति । आत्मर्षभवनस्य, तन्मार्गणां निधिः, सरोजिन्येव
पूर्णाभिज्ञा । राज्ञो मग्द्वयपि एकः प्रजामयो रथो राजकुले कुतूहल आधर्मभवन-
विशेषा आसीत् । महाराजे उन्मते स एवेनां राज्यस्य पलदधसीत्, यान्तु प्रियपुत्रेण
कान्तिसिंहेन मन्त्रिपञ्चास्यै रत्नविक्रयस्वामिभक्तुसंसारः ।

अपुना सरोजिन्यैःपितृभ्यः कामेन्दुरसिंहो राज्यं समीक्षते । कान्तिसिंहस्य दुष्टप्रवृत्तिरिति
राज्यानिश्चारितौ दुरात्मसहायः मित्रराज्यतद्विद्वानो निदरे मन्त्रिद्वयान्तरालक्षिणे
आधर्मभवनसन्धे निवसति । एतौऽप्येकः सुगुणप्रपत्यै वसते । पूर्वं तु सरोजिन्येव
विद्व-ऽऽसीत्तस्य, सम्प्रति विद्वते आत्मनपि बोधिते ।

यितुः सरोजिन्यां प्रवृत्तं प्रेमासीत् । अररोहणे, हरिहस्ते, करकलकलने,
वेदारविषांने, पारवने, कष्टसाधनद्विधर्मेषु रौप्यं नितरां विपुला । एतस्याः प्रत्येकावस्था
सुन्दरतयापरा उवा । समस्तजीन्दर्पमेतस्या व्यस्त्ये सुन्देभ्येव स्थितं प्राप्तिवते ।
तेन दुष्टादुत्पत्तः, कर्तृरभ्यनीतः, कान्तिसिंह विद्वत्पुत्रः, सौरी प्रवेष्ट प्रभाजनसि ।

अस्या वापी भगवद्भक्तिरष्टा कवितेव सरसा, गात्रप्रवहका सद्यः, शिशुदायकस्तजः,
पतञ्जलिभणितिरिव भावपूर्णा सुषोधा च विद्यते ।

एतस्य वनितावन्तर्धाः सौन्दर्यवितानस्य सान्द्रशतैकच्छायायां विरिञ्चिता रसो
वीरा मानसं तोषयितुमैच्छन् । सैवाऽधुनाऽबोधवतिष्ठा नास्ति, शास्त्राः स्वमने
हृदयहजने वयन्तेन वस्यो विहितः, सौन्दर्यस्यचि प्रेमाङ्कुरो विगडः ।
हृदयमरोहरे रमरसरोजं विकसितम् । प्रस्ताप्रतिभे स्तिरि परेते स्वप्नाः सर्व
स्वामिनी । स्वभावचयलगेत एकदा यशोनिजितयन्त्रे यन्त्रे यन्त्रेक्षणेन व्यस्यम् ।
तद्वच्यङ्गुलप्रगृह्या निम्ननीतं वीरमिव न प्रत्यावर्तयितुं शक्यते । एवं
न भवेत्तुषास्मिन्ने एवत्यम् । मद्यत्येव बोधितां सदोरगुर्गं मनो गणु, पुनश्च व
वरे वरे, मानसगुम्भयसति सम्मये वित्तगुशास्तिन, केवलं शशीसहाये रसोमिव
प्रचुरवत्पुष्पेन्दुसङ्गीकृतान्यविचार्ये च मनोविचारे एवं स्वप्रगुर्गं प्रह्वयवैर । अतुं
अन्यत्र प्रह्वयवैरगुर्गं विधातुं चेष्टने । अहमप्यमिलयामि वयं ह्यमिन्दुवयवैर ।
मद्यन् विर मद्यन्ति ।

कमला—कृतनिर्मलस्त्वस्मिन्, धन्यास्मिन्, दशया मन्दमगदायाः साधुमुख्यं संपन्नं
मर्त्यं बह्विधं, विनीतार्थवेद्या, वेद्यामोदममृष्टद्वया, पदार्थान्तरिधिया
दृष्टान्तद्वया, कला गुणमृगलानामभिधिया । मृगानुसंध्यामि । परन्तु इति
विमुक्तया मया मेधां वगेवैकदा श्रुत्वा हा ! हन्त, हतास्मि ।

एवं कथयन्ती कथका मुद्रिताः । अस्मद्भूता श्रीमती कथयन्ती कथकाः ।
हिमाद्रिकथा, श्रीमतीकथनेन, अस्मद्भूतेन तां लब्धवान् ।

अनुसंधानः । अतः सारांशं निम्नलिखितानाम् अथ च अन्वयः । अथ
 अनुसंधानः । अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः ।
 अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः ।
 अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः ।
 अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः । अनुसंधानं विना न विदुः ।

[illegible]

षष्ठो निःश्वासः

यो दिव्याम्बुजलोलमत्तमधुपप्रोद्वीतरम्यं सर-
स्त्यक्त्वा मानसमल्पवारिणि रतिं बध्नाति कैदारिके ।
तस्यालीकमुत्ताशया परिभवक्रोडीकृतस्याधुना
हंसस्योपरि टिट्ठिभो यदि पदं घत्सेऽत्र को विस्मयः ॥

सुभाषितरत्नम्

हृदयवृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥

त्रिविक्रम भट्टः

गरलसहोदरजाता (लक्ष्मीः)

यन्न मारयति तदपि यरम् ॥

कुट्टकम् ।

यामिन्याः प्रथमो यामः । वायुर्न वाति । बहुलकुलसध्याशाविनां गणिक
गणहारहारिवशसां सुगन्धशीतम्यजनेन बीज्यमानानामपि निर्लज्जेव वनिता
मात्रं सुयत्युपगता । उष्णता उष्णता, तादृशोपलाउशोषः, हिमं हिमं, बभ्रुमद्विष्ट
बहुलद्विष्टा, कर्पूरलेपः कर्पूरलेपधन्दनं चन्दनं, जलं जलम् अहो स्वेदः, कणूः कणूः
मराकाः मराकाः, वायुर्वायुरित्येव धूयते सर्वतः श्रुती । कचन प्रत्ययगुणादृष्यमान-
व्यजनस्वनः, कचन इतन्निद्रमुन्दरीनूपुरमहारः, कचित् कष्टतप्यजनिकाभिर्जननीभि-
विधीयमानः स्वेदजालप्रसमनः शिशिरा रौदनप्रसमनः संसारः ।

प्रतिगकर्शं शरीरमिव गृणयमाणानां गृणीयसां वेवेष्टि बलमशिश्रिम् ।

वासीवेष्टितेऽपि घटेषु प्रकटमेव पत्नीयम् । शरीरनीरतिधमना

१. १. १. २. उष्णतामेव पुष्पाति ।

हार एव भारोऽहमेवाहम् । कलन्तिकैकान्तिका, रश्मैवाशना, मलमेवा-
तूलिकैव शूलिका, उपधानमेवापत् ।

किं बहुना वायुपि वायुं वाञ्छति, सरसामपि सलिलरुद्धा, पिशाचाक्षमते
नयोऽप्यस्य सद्यः समुद्रमनुधावन्ति । मोनोऽपि दोनः । सुहिनमपि हीनम् । कः
मपि स्वयम् । प्रतिप्रतोति “हे मणवन् ! हे नारायण ! दोनबन्धो ! कथं अगर्भा
जीवयिष्यसि” इति ध्रुवते प्रहसः प्रमुदरुद्धयोः ।

सौम्यलोकलोकं लोकं लोकं वियन्मध्यमग्यास्ते चन्द्रः ।

सुशीतलजलशीतल्लते शयनागाररुशम्भुद्विभे मन्त्रे उपाधनमाधयन् महारा
रामपालो विनोतविशदवेधैर्मृत्यैर्महदुषां तालहन्ताभ्यां धीशवमानो मन्त्रिणाऽऽलन
समीपे च न नितरां राजते राजते दोषाधानेऽप्यप्रतिष्कृतो दीपः ।

अथ रामपालमन्दिरे मालिन्यसमाजः शासनं समवलोकयते । धावत्यं विदूर-
प्रसूतेषु यशस्सु, चावत्यं लतालोनेष्वक्षिपु, ‘अथा गीतः प्रसूतः संसारे बालन’
व्यजनानां, फुल्लता पुष्पानां, विकासी ज्वलिततापे, सम्मेषोऽक्षिरावधु । धिक् धिक्
कुर्वती पटी लोल ‘स्तोलकेनाधैर्म’ व्यनक्ति ।

“मन्त्रिन् ! शीघ्रं बहु व्यतीता रात्रिः” ।

मन्त्री०—आम् देव ! दायिष्ये । भूपेन्द्र प्रतीक्षे, तत एव.....

महा०—(मध्ये एव) किं सम्भावयसि मन्त्रिन् ! यत् कमला पुनर्दृश्यामि ।...
हन्त ! महात्मनो नवेन्दुवर्मणोऽस्म्यहमेव, पुनस्तद्वारणम् । शीघ्रमेव सुतोऽस्मि ।

मन्त्री०—बहि, देव ! नैवं वाच्यम् । महाराजारां चरणौ धरे, यतो भूपेन्द्रो-
गतोऽस्ति वरकेण अयदङ्गादम् । वासी सल्लभो यदकार्वमनुं प्रयादेन अग्रात् ।
तत्पत्रमपि समावातम् (कश्चिदुद्विग्नताया निःसर्त्य) ।

महा०—किं लिखति सः—

मन्त्री०—(दीप्तचित्तां क्षिप्रदुर्द्विष) देव ! स मां सम्बोधयति लिखति—

कति योजनानि प्रत्यहमहो ! मयऽङ्गशयने । वष्टिपटिकात्नके काले सन्नेऽपि

शान्तिं न लभे । विविधरूपपरिवर्तनेन प्रतिगुणमात्मानं सन्देहसिन्धौ निमज्जन्नुतापि
शाश्वतः । क्षमश्चेद् गुरौ भक्ता मिल्त्रिमिच्छामि, मद्बचनप्रसङ्गमात्रं सान्त्वनीयो
महाराजः । जीवनेन कार्यं विधास्ये । शीघ्रं पुनरालम् ।

टिपासुर }

आज्ञापालको-
भूपेन्द्रः

महा०—अयम् .

मन्त्री०—आम् देव ? अयं गुरुदिनम् । मन्त्रेऽधुना स आगत्यात्मानं हर्षयिष्यति ।

महा०—दृश्यताम्, किं भावि, मन्त्रिन् ! विरक्तोऽस्मि ।

मन्त्री०—देव ! आपदः प्राणिवेष पदं दधति । पुराणि धृष्टप्रतिष्ठाः पार्थिव
आपत्तीराप्यापि धैर्यं न तत्पुत्रः । धैर्यघानिधुरन्धरा मवादृशा अपि धैर्यं हास्यन्ति चेत् तस्य
इन्तः । कं नामाश्रयिष्यत्यनाश्रया धीरता । गणनमेव गतिं शक्नोति सूर्यमण्डलस्य ।

द्राक्ष्यो भूपेन्द्रागमनमसूचयत् । आगतस्वैकः सम्भवेशः प्रभावितमुखोऽस्माकृतिः
उपनिश्रवयाः, दीर्घाकारो व्यायामिविग्रहोऽदृष्टजगृजः पुरुषः ।

मन्त्री०—भूपेन्द्र, अपि कुशलम् ? कश्चित्कम्बो वृत्तान्तः ? भूप, तवैव वरं
वति यामेष्वष्टु ।

भूपेन्द्र—किमिव कथयामि देव, अनवरतं रतो भवत्सपर्यायां पयसिणं प्रचुरनगराण्य-
गाहमानः स्वार्थं गमयित्वापि पूर्णोदन्तं न शक्तवानस्मि । श्रीमद्भद्रो मरुतराष्ट्रो
गवान्, तदा बालकेन किमपि प्रत्याकृत्य न निवेदितम् ?

मन्त्री—विपत्ती विपद एव पदं कुर्वते । को जानीते ततः किं सूचितमात्रेण,
अतः स वराकः समायन् पथ्येव केनापि हतः । मरुतराष्ट्र नीतः । सोऽयं ह्येव
प्रायः आनीतोऽन्वेपकैः । तत्पदपक्षिश्च मृष्टा महत्या मुसलधारया वृष्ट्या ।

भूपेन्द्रः—(निःश्वस्य) तर्हि देव ? केवलं सूचयितुमेवागतोऽस्मि । कदाचित्त्रं
नुवानि, तत्कार्यं श्रीमद्भिः सत्वरमेव विधेयम् ।

*

*

*

“चपले ? अकारणबाग्धवे, बहुभिर्दिवसैस्समान् सेवयसि । स्वकीयमनूयं समय
“अर्पयसि । सुराभयगमनेनश्रमानं संधये आरोपयसि । याहि, तथाभित्तिं
”

ते स्वामिन्या अभिलक्षितं पूरयिष्यति परमेश्वरः । परन्तु जपते । सरोजिनी
ते तस्यै वयं न विस्मर्त्तव्याः ।”

१. अपरं शृणु, कोऽपि पट्टवीरः प्रवक्तृसिद्धस्तस्वामिनीप्रियां चन्द्रं दृष्ट्वाति,
तसि तम् ।

श—आ देव ! तपसाभिगतसिद्धेर्भवतः किं तिरोदधामि । स एव मम
कुमुदिन्याः प्रणयपार्त्रं वर्त्तते । तस्याः सूचनादेव कमला मोचिता । सर्वं
तम् । परन्तु सोऽस्मत्कृत्यमपि न जानाति । न च कुमुदिनी तस्मै सूचयति ।
इदं तदर्थं किमपि करणीयं किम् ।

मा—नहि, किं करणीयम् . न करणीयम् । कुमुदिन्यपि न सूचनीया ।
सत्यवीरः प्रवक्तः कान्तिसिद्धदुष्टाय सूचयिष्यति । कीदृशो वीरो दुष्टस्य
पतितः ।

१—देव ! एते सर्वे राज्ञो मन्दनसिद्धस्य भृतिभुज आसन, परन्तु देवादेवे-
ते दुष्टस्यैतस्य हस्ते पतिताः । परन्तु प्रवक्तः सम्प्रत्यपि सरोजिनीं
।

मा—अस्तु, त्वमधुना गच्छ ।

। महात्मा कस्मात्कालात्पश्यति—इति सर्वे एव इतस्तत्तस्या जानन्ति । विर-
एतन्प्राप्तीयाः सर्वे एव परिचिताः विशेषतश्चौरधूर्ताः । कर्मेसिद्धे त एव
आदिपन्ते । एषा अपलाप्येकदा महात्मकीर्तिमुत्पत्तिं सरोजिनीया काय-
प्रेप्तिता । महात्मना—“देवि । महात्मनां सेवैशमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम्,
संगता सिद्धिः । ते शान्तिक्रमपीच्छन्ति”—इत्युक्त्वा प्रतिदिनं सेविषु
। प्रसीति । महात्माप्युत्पन्न्या सरोजिनीप्रियमाणं अपलाप्य विप्रियमाणं
न शृणोति । महात्मन्ययं विशिष्टो गुणो यद् देव सहस्राल्पति तना-
प्रति । दुष्पुत्रिभिर्मोदयति । सर्वैः सह भृदु भास्ते विहस्य वक्ति,
चन यदा कदा कृष्यति, तदपि कर्मणे । अत एव एनं सर्वं आदिपन्ते ।
योऽप्येतस्य नितरां परिचिताः यत्कर्तुंति चिदीर्षन्ति च महात्मने

सोऽयं महात्मा एतत्प्रदेशजानां कर्मणामभिज्ञाता, परं स्वान्नाम किमनेन महात्मनः।
स तु एकेन कणेन शृण्वन्नपि अपरेण निष्कासयन्, स्वयञ्जनयाजन एव तत् आस्ते ।

*

*

*

कृष्णः पशुः । निशीथः समयः । सधुर्त्विषुः सकम्पाः पादपाः । निद्रिऽङ्गे-
जनं जगत् ।

निशयाऽष्टमोन्दुं विजित्य स्वसाम्राज्यं विस्तारितम् । तस्याः पैशाचिनी कू-
क्षराक्षरे प्रभावमात्छादयत् । सद्वृत्तयध्वन्द्वरश्मय इव न्यलीयन्त । वन्द्यहिमवतारोऽ-
सद्वृत्तय इव शिरस्थमुमानां वराकञ्चन्तुर्ना विजिघांसिताऽध्रमन् ।

स्वच्छसलिलं सरः । सरस्वते अतिथिविभ्रमायाशक्तभावनाभिः । आलम्बेयुः रिक्त-
निम्ब-न्यम्रोधा यथास्थानमशान्तः । भूपेन्द्रः शिष्यायुषुः, सहचरैः सम्मन्त्र्यैकस्मिन् मासे
व्यरमन् । भान्त आसीदेव पतन्नेव गाडमाकान्तो निद्रया ।

“सहयोगिनः । अधुनैवाहं स्वप्नम्वमश्मू” — भूपेन्नेषोत्थायोक्तम् ।

यदहं शून्यनगराद् बहिराश्वास्यो यामि । अहमादयो गहनं कर्म प्रविष्टः । पार्श्वतो
वृक्षमाग्रसारूपाः सन्दायन्ते । मम हस्ते शैर्षं वेष्टमाप्ते । परं यथावृष्टि-
न्मनो हृदयन् वनाश्रितः । अग्रे एका नदी प्रवहति । तस्यां जालुनिर्गम्य ।
तस्यामधारात् एकाहं पारं प्राप्नुमिच्छुयामि । अहस्ताजदीयलमर्षं प्राप्नुम् ।
अत्यन्तदो बहोर्द्वेगदारी कोष्ठेषु विनीर्षः । जले प्रोचका जलार्पणं प्राप्नुयात्
समीरायोत्पलितफलिष्ठेनान्तोऽहं शश्वो निवमन् केनपि तास्त्रिमाहमवशतोऽ-
निवृत्तिः पारं गतः पदातिर्नृपः । अहमाश्रये दातव्यमव प्रकाशो वेग उचितः ।
लक्ष्य भूतो यथा पश्ये, तथा पश्यि विन्नेभे जाले पतिनी बद्धय । तेन मयेन लगे
यथाऽतोदिष तथा मम निद्रा मया” इति ।

शश्वद्विशालानां शस्त्रिर्गन्तव्यमवर्तिरिति सम्मन्त्र्य अतिशुः स गर्जितो
जलवेधं हृत्वा, तमेव लक्ष्यीकृत्यापन्नम् । अनुगम्य भूमावः । एततो गर्जनात्
वर्धनं कुरुते । अपनुजि च कञ्चलं विष्णुम् । अग्निः प्रगल्भः, अस्मिन् यथाऽनुजि
अग्निः भासन्ते । अतिशुः एवैकः सन्तो विष्णुः च इवाकम्, विमर्दिनवाकम्,
जान्तरात्तुऽप्युपसृ, कृत्ततोऽहं चरंः अतिशुः च इवाकम्, विमर्दिनवाकम्,
जान्तरात्तुऽप्युपसृ, कृत्ततोऽहं चरंः अतिशुः च इवाकम्, विमर्दिनवाकम्,

रूपारगमप्रतिज्ञानाम्, ज्ञानाम्भोधिपानामस्त्यानम्, सततसन्ततिउत्तिष्ठयवित्तर
 तारगतधेतसाम्, अयधीनमरणाय अकार्यकरणपेयानाखाद्यसादनापात्रमनपक्ष
 दर्शनकलुषितनःपूरितनिन्दानिधिमेषानाम्, असदमिनिवेशप्रदुष्टत्वान्तानम्, उरुल
 सम्पादितयशसां, 'अनभ्यासमित्यानां पशुवृत्तिराणां नराणां वार्ताया भावस्तच्छा।
 पूर्वं भगवद्भजनमाह्वयं कथयित्वा सम्प्रति नावयावर्त्तपतितां शोचति। मन
 क्षीपीनप्रम्यो निबद्धास्ते नौः, उन्मोचय मम कक्षे विलीनास्ते निष्कासय। धूर्त्त।
 मा नाम गार्हस्थ्यवार्त्तया दूषितं विधेहि मनः। अपेहीतः। नाहं त्वं प्रमे
 पतिष्यामि धूर्त्त। सुस्वाहार। कपटप्रिय। पयिष्ठवचक। हँ हँ हँ हँ (हसति)

विचित्रमदो हारयमासीत्। भूपेन्द्रो गतप्राण इव सम्भूतः—तस्य चेत्तसि
 सांशयिका विचारारवेदः स शोचन्नासीत् यद्य कीदृशेनज्ञातसमावेनावसतः
 समागतितः। ईधर एव क्षेममाचरिष्यति। परन्तु हासेन ज्ञातं किञ्चिदाज्ञाचम्य
 प्राणेषु। क्षणं पशुद्वय एव नीरवताऽऽच्छन्ता। पुनः प्रशान्तया वाण्या मधुराधरैरव
 महत्तमा—

पाण्य। किमिच्छसि। कथं तव नीरावर्त्तं पतिता। कथं सापवो गतरुहाः।
 न कमपि प्रेक्षामहे। अस्तित्वं विद्मः। प्रेमपात्रस्याग्रे कथयभोऽपि। कथय किन्ते
 प्रयोजनम्।

भूपेन्द्रः—महाराज। विभेमि। यद्भयं मवेत्तस किमपि निवेदयेयम्।

महत्तमा—अमयन्तेऽस्तु, कथय।

भूपेन्द्र—महाराज। रक्षो रामकलाय पुत्री कमला रात्री सुता प्रसूने कला।
 तन्मन्त्रेणकामादं रक्षो भावी जामाता माम्ना चन्द्रः—रात्रवगाराजपुमरीऽपि गतः।
 यदि भीमतां मदिमतां शान्तप्रमर्षां मदप्रमर्षां दया भवेच्छेतयोः तिमिन् सृष्टेयु-
 म्मददमपि सत्त्वमदीपदरस्तं श्रीधर्यं शरदः शतम्।

महत्तमा—चन्द्रः कमलां स्ववेषहारं लपयसे, किमनेकमप्यम्।

भूपेन्द्रः—नहि नहि देव। कथ्यन्मधुवीः जनिष्यन्ति मयन्ताः। मधुवी
 जन्ता कथ्यन्मधुवीः देव

१ दूरतः दर्शितं व्यञ्जम्।

महात्मा०—भवत एताः कः शिष्यवृत्तिः हुम्, अस्तु तर्हि सत्यं कथयामि किम् ।

भूपेन्द्र०—आ महाराज ।

महात्मा०—चन्द्रोऽधुना “नन्दन पुरे” आस्ते । तत्रैव च त्वत्त्वामिदुता कमला । परमशक्तत्वं तौ लब्धुं ; यतः कस्याश्चन प्रेम्णि वद्वः सः ।

भूपेन्द्र०—नैवं प्रवक्ष्यमम् । अहं पात्तात्तादपि शक्तोऽस्मि निस्सारितुम्, ॥ कया नन्दनपुरप्राप्तदिकायाः ।

महात्मा०—आ, एवम् । अत्र साधय, कुतः कार्यम् ।

*

*

*

सारं दिष्टः, इष्टिः कष्टः । भविष्यान्वयो वैशिकोऽन्धकारः प्रादुर्भूतः । कुमुदिनी नरवेशमायोज्य पुरं प्रेक्षमाणा मौनमवलम्ब्यागतप्रत्यागतं विदधाति । गोपुरे कमपि^१ अयनवीजमपश्यत् प्रादुराद्यैश्चालोत्ता आलापाः ।

कुमुदिनी०—यान्य । कः वापि ।

भूपेन्द्र०—किम्ते प्रयोजनम् । इति शमः ।

कुमुदिनी०—अरे ! अहं कोट्टपालोऽस्मि पुरः । जानासि न वा ।

भूपेन्द्र०—अत्रैव समायाताः (अग्रे मञ्जति कुमुदिनी रणदि)

कुमुदिनी०—कः कति मूर्ख ! पूर्वम् कथितं यदत्रैवापातः—अधुना चाग्रे मञ्जति, कालिदा ।

भूपेन्द्र०—परीक्ष प्रवक्ष्यमम् : कार्यं मञ्जटिकी कष्टः, किन्तु चतुराचरोमपि भूवेग इति कथयन् उद्भ्रान्त इवाभूत् ।

परमरमां कोट्टपालपु विविष्टयनुर आसीत्, इतो मर्यादया एकतो भूत्वा गुटिका-मेधो भूमी समपतयत् । तदुत्पिपधूपेन च मूर्च्छितः सप्तद्वरो भूपेन्द्रः । तत्र वपुर्वनेतःकालिः सप्तद्वरैः पोष्टलिकास्तावप्य समवने प्रैवयत् । अनुपमं देशं इत्थं पदेन समवनं प्रतिमिद्वय भूमवननिवदं कष्टेष्टं भुवि विदुःस्य सप्तद्वरं वीक्ष्य भूपेन्द्रं तस्य-कन्धायु पत्रादिमन्वेवन्ती पत्राणि लब्ध्वा तस्य देनन्दिनीः च प्रपद्य चैरुमिनीः च यतः-

कारा, कारावन्धनं तस्य शोचन्ती, तदुद्योगं तत्फलं क्षणेनैव श्रुतवती । निरं चिन्त्यमव
हन्त । महानयमनयो जातः । अस्तु यमार्तं तत्रष्टम् ।

*

*

*

पाथोनिकेतने स्वैत्यन्महूततुलं कूलमासाय परं परमभ्रमललितलेहितलम्भम-
लशाम्मःकशैः सरोजिनीव बभौ सरोजिनी । सा चोत्पन्नमहाऽपहृद्योदलन्ति वसति
मद्युगमञ्जुपया शुष्कवस्त्राणि पूत्वा भीरुमामिनीभूषणं दूषणं साहसिकनामवहन
शोकलोकं साहोक्तभूमावागत्याग्निनां रथलेखामविदूर एवापश्यत् । आशङ्कित-
मदा एकस्मिन् प्रोच्यं गण्डशैलमारुह्याऽमितः पश्यन्ती गन्धर्व्यन्तराल उद्घातिन्या
भुवि शनैश्शनैर्वन्तं रथमेकमेक्षित । रथसमुत्तपादपेभ्योऽकस्मान्निःसृतया तया
सारथेरेवमभूवन्नालापाः ।

सरोजिनी—क यासि रे ! पाटञ्चर, तिष्ठ, पश्यामि । रथे किमस्ति ।

सारथिः—मन्ये भूतस्त्रीवेशः कोऽपि धूर्तोऽसि, परं नाहं वेशेन दृष्टिभ्ये । शिङ्गा
चर्परयिष्यसि चेद्गमचपेटो धरां धास्यसि । अत्र, अपेहि, न तेऽपस्या (कदायाऽप्यौ
ताडयति) ।

सरोजि०—मूढ ! मदाङ्गामवज्ञाय कः पलायितुमिच्छसि, पश्य सज्जो भव ।

सरोजिनी एकतो भूत्वा रथ्यस्य शिरोधरां कृपाणमोषकेन सद्य एव हारयाश्चकार ।
गतप्रीवे चार्चति, अतिरीकृपाये च सारथेस्तुण्डे क्रोशोद्यमतस्त्रिनेत्रायां सरोजिन्यां
समजनि जन्यम् । पादाहतः कृष्णोरग इव प्रादुर्भूतमदः करीव भीकरकायः
रोषोरच्छद्गात्रः स सरोजिन्या बराण्या उपरि कटकटायितदर्शनः कृपाणपाणिः पतितः ।
परन्तु सरोजिनी सौन्दर्य एव केवलं नाग्रगण्या, किन्तु कस्तूरकलापात्पाणिनामपि, ता
स्तरप्रहारं व्यर्थीकृत्य लघीयसा हस्तेन तच्छिरः फलमिव पक्वं बित्वस्य निपाटया-
श्चकार । मृते सारथौ रथ्ये पररथ्ये च गन्तुमसमर्थेऽथै सफला ता सद्य एव
रयान्मूर्च्छितं वल्लवेष्टितं पुरुषमेकमुत्तार्यापश्यत् केनश्रुतमुत्तचन्द्रं क्षमनकुमुदचन्द्रं,
रिपुपूरतमथन्द्रचन्द्रम् ।

तमेवं चिन्त्या दशमनुभवन्तं वीरव बालमन्ताधूषि स्थानमन्तः । तानि
सत्त्वमन्तर्गतदुःखताडितानि धावमानानि नेत्रद्वाराभ्यां बहिरागत्य तद्गुःतदुखिता

भुवमपि सिधिवुः । “अमोक्षादिनी सप्तसत्त्वुले सोपग्रे विजने षने विलगामि ।
कोऽत्र सत्या निपत्ती साहाय्यमन्तरिथी”ति चेत्तसा सतर्कीक्रियमाणा निपुर्ण
नाडी परामृश्य मूर्च्छा विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्या आघ्राप्य, कौटिबदिन्दुहपि
तन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत् । पट्टिकापट्टांशेन स नेत्रे वग्मीत्येतस्ततो
व्यैकत, तावदेष प्रथममवमत् । मुखं प्रोञ्चय यावदुत्तिष्ठसति प्रमदामेका
वग्महासतारम्येन वक्षुषकितयन्ती वीक्ष्य “नहि सस्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि
श्रेयाद् वास्त्रपात” इत्याह ।

सरोजिनी स्वेकतः पतितं सारथेः खड्गं वक्ष्यीकृत्य “युहाणामुं सख्गमहमपि वीर
कर्म दिदक्षे” इत्युत्तीर्य योद्धुमसज्जत । पट्टिकां यावदभूद् बहुलविषलं जन्मम् ।

“कस्तमम्, अत्रहरन् युध्यसे ।”

“महाराज ! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानेपुरितिदृष्टमहं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती ।
मूर्च्छनशिथिलाशस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यारम्भनाय च कोविता, न ह्यत्र, सैव
धृष्टता साधुशीलैः क्षम्या । सम्प्रति अनुकामिनी,^१ मौनमिव पीनं रयावशिष्टमध्माराद्य
वपामिलवितं प्रदेशं प्रयासु देव, अहमपि वामि । “किंवाय देवस्य ।”

“वन्द्रा” “कुत्र भवती निवसति । किञ्च नाम भवत्याः ।”

“पार्श्वे एव वन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आस्ता च सरोजिनी स्मर्तभ्येयं
कार्ये” इति कथयित्वा स्वीयं गुल्फलम्बि, अत्ररक्षकं सख्दपदाय फट्कारेण
धूलिच्छानपसार्य पुनरायोज्योत्तरमनयेक्षमाणा, प्रस्थिता । वन्द्रश्च व्यक्तिकरेणामुना
विकर्तभ्ये व्यमुहत् ।

अथ विरोचनो रोचीषि समकोचत् । विदूरप्रभृतहिमसतिताडनसंकुचितास्त्रिच काष्ठसु
प्रावस्य बभूव तमसः । सर्वत्राकाशे तमःस्वोभो व्यापरे । हुदिबानीव दीनान् तमांसि
भुवं व्याकुलयामासुः ।

दैवदत्तकेन दृष्टः सन्तिलयेऽपि शिबमवनेऽपि सुखी न तिष्ठति । तस्यामृतमपि निपायते,
सुखसाधनं दुःखायते, प्रसूतान्यपि प्रहारायन्ते, मातुमन्दिरपि यममन्दिरायते । अहेतुका
आपदः स्फारीभवन्ति ।

यतश्चन्द्रः सरोजिनीमनुचलितो गहने गहने मदमत इवेत्य ।

चन्द्रः प्रथमन्तु ज्वलितं जातवेदसं महात्मानश्च वीक्ष्य 'काऽऽयातोऽस्मीति' भित्ते
महात्मनः समीपमयासीदेव । स च चरणध्वनिना सतर्कं भगन्तुभ्यस्त
इतश्चन्द्रोऽपि साध्वीक्षणसमकालमेवाध्यादवतीर्य धत्यामाकर्षयन् साधोरभ्यर्णमुपेतः ।

चन्द्रः—(प्रणामं कर्तुं भीडमान इव) भगवन् ।

महात्मा—नाहं प्रणम्यस्त्वया अधिक । वरादान्मुपैव हिसन् भ्रमसि ।

चन्द्रः—(महात्मसन्तुचितं कोपं प्रशमय्य) महात्मन् । भवता कथं हतोऽ
यदहं अधिकः ।

महात्मा—(हतोऽपि हृत्विमकोपं प्रशमयन्) आम्, महात्मन् । इत्यप्य
जगप्रशक्त । त्वं नासि अधिकः । कथं रमो अधिकः । योगिराज । स्वागतं तेऽस्तु ।

चन्द्रः—(निरीहो वास्तविकः स्ववनीयकीर्तिर्महत्तमार्थं प्रतीकते) महात्मन् ।
सद्गुणधारिण एव अधिकः भवन्ति, किं मालाविक्रेतारो भगवद्भक्त्याः । गन्तव्यं
सुखं रात्रि स्वर्गसीमाप्रयभागिनः ।

महात्मा—नाहं भक्त उग्रमर्जं शिक्षयामि । कस्याधन नायिकाया समीपं ह्य ।

चन्द्रः—उग्रोऽपि त्वत्प्रवृत्तयः, निरदाय, वप्रयः प्रियतां ह्याग्यः सर्वेरेवमर्ज
भवतापि अधिकतेन सम्बोध्यै ।

महात्मा—(शान्तो भूत्वा) अस्तु, उपविशतान्ते । अप' इति आलोच्य
कुटीरे धनं वसति, भक्त्या देहि । धीं गन्ता ।

चन्द्रः—दना भविष्यति चेच्छीमन्तम् ।

अथ प्रत्यक्षा वक्तव्या इति निवृत्त्य सप्तम्याये निगम्य महात्मप्रणमं कृत्वा
सुप्रभुयः काटीर्ष्य महात्मनः समीप एव कृत्वद्यमते पाण्डुद्यमकारः धनं धनं
वन् । इतीरेव धनं प्रवृत्तिवारः पूर्णं शोच्य च मदोक्तौ प्रदेयम् । इतीरे
नेत्रे सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये
सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये
सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये सप्तम्याये

महात्मा—(चन्द्रः) धनं दत्तम् । का च कति ।

चन्द्रः—मां लोका 'चन्द्र' इति सम्बोधयन्ति । ज्ञात्वा क्षत्रियोऽस्मि । महात्मन् ।
किं नाम भवतः ?

महात्मा०—(स्मयमानमुखः) अयं शरीरस्य 'सञ्चिनाम्'—इति संज्ञा । अस्तु,
चन्द्र ! सत्यं कथयिष्यसि, यदहं प्रश्रयामि ।

चन्द्र०—आम् देव ! कर्म स्यात्तिरोधानं कथमलक्ष्यवर्ता भवतां पुरः ।

शक्ति०—न तेऽङ्गानि धमक्षमाणि, न च प्रतीयते आदित्यमं स्रुः । न च विदित-
वनरुत्तान्तं मनः, न च स्मृतिः प्रकृतिः । पुनः किमर्थं 'च्यौलीभूयाटवीतोऽटवी',
पुतिन्वपुतिन्वा'यू भावं भावं पुरः पुर नपादनं भ्रमसि । 'वृट्टेषादिनो
भवाद्वा मारु'रु'रोदितशिवास्मदनसिद्धवेकाभ्याग्रविजृम्भणम्यालकरालकेलितालिते-
द्यादू'ल्लोलनशङ्क'भावनविधुतपैयै, 'कृष्णकष्टे' अन्याग्यवन्द्यशीर्ष'विसरसुते,
'सुत्वनक्तितु'द्विपद्व्याप्तेऽवने'० वनेऽनवना'० भ्रमन्ति इति न चेत् कापि क्षतिर्यदि
सकृद्विष्य कथनीयस्तावकोऽयं वृत्तान्तः ।

चन्द्र०—किमिदित्तं भगवत्पादानाम् । सर्वं निदधति बाल्यदानरति । धन्या भवन्तः,
यैराज्यशब्दोपाकाट्यवरोदुताद्येन भविष्यममिदं पुस्तकस्याप्येनः । पञ्चकपूतं वनमिवाज्ञारा-
मस्य पूतं प्रतिभाति येषां स्रुः । धन्यो भवतां अनित्यी शरीरसं पुनरुत्तं
प्रसूताम् । भगवन् ! अल्पेतादृशमस्मिन्पूतं ध्रुत्वा । भववन् । मृतं दुर्गति-
ऽस्मि, दुर्गतिस्मयपुत्रामस्रतमुत्तसूरीदयाशं भवाद्वा भवविमोचका एव भवन्ति
सुभाधया इति कथोणं निन्दस्य चन्द्रः स्वकीयमुदन्तं विपश्यन् व्यवेदयत् ।

वस्तिप्रदीपना क्षमिनीव क्षमिनी रोषित्यममचत । चन्द्रो निन्द्य हं पुनः ।
शक्तिनाथसु निगून्मुखाय, गतो श्वेच्छम् ।

भराजत प्राचीक्षमिन्माः सौमग्यादृशस्मिन्दूरविन्दुविरासमाले । बभूव क्षामेधर
उक्षतिरपे रवज्जमेरुः पेरुः । प्रहरमज्जेनेव कभूव मयमकः । परन्तु पुत्रराज्यन्दः
सुप एव । तपानलपेण पोणा निदमरं व्याप्नोत् । परं केमल-दूर्वापुत्रमशन-

१ च्यौली-वामनरीतः । २ पुतिन्वः क्षमः । ३ वृट्टे वज्रदरम् । ४ भार-
पत्रः । ५ ररुग्मेरुः । ६ शङ्ख-दली । ७ कृष्ण ग्यालः । ८ घोडाजगलः ।
९ सुत्वा-मया । १० वने-निर्गते । ११ अक्षयः ।

गतप्रभो हर्षशृङ्गेयः शरीरं पुनर्वा वाञ्छे एनमुदनिद्रदत् । मय
भोतधोत्थाय क गतो मुनिरिति सङ्गत् सम्प्रान्तः, अथवाऽऽयास्यति किन्तु
निधन्तः, स्नात्वा प्रचण्डदुमुशालामवदन्तो मुनेराज्ञां विनापि कुटीकोनष्टवि
समुत्पुङ्गव वाहमारुणामिमुर्त्ता दण्डमाधमाश्रित्वायसीत् ।

नन्दनपुरप्रवेश एवाद्यच्छुल्कशाला । अप्यज्ञेन चन्द्रस्याभूदक्षयः ।

“भोजनशालोऽप्यन्तः ?”

“आम्, भोजनशालः, सौत्याच-वृताहिमाल्यो जलालयः । पत्रवत्
भोजनसमये च नृत्यस्य प्रबन्धः, राज्ञौ च मनोरञ्जनाय गानवाद्यमिति सर्वा सुखर
भवतां पुरो नृत्यति” ।

“कस्यां भूमौ स्थानं दास्यते” ।

“तृतीयायाम्, यतस्तत्रैव राज्ञस्तस्मिन्नास्तुताः मुसज्जाः पर्यङ्गाः । महर्हा जसन्
विविधानि चित्राणि । सर्वा राजोचिता व्यवस्था ।”

“घोटकरय...”

“आम्, घोटको मन्दुरायां स्यात्स्यति । अस्मै पाप्मादिकमप्यस्माभिर्दास्यते ।”

“भोजनशालायाः प्रबन्धः कीदृक् ?”

“देव ! सामिप्यं निरामिष्य भोजनं कृषक् पूषक् स्थानेषु निर्माप्यते । मुपाचर
दैवैः परीक्षितं विशुद्धं भोजनं दीयते ।

“तर्हि निर्दिश पन्थानम् ।”

“क्षियच्छुल्कमेतस्य”—

“प्रतिदिनं दशमुद्रा” इत्युत्तीर्त्वा तालिकां समर्थं “धरयावि वस्तुन आवस्यकताया
सूचनीयः—इति वदन् गतः ।

भवने शौचस्नानवेद्यागार आसीत् । स च स्नात्वोपस्थाप पाचकावीतं मधुम
खादु भोजनं प्राप्य भवनाग्रभूमावेव क्षतपदीं निरक्षय्य मृत्याकीर्तं ताम्बूलदलमेकं स
निद्राङ्गमस्यिष्ट ।

एकस्मिन् भवने लक्ष्मीवर्ति दीपधाने स्थितः प्रदीपो मन्दं मन्दं प्रकाशते

प्रकाशेनामुना न शक्यते शमयितुममन्दं कौटं तमः । एकस्मिन् भगवत्पाठे स्थितौ
द्वौ पुरुषौ शनैःशनैरालम्बतः ।

“न जाने कोऽस्य कथं साहस्यमाचरति वीर ।”

“आपि विरोधा शक्तिरेवं रक्षति प्रबल । परमपुनाऽस्माकं आले तथा पतितोऽस्ति
यथाऽऽह्म्याशयेन एव संवत्सरेति । कान्तिविहाय पूर्वमेव बहुशोऽस्य वधायायोचं
परं न जाने ॥ किमिव विचारयति, यतः ‘पुनस्तुहत्यामेव श्रेययितुमैच्छन् परमं
सारथिमपुन्य निहत्य दद्यात् ।’”

प्रबल०—(वायचरकं निरीय) अस्तु, यतः सोऽवसरः, अपुना करणीयं विचारणीयम् ।

वीर०—विचारितमेव विद्यते । आर्षा सारसरेण वीरधौरः—इति कथयिष्यामः ।
रवेण सर्वे मशनिहा भविष्यन्ति, न चन्द्रः । यतस्तस्य भोजने पाचकेन प्रबुरं भन्ना दत्ता ।
मादिनोमतः स मृतं पीते तद् दृश्येव । एत आर्षा तद्भवन्त्यामे पित्तौ “अस्मिन्
भवने प्रविष्टधीरः” इति कथयिष्यामः । एव उवाचः कार्यसाधकः । शुक्लशाखाप्यश्व
मुदासतं दावा सानुवृत्तः हृत एव ।

शणेनैव “वीरधौर” इत्युच्यते प्रबलो ज्ञानिः । जनधोहिदितः । अश्वस्तु
मुप एवासीत् । शुक्लशाखाकोट्टपत्नीपि कोटाहृतममुमाकर्ष्य सप्तह्वरः समेतः ।
ते सर्वे एव तेषां कष्टपटुतां कथनानुसारं सप्त एव चन्द्रभजनं प्राप्ताः ।
पदार्थां कष्टादुपगतमाजपु—प्रबलमाजपुपुत्र परं स वीरिणः । अन्ततः
कर्णविक्रोटेन “अश्वस्तु” निनादेन शक्तिं ॥ उच्यते । सनेऽप्येव शत्रु-
भिर्युष्मन् एवसीत् । दत्ताशपि “अश्वस्तु” ज्ञानं कुर्वन्त्यान् शत्रून्नेव विह्वल
सामर्थ्यः परं दृष्टं कृष्णं पत्नी वृत्ता कोटादाहृत्य क्षात्रमुदपटप पुपु-मुः संततः ।
को नाम मत्तेनुंखे सत्त्वमं निपतयेत्, सर्वे एव दर्शयः कान्दिरीक्षाः सत्त्वन्तो
निरतन्तो इदम् । केवलं सप्तह्वरः कोट्टपत्तः प्रबलवीरवरी च निश्चिताः । कोट्ट-
पत्तस्य मनस्वी कृष्णपत्नी तस्मिन् दत्तमात्रे वीरविशेषः । “प्रहृष्टपुधोरोऽयं यजन-
मादृत्यापि पुपुमुर्विज्जे, इति चेत्ता निधिल सप्तह्वरः कोट्टपत्तो वीरवरः प्रबलश्च
पुनरदेव सागरसदृशः । परस्परं चन्द्रासचक्रचक्रान्तरादीं दत्तदेवां मध्यप्रवेष्टव्य
वीरसातरी भूमिसत्त्वत्वा दशदशं प्रविहोषति तपदेव दृष्टः प्रबलेन दत्तमात्र-

हस्यगुलोऽवर्तत । ते ॥ सामां मुष्टिचेष्टापादपातैर्मृशं ध्वजदन्तः कटुवचोर्मिमं
स्पृशन्तो सुवराजं प्रार्थ्वहृत्य भीषणाकारादां कारायां निपतयामासुः ।

*

*

*

प्रातः समयः । व्युष्टवायुर्नवीनं जीवनं सञ्चारयन् रमेन मन्दोऽमन्दमानन्दं तन
वाति । उदीयमानः सूर्यः पूर्वत एवाङ्गदूतं प्रेष्य स्वागमनं सूचयति । अमरे
राजमवनमिव वीक्षितुमुषैः शिराः, पर्वतोच्चप्राकारो रचमिस्तिः कूपनिम्नया कष्टविह्वल
नितामस्तदुर्गमया महत्या परितया परीतो विचित्रकण्ठो विहितरङ्गो रक्षोर्दत्र आर
दुर्गो राजते ।

महाराजः श्रीमान् कामेश्वरसिंहो बाबिनमारुहः, एकाकी प्रामाणिकपवनसेवक
धनाय जगतः प्राकृतिकं सौन्दर्यं समयस्य रामणीयकष दिकोक्त्यन् मनस्येव मन
इतस्तत्तदसुरविक्षिप्तं यच्चासीत् ।

सपनवटवृक्षस्यैकस्य तले आलचालकृतासवो मालां विभ्रामयत्येकाक्येवासीत् प्र
शक्तिरशक्तिनाथः । कामेश्वरसिंहोऽप्येतस्य नितरां भक्त एतस्य वैराग्यव्याकुलमे
सर्वोदयप्रवचने बहुश उपस्थाय स्वमतुल्यत्मनो महात्मनश्चरणयोरारपयत् । बहुश एतं
नन्दनपुरागमनायाप्रहीच । तमयाश्रोमविष्टं वीक्ष्योपगम्य अधावतीर्य देहं नतपन्
“साधो । प्रणमामि”—इत्याह ।

शक्ति०—(धनैः) निरं धीव ।

कामेश्वर०—(शक्तिनाथेन निर्दिष्टशिलातल उपविशन्) भगवन् । अनौदया
धौदास्येन कथम् । केनाप्यश्रद्धाः किम् । कथं दुःखित इव प्रतीयते भवान् ।

शक्ति०—राजन् । अपराधस्तु साधुष्वडर्मरक्षितरि भवति भर्त्सरे न सम्भावयितुं
शक्यते । परन्तु यस्य योगश्रेयसाशिताद्येवमीतयः साचाराः प्रजाः सुखं शेते, देव
विश्वविधुतयशसा शशाङ्गनिर्मला स्यातिर्वर्द्धमानमहाप्रचारेण धर्मेण सदैव दिगन्तं गीता, यस्य
प्रभावेण त्यक्तवैरा विरोधिनः पशवोऽपि परस्परमङ्गादङ्गं मीडन्ति स्म । येन सुरापइत-
द्विरप्यं समुत्पादितमयं मृशं दण्डितं लुप्टाकपुलं दस्यारातिहृदयदाहकेन प्रतापवहिना

विदुतभीतयो भामिन्यो रुद्राणां हारमेव नात्रः यं पितरमिव पालकं मातरमिव मानदायं
भ्रातरमिव क्रीडालरं गुरुमिव विशुक्तं, कुबेरमिव धननिबन्धमृतकोशं प्रजा मेनिरे प्रप्रापतिम्
तस्यैव वर्णाश्रमव्यवस्थापकस्य सनातनधर्मसमाधायस्य श्रीमतो नन्दनपुरजरेणस्य सस्य-
समृद्धमृद्धं योऽयजनसम्पदां पदं राज्यं नष्कृत्यतीति विचार्य दुःखितं मे चेत्तः ।

“किमिति कथमिति कुत इति” सामर्थ्यं समर्थं सविस्मयं समर्थं सनयनोत्सकारं सात्त्व्यं
कथितवति धीमति नन्दनपुरमग्राण्डमग्राणि स पुनः प्रवोचत् ।

दीर्घ्वर । वयमशेषां शेषाधारं विचरामः । समेषां सुगुणान्यपि मानधमद्वौदधि-
कीनानि वृत्तरत्नानि परेऽदयया विप्रः ।

कामे०—आम्, निश्चितमेव ।

शक्ति०—भावी विमलेश्वरकाम्यता, माता वीरधैर्याणां राजनगरराजकुमारो भवत्युरे
समायातो राजकीयशुल्कशालाव्यमावासं परित्यज्यवान् । स आधुना घूर्तधौरीकृतो
भ्यक्षितश्च कारायां शर्वा निधिनिगडित आस्ते । तमुन्नीय तत्प्रसादाय स्वपुत्रीं
सरोजिनीं च समस्तगुणवत्यं तस्मै प्रदाय सुखीभवितुमिच्छसि चेद्भव । मा वान् अतुल
हस्यं विपुलकौशलकुसूलं देशं रक्षरजितभुवं भुवं वीराणां, रौद्र्यमान-चेकिलमान-
चेकिलमान-मारीजातवाल-समुद्रं कापीः । महतो हेतिसम्पत्ता सेनास्य ।
राजनगराधिरजेरस्य विनुरपि प्राप्तप्रशस्तिका वमूः । सत्त्वमम एव हृदयवातकुद
मद्वाचयम् ।

कामेश्वरसिद्धस्तु भुवैतच्छिविताज्ञो गूढं सम्मन्त्रम् प्रशविना जवनेन शुल्कशालां सद्य
एव प्रापत् । शीलकशालिकाधासुवितमहाराजगमनसम्भ्रान्ता भीता हस्तयुगलान्वादीयम्
प्रणमन्तः समीं याचमाना वचन् भाषमाणा एकतः सन्तत्स्थिरे । “कास्ते कोट्टपाल”-
इत्युक्तेऽज्ञैः सङ्गुञ्जन् विदूरत एव प्रणमन् महतः कुञ्जद्रुतयेयं आचरौ सः ।

महाराज०—वसि शेषकाः सन्ति वस्यति ।

कोट्ट०—देव । धीमत्तः प्रत्यप्रताप्तपनेन नाशितं भीषणवृत्तसन्तमसम् ।
तदहं द्वौ सेवकावेव पर्याप्तौ विज्ञाय निषुक्तवानस्मि । अग्रे धीचरणभिधानम् ।

महा०—अपि नाभूत्कापि पटवानतेऽद्भिः ।

कोट्ट०—अथत्वे । रात्रौ वयनपटुना चीरेणैकैवापहतः प्रचरो राः । वयन-

शक्तिनाथस्यान्वयः पुण्डितमामन्त्र्य विवाहतिथिं निश्चिन्यति राज्ञि चन्द्रेण न्यवेदि
यत् पूर्वं कमलना सद्यः विवाहो भविष्यति तदनु शान्तो विचारः, इति ।

विमलपुरे अग्रजामाकलय्य श्रीकामेश्वरसिंहेनमन्त्र्य कुमुदिन्या मुखं भूयेन्द्रं
विमलपुरं प्रेषयत्किञ्चित् ।

देव, सादामभिरादनाम् । श्रीवर्णानुष्ठानया कुशल्याहं परेशानुष्ठानया प्राप्तयं
प्रमत्तवानस्मि ; तत्रं कृतं भूयेन्द्रो निवेदयिष्यति । श्रीमन्नन्दिनी नारायणं स्वस्था,
स्वात्म्यप्रदः सुखमरारंमुखद्वयाममोको रम्यवार्थं प्रवेष्टः—इति कतिचिदिनान्यप्युप्या-
डयन्त्यसि, न कापि व्यग्रता कार्या । शेषं कुशलम् ।

ललितवनम् । }

धीमताम्
चन्द्रः

*

*

*

धीताप्यहं द्वियामलमन्त्रिणीदिष्टः । पञ्चोत्तमाजयिनी महार्हमण्डनमण्डितानां
हर्षाणां प्रभा भासते स्म । तन्मोक्षारण्येन बंशोद्विगलविराजेष कोटिलकाशस्या
विवाहिनीविभाषैव विलसति स्म ललितवनम् । अस्मन्मन्येपेर्महुरं पुराणं जातं
अगत् । निराशयात्मकावकाशो निशीथसङ्कापेनाधिकप्रसरं तमराशयं छाद्येन
विगतम् । मय तत्र विपुलीया शम्भोद्विगल इव छाद्यनमरहेत्सु रश्मिस्तृणा,
किन्तु तत् प्रसङ्गेनयाऽन्यत्रम्पराग्यो राजेव तौलितस्तुम्बरकाशं गवेयदति ।

अस्मिन्नेवनेहसि इतिहा तद्विन्मिरेन, साहस्यमिव वदितुं तमशो वारिषः समारब्धः
उपडराश्वानं दृष्टुमिच्छन्प्रातः । देव कुपयद्भीतिविराजन् सद्यं कलकल-विद्य-
बभूव विद्वन् ।

चन्द्रस्तारणे कमल निराहं सर्वहं वज्रतडा साहस्यारण्य, रणविप्लाविश्य-
सन्मोदिव, विलङ्घयन्ती, दुर्जनघण्टेयसि अस्मच्छतद्वरशा सपति । विन्दुयातमवेन-
रवेन चन्द्रविन्दुद्वयम् । तदेव देवदेवि गंधारम् अविच्छिन्नरितविमलोन्तपुर-
विहारी प्रहरी—“देव । स्वमिन्मत्तः शरीरिन्मत्तः सद्यसादगत एवो मृतो ललितवन-
विहारी तिष्ठति, नयमनेह देवदयवसेति क्रिञ्चनमिहरेण कम्पयामोऽपि शोऽन्यदयहं
किमपि विज्ञानं विज्ञापयति कथयति, अथ देवः प्रवच” विन्दुयवम् । “सर्व

बहिरेवायामि"—इत्युत्तीर्य वस्त्राण्यायोज्य, बहिरेत्य, इत्युतः पर्यन्त, बहुल अत्र
कमपि पुमांसं नापश्यत् । किममूदिति चिन्ताचक्रवर्तिवितथान्नः पश्यन्
सद्य एव प्रतिनिवृत्तः ।

*

*

*

"प्राभातिको मातरिद्या ललिता लोळकुमुदाः सुगन्धविसरमुद्रमन्वो वासन्त्यो लब्ध
सुखयन्ति स्वाम् ? त्वन्मेलनहर्षवर्षविधुतस्मृतिरहं वृत्तमेव नाट्यम् । तत्कथं ह्यं
म्यशङ्कतं तैः । अहं स्थानस्यासुख्य परिचितोऽस्मि स्वमपि किमत्र कदापि समायाता ।

कमला—शशधर, यस्मिन्समये मयूषाणां नादेन मन मूढां नष्टा, समुत्ते
मुखायोजितवस्त्राज्यो भवद्गुणकाराः कारुण्यवनदहना असम्भृतानिधय आकलितपुराविमल
ग्रहा इवीरपातिकाः पुरया रया न्यरूतमृत्यवः स्थिता आसन् । ते मामाहुः—

"कमले । केनाप्यविज्ञातोऽयं प्रदेशः, अनुरैरप्यज्ञेयोऽस्य पन्था अरमद्रूपीति
गमने च भवं मरणम् । आत्माकं देवः कान्तिसिद्धः कार्यवशाद् बाहोऽप्रदेशान् रक्षि
गतस्तदाज्ञैव वयं तदनुचरास्त्वामानीतवन्तः । सोऽपि समये भवतीं शर्व
तायकीनोऽयं प्रदेश इति विज्ञाय स्वस्थान इवात्र व्यवहरतु भवती इत्यामाय वहु
रगोचरे संवृताः । अहं च सत्यपि क्षुत्पिपासाशामके पल्लवकुले चिन्ताचक्रवर्तीमि
माणचिता सर्वं वासरमत्यवाहयम् । तस्मिन्चिन्तापारावारे मदीयचानुरोतराणिमला
साहं 'छपवेशान्, छात्रप्रयोगान्, विविधसाहसिककार्याणि वेष्टि—इति एव
सरभर्तुं शूर्णितम् । दुःखितं स्थानं निजजनान्तरमार—अहह । ॥ पिता ।
पतनी हा ! हन्त । 'सा तु दुर्भयाया मम घौराय एव स्वर्गता । पतित
धायीव धायी अपि हन्त कीदृशता अहो साम्प्रतमेव आनन्दाराधिरचरती
गमुदिताऽऽसीत् । विचारितमासीद् बद्धुनाऽऽधमिन्सुखं सुखं विरं लभ्यते । हन्त ! वृत्ता
तस्मिन्, कीदृशी मन्दमाकाऽस्मि । 'वा' वेतिरस्यमूर्तिवभोगिर्बुवं विमोदयन् ॥
आता मे रामः । एवमहं विचारयन्ती विरायात्ममेव म्यगमम् । लब्धवैषया नष्ट
त एव त्रयः समुत्ते निपता इति कथयन्तः प्रेषिताः ।

"देवि आत्मकं न्यासी, देवः कान्तिसिद्धोऽतिव्यवृत्तः । शीघ्रं चन्द्रपुराधर
दशवर्षी नाविद्यतः कथा च लब्धुं मूर्तमि, तथा पुत्री सती मर्त्यम्

बलवान् भोजस्त्री यशस्वी धार्मी चातुरोत्तरीतन्तुवायोऽप्येक एवास्ति । अतो भवतीं रतिरमणीयां कथं सादरं प्रार्थयामो यदत्र भवती नः स्वामिनी भूत्वा नित्यमस्मास्य, यौवनस्य च धानन्दसन्दोहमनुभवन्ती किं रमताम् । या नाम प्रचण्डचण्डहेतौ विन्ताशुश्रूषणौ कमलकोमलमृषालपङ्कजनेत्रयमिव शरीरं पातयतु । चन्द्रसदृशा बहुवो रात्रानस्तचरणाम्बुजरेणुषागानुरागिणः सन्ति, मन्यस्वेदं सद्रूपं इति ।

निर्दीप्य एकदा शोचन्ती कृष्णमाश्रित्याविष्टा एषा सं तावदेवो मनुष्यो नृभिमुखमा-
गच्छन्नासीत् । आहूय “शङ्कया भीता पादपतमसि निशीना समभवम् । स मामन्विष्याह ।

“कमले ! त्वदनुचरोऽहं भवतीं स्थानादस्माद्वह्निर्निनीवामि । परजारासा एते मां सञ्चलमनोरथं प्रचुं नैहन्ते । अधुनावसरोऽस्ति सपश्यागच्छ मां मैत्रीः । अनुत्तान्त्यामपि स मां सकरकथं नेतुं प्रस्थितः । तावदेव चञ्चलाचञ्चलप्रैः कृपाणैराकान्तः । भीताह्वयन्द्वारसन्ध्यापत्येन मूर्च्छिताऽभवम् । तस्य का दशा सम्पन्नेति न जाने । ततः प्रमृति कारणां वासः । दुःखविचारैराभावः । तैरेव प्रेमा ! शोकदाहपुना व्ययनम् । प्रजामराजगरेण दर्शनम् । सन्तापसिद्धेन भक्षणम् । तमोमिप्रैर्मलः । अद्वन्तुदामिरातिभिः खेलाः ।

चन्द्र०—(निःश्वास्य) ततः कथं मोचिता ?

कमला०—हरिन् मम कारागृहबीजने पीयूषपरिप्लुत मासीद् यस्मिन् भवता वाचमशृण्वम् । मम जीवनवल्ली क्षणं व्यहरान्, परमुत्थापितकर्णं निराशा समभवम् । व्यतीतेषु द्वित्रैवहन्तु देवी सरोजिनी, कलितहृण्वेशा कातर्या सनापाताः मया व्यवहृति मयं निर्दयं माहरीनां देहवारिणीनां प्राणान् पृहन् मृतं गजरीकृत्यमलमर्मरीको मृत्युर्ब्रमेति । मन्वेऽय ममावसर इति मां नेतुं समेतः—इति । कृष्णपटञ्जिततनूः कतिचनाभ्रयुग्मुपव ममाह हसितगर्हितसरोजा सरोजिनी । मुधास्ति कमले ! अहं त्वां जाने यत्त्वं महा-
प्रभावस्य राज्ञो मवेन्दुपालस्य स्नुषा, प्रभुवरस्य रत्नपालस्य प्रेयसी पुत्री, अतुल्यगुणनिर्घेर्षवर्मणचन्द्रस्य प्रियाऽस्ति । त्वामहं बहिर्नेष्यामि । उत्तिष्ठ, त्यज स्थानम् । उदितस्तेऽद्य भाग्यमाखान् । अधुनानुभव पत्या सह दिव्यपदं गन्तुमुत्तमम् ।” इति

अहं तु तादृशजीवनमरणं धेयो मन्वाना यवनचानुयाचितं निमोहवन्ताः
रुन्धमवलम्ब्य भवनमगाम् । तस्या निर्मायारिचर्यायां स्वप्नरेव दिनैरविग-
त्स्वास्थ्याऽभवम् । एकदा सरोजिन्याः प्रिया सद्यो चला सरोजिन्या हृदयगतं
न्यवेदयत् । अहमपि तद्वामानम्रा प्रतिज्ञतवती । सेयं देव, मम भवतश्च जीवनरात्री
रमणीया रमणी सत्सुखीना मम भगिनीनिविशेयाऽवश्यमुद्राग्रा ।

“कथमेतत् सम्भविष्यति, सरोजिनीसदृशो नश्यमाना रमण्योऽपि पुण्य-
मपेक्षन्ते ।”

“श्री धनम्, धनस्याधिपतिना रक्षकेण भवितव्यमेव ।”

“अद्य रिप्रयः पुरुषमनुजीवन्ति, नैतच्छोभाहम् । आयासकिप्रतीका स्त्री रक्षाम्
पुरुषमपेक्षते ! जगतः प्रसूः पालिका स्वपुत्रैरवमता स्वपुत्रानेवाह्वयति । यां
पितृतोऽधिकं वन्द्यां विद्मः, आसीत् यामेव भगवत्स्थाने स्मरामः सा पुत्रं पतिं प्रचरं
वाऽऽह्वयेद् रक्षितुम् । अशोभनम् ! स्मर्यताम्, अपरेण रक्षितः कदापि सुरक्षितो न
भवति, यः स्वरक्षितः स एव सुरक्षितः । यथा नरः स्त्रीनिरपेक्षं जीवनं याचयितुं
शक्तस्तथैव स्त्रियोऽपि पुरुषनिरपेक्षं जीवनं व्यतियाचयितुं शक्ताः सुस्तरैव
स्वरक्षिता सुरक्षिताश्च भविष्यन्ति ।”

“सत्यम्, परं स्त्रीषु मातृत्वभावनाऽन्तर्निहिता । मातृपदमनधिष्ठाय न को
स्त्री कृतकृत्या मनुते । अतः स्त्रियाऽवश्यं पतिमत्या भवितव्यम् । भावनामेनां श्री
केवलं ज्ञातुं समर्था न पुमान् । मातृत्वं त्रिना सौत्वं न सार्वकम् । तच्च विवाहं च
च पुनासमपेक्षते । पुमांश्च सुशीलः सुन्दरो विद्वान् कुलीनो यनी समवयस्को वर-
स्त्वदा वरणीय एव । एकदा यदि कृतस्तदा कृत एव सर्वदा । भगवान् कृतोऽपि
नरकामुरवधोत्तरं मनसा कृष्णं पतित्वेन कुतूष्णां भावं स्वीचकार एव । परिस्फुटि
प्रबला । भारतीयसर्वस्वं यचस्तु त्वयमेव ।”

पादपानि विभाव्योरुक्षणैः चन्द्रेण प्रयो जना अवलोकिताः । भीता कमला तान्
परिचीय सन्धय आदिशत् । चन्द्रस्तु तां मन्मथकण्ठपीठस्याधस्तात् कृत्वा “पश्य
एतेऽपि फलमनुभवन्तु—” इति कथयन् स्वतर्कोऽव्यातिष्ठत् ।

... रे, अप्रवेक्ष्ये भवने प्राविशन्, तदास्तादृशायाश्चनयादप्यहम्, पातय य

कान्तिसिंहसङ्ग्रहाराप्रवाहे स्मृ, नैशी योजना निष्कलीभूता तामधुना साधयिष्यामः” इति सङ्गर्ज्य युगपत् खड्गधारया व्यभक्षिष्वर । परन्तु चन्द्रस्तु न “वाऽऽज्जली” फलकासङ्कारमजरीपोयूकान्वपोनमधुपुत्रकः, न च “व्यधिकरणवर्मावच्छिन्नसामान्य-लक्षण”मण्डनगण्डतः, नचाहै तवादिवादीन्द्रवैदान्तिकप्राप्तपाठवः, किन्तु करवालकेलिको-विदः, यत आप्ततत्त्वान् मर्यादयापहृत्यैकेनैव लघीयसा हस्तेन कान्तिसिंहशिरः समपातयत् । तस्य कव्ये च पतिते प्रकर्षामर्षौ चन्द्रः । इयमागता तेऽस्तमन-वेला, वीरवरतुःशमयि महताभीष्टेन यथाकथञ्चित् सोढम्, परं बौद्धमेनं कथमपि ॥ साध्यावहे, अधुना तु ते शोणिताञ्जलिमिरेवैनं तर्पयिष्यावः । स्मर स्वेष्टेवम्, भव सज्जः इति साक्षिविशेषं व्याहृत्य गृध्राविव विपत्सू खड्गाभ्यां युगपश्चाकाम्यताम् । परथ चन्द्रोऽञ्जलहासः स चन्द्रहास एव सौ समरुभत् । प्रशस्तकरवस्त्रयतनसमकालमेव तयोः खड्गौ भ्रमी । चन्द्रस्तु अवशयैतद् घृत्यशिरोऽनुमृष्टत् । ततो गतासिः प्रवक्तुः—“चन्द्र ! किं निद्रासदृशमुर्ध्वन्तन्यः । धर्म एष आर्यवीराणाम् ? अस्तु पातन्तज्जातम् । सम्प्रति सम्प्रतिष्ठ । इन्द्रयुद्धं सभाचर मया सह । चन्द्रस्तु विमर्ष-विवश्रुतिं मानवेगमवहृष्य योद्धमेव सद्यः सज्जो बभूव । निबद्धकौपीनेन बभूव सावकाशदर्शनं सपार्श्वपरिवर्त्तनं सुहृत् शोकजन्यम् । परन्त्वन्ततः प्रचण्डदोर्दण्डविक्रमो सुवराजस्य कटितटे ससुत्वाप्य भूमीं प्राक्षिपत् । स च निहसन् तरुशपादेव चन्द्रचाणयो-निपत्याबोचत्,—“दिश । ममैषा प्राणसमा तर्पाणु प्रतिज्ञाऽऽसीद् यद् यदि कदापि-कोऽपि मां इन्द्रयुद्धे निपातयिष्यति तस्याहं दासः संवत्स्यमि” इति । तदेव । अतः प्रवृत्ति प्रभूणां धरणशरणः संवृतोऽस्मि इति ।

अस्तुतो राजं स्थान एव राजते । ईदृशपुष्करजस्य, सत्यवीरस्य, अतुलसाहसस्य उपचन्द्रमेवावश्यपदाऽऽसीत् ।

*

*

*

विविधधानुकुलसुखसुखकेषु बह्वैशधक्येषु राज्यपराच्छादितेषु हस्त्येषु समानां कर्तुं स्वसनकृत्तितज्जीवीनीरुत्यमन्त्राभिपन्नोर्णा वन्तः सन्त्युताट्टदलमलविदित-सेवकजनचतुर्गणा, रक्तवासीवितानागमय आयुर्वेदशास्त्रनिबद्ध-समीवित-समागि ससन्मदिरं राज्यकुलं राजते । सत्रैव-व . २५५ : पूर्णं वयसा,

वनगामनि विमोहिन्यः, कश्चनहोविह्वलीशिशितरजितसमस्तशस्त्ररत्नवना-
 कदारि कटितटे तटे क्षमकूलद्वयपाः, कदाचिदुगमि रविचयेतोदरे, कदाचन शिनि-
 रशितशिरोरत्ने, कदाचिद्वस्त्रे हस्तं न्यस्यन्त्यः, मोहिन्य इव पृथानृतनवाः, डोल-
 तपटप्रान्तभ्रेष्यमाणान्नचेतोदरा हरिणाक्षो वारवधः परमनपुर्णं ध्वज्यं, पद्मदल-
 गानेन सार्वर्ण्यदमाकण्डेयन्त्यो गमन्ति । वैणविकाः पिष्टस्त्राः स्त्रान्धमेव मारुति-
 सह सहस्त्रकारं तारं रणरणयन्ते । भ्रूकुंसा भ्रूविशेषजनितविशेषा जनान् सम-
 यन्ति । सर्वश्राभिनवो हर्षः, पलाका अपि अर्धं स्निहन्त्यः कर्तारप्रमाणाः दुःखोदन्तकर्ण-
 दुःखितमाकाशमद्य वीजयन्तीव । प्रकृतवेजसा विष्कासितमलसत्तडिग्रही-
 त्वाहो ! निशामपि दिनयन्ति । सर्वत्र सौगन्ध्यम् । समरिजन् मनजङ्गल-
 सर्वत्र हासपलास्ये । स्वैर्यमजीवेषु धूयमाणगानगमने चालस्यमासीत् ।

सोऽयं महोरत्तवो विविधाख्याननिपुणैर्विद्याविलासशालिभिः कविकोविदैः केवलं
 शान्तस्थान्तवेद्यः सधर्मस्य चन्द्रस्येयत् महत् कष्टं विपश्य सङ्गशलनिवृत्तौ सग-
 तसम्पादनाय विहित आसीत् ।

रात्रिमुख एव दीपाः प्रज्वलिताः विमलपुरवद्भिर्भूमी चन्द्रप्रकाशस्यै-
 स्वागतसामग्रीम्यधो जन ईष्यते । वितानस्थायिनो सर्वेषां यशूषि सामुत्कीर्णमय-
 लमानि सन्ति । अस्मादेव संसरणाच्चन्द्रायमनं सूचितम् । इम्यं च सर्जितराति-
 सरोजिनी नितरामुक्ता । प्रतिक्षणमितस्ततः सखीर्दृष्टुं प्रेरयति । मरुतरा-
 दीपप्रकाशः सर्वजनसमूहं मुक्तयामास । पश्यत एव ॥ मरुतरे समावयतु । अन्त-
 पुरीये सजवनिकं मरुतरं प्रासादमाससाह, परष वितानभूमिम् ।

अथ सखल्लोकजयशब्देन सह समवतीर्य महनीयसामपालचरणसरोजं गहन-
 मीराभिषेके प्रगम्य, सगद्गदमाशिषं प्रतिपृष्ट्वा समासदैर्ययायोम्यं सरहृतो रामपालनिदि-
 मासनमलपुङ्ख्य, वृत्तजिज्ञासातिशयं विज्ञाय भूवेन्दमणितमपि सङ्क्षेपेण निमग्न-
 राज्ञाऽऽमन्त्र्य विथ्रमासां प्रग्राह ।

अथ महाराजो राजसदने दिनादौ दोषज्ञो, करिवसिता सिताम्बरो वरो वीरेषु प्रत-
 निजितमहेन्द्रो भूमहेन्द्रो रामपालः, नन्दनपुरेश्वरः कम्पेभ्रासिदध मुखैः सामन्तैश्चे-
 विद्यानिधितानिधितानां प्रख्या राया ह्येतावन्नेरेण मतिमतां वरेण मन्त्रिणा मतिवरेण,

आयुर्वेदमहोदधिमतमहनीयमहिम्ना हेम्नो दाम्ना विभासितगलेन धाम्नां धाम्ना नाना
चन्द्रशेखरेण शेखरेण ज्योतिर्विदां कनकदण्डोपनेत्रेण शेखरेण सकलकलानां श्वेताक्षिपदमणा
कुलगुरुणा च परामृशति । मध्ये हस्तलिखिता भूर्जपत्रमथो जीर्णाऽऽक्षीर्णा स्वर्णाक्षरैः
सहस्रानाद्योवेष्टितापि न मनोमोहिनी निराजते यजते पत्रे पुस्तिका । मर्यादाः पत्राणि
इतस्ततः प्रचाल्य किमपि हस्तपत्रसु गणयन्ति गणकचरेभ्यः । विज्ञेन देवज्ञेन निरवायि
चैत्री पूर्णिमा विवाहे पराभ्युत्तमा वेला च त्रिषामभ्यास्तृतीयो घामः ।

“सौच्यञ्जगन्मनो नवेन्दुवर्मणः समानमनं लपीयसि समये न सुषुप्तं पुन्यध
पूर्णवसतो वेलाविलम्बाद्योपमाः”—इति मन्त्रिणामन्य कमलाविवाहसमारोहं समारभते
रामपालः ।

*

*

*

“महाराम, महापतिः कामेश्वरसिंहो रामपालश्च पत्रमिदं प्रैष्य विज्ञाप्यते यद्
यानादिकं कदा किं वा प्रैष्यम्”—अत्रादुत्तीर्णः साक्षी प्राह ।

महारामा च उत्तरपदाय पत्रं पठति—

शारंगीयाः,

एकोऽहं बहु स्थापिति समावप्रपन्नः प्रथमरपन्दनेन व्यक्तं चराचरसृष्टे-
र्मूलतत्त्वं पुराणं प्रकृतियः । सुगतीभूय तन्ततिरम्परवा संयुतेर्भावाया अनवरतं
प्रसादनं पुराणपुराणभिलाषः । विवाहस्तस्याभिप्रेक्षितः सामाजिकी । सोऽयम-
भिलाषो रामपालस्य पुण्याः कमलायाः, नन्दनसिंहस्यदमयायाः सरोजिन्याय महा
महिम्नो रक्षो नवेन्दुप्रालस्य पुत्रेण भीमन्नुजारेण देव्यां पूषिमया विवाह
रूपेण सम्पाद्यते । भीमन्त उत्तरपत्रमस्यै उपस्थाप्य प्रार्थ्यन्ते ।

कामेश्वरसिंहः

रामपालः

नन्दनपुत्रम्

विन्दनपुत्रम्

कोणेऽद्वितनासोऽ—

रपिण्डोऽभिलाषः भीमन्तमद्विषा सम्पूर्यते ।

अनामन्नेऽर्पयति प्रत्येपति । सतन्त्रा महारामनः

अथ तेभ्यो विधिः । —सरोजिनी

कृष्णवर्णानाम्, महाहंरजस्वीचत-सर्णेरीठस्थित समधिकसमरजमिसामन्तकुमाराणाम्, महा-
मात्रप्रयत्नरुद्धशीघ्रगतीनां करिषां झुण्डादध्वनिजितमुगन्धिपुष्पदामनीमभितो-
भ्रमद्भ्रमरश्रेणयः श्रेणयः, ततो मुगुण्डिकापलम-चञ्चलितसितासिधेनुकाशोमित-
स्कन्धदेशानां परेषां करकलितनिष्कोशकरवासानां तीक्ष्णपलशोभिकुन्तधारिणां,
राजपुरुषत्वख्यापकवत्सलपितृलपट्टिकालंकृतमङ्गलसत्तानां, रथकारां बीरतायाः शतानां-
राजनि, जनिमतां वस्तुकेषु, कुलेषुविद्यनुधारिणां बीरवराणां वारः, ततो मुक्तानिर्मित-
राजहंसमिधुनेन, मय्यनुपपन्नत्वेन, नीलमणिना रचितमयूरगुण्ठेन भास्यता कनक-
हण्डेन रक्तकौशेयसम्पादितेन, पृष्ठस्थसत्सामन्तरुद्धीतेन, विशदेन आतपश्रेण प्रकटित-
मुपमः, उभयतो इक्षिष्यरुद्धाभ्यां सामन्तराजभ्यां प्रचारयमानचामरयुगलः,
महाहंरजनिचितकिरीटविभासिभालो लोलालकः, समीपश्चकुसुमकोरककुक्कुटमकाश्मीर-
वचित्तुखमण्डलः, दशननिजितकलानिधिः, कलानिधिः, सर्णस्रस्यूतपुष्पलतास्तवक-
भ्राजा, रत्नाकौशेयेनप्रपदीनेन वल्लसमाया समेधितभीः, धियो वक्षस उदारताया बीरतायाः
सौजन्यस्य च भाजनं सत्रीकलेन दुकूलेनानन्दकटितटः, भ्राजता स्थूलवत्सुलमुक्ताहारैण
चन्द्रहारेण वक्षसाजुकृततारापतिः, पतिः राजनयारवसुमत्याः, मत्या विहसितकाम्यः, काम्य-
रचनाचतुरः, तुरङ्गविद्याप्रवीणः, बीणाकणनमुग्धीकृतप्रमदः, मघोत्कटकिरकटपाटन
पाटवप्रथितः, कङ्कणविशोभिमणिबन्धेन हीरकसचित्रसर्पस्तक्ष्णीलकौशेदकोशकरवाल-
धारिणा रजप्रटितोमिकाहारिणा करेण योतितचापस्वीऽपस्थः, प्रघीतभीतवसनः, सुभय-
पादप्राणः, महाहंरिस्तरभावां रक्षो रामपालस्य परमप्रेमभुवि भुवि सम्पदां प्रतिष्ठाप्यः,
करेणुकायां कामाद्वितचित्रायां कृतस्वर्णासनस्थितिः, स्मितेन दशनवसनयोर्ललितललामां
प्रसारयन् एतच्छर्मा, विक्रासयन् कामिनोनेत्रकुमुदनि, उदोपयन्मनोभवप्रमावान्
सत्काम्यमिदं पदे पदे हर्षयन् सर्वचेतांसि आसीत् कामिनीयामिनीमनो-
वियञ्चन्धन्धः ।

पृष्ठतथ महान्तमनलदुरधमपि अलदुरणमश्वानामधोरसमारुह आसीन्महामात्यो
मतिवरोऽनुपतः सशस्त्रै रश्वरोहिमिर्वीरैः ।

कामिनीचरपतितो कुसुमैर्माल्यभिः स्तवकैश्च मृदुला तातकितेकाभूदनुचराः ।

१ पलं मांसमर्हतीति पाठः, न स, सोऽपत्यो-न मांसमोक्ष ।

चाण्डासिनीहास्यैः कथमपि दातुः, विलासिनीनयनवापुस्तथा कथद्वयमपि मुक्तः, नूपुर-
शिखितैर्यथाकथञ्चिदनाकृष्टः, वामभ्रुदर्शनमारुह्यन्त इव शनैर्दशनैश्चतन् कनारोहोर्ध्वं
महामहिम्नो रामपालस्य दुर्गान्तर्द्वेर्ध्वमाङ्गुलीके ।

अथ हि भगवतोऽवतो वसुधां सुधारिमतस्य रामरत्नस्य भवनं वनं विललितम्
विभाति महेन्द्रस्येव । ह्यष्टकपटितेन योजितशिखिर्नैपुम्येन पत्रेण षट्पटं चक्री-
कृतावलोक्यस्तोचनमिच्छं मुखद्वारम् । धर्मितो तस्माद्य पुण्यस्तवकलतापुजाः कौहेष्यो
जवनिकाः । सम्मुखे चैतस्य रक्तकौशेयनिर्मितं विलसद्यजतकुसुमं नृत्यप्रान्तप्रतर्जनी-
भीक्षितसकलग्नं द्वात्रिंशत्स्तम्भैर्विहितायामं महावितानं दितम् । यत्र सुसज्जित-
सिंहासनानि सहस्रशः स्वर्णसन्ध्यो राजतःसन्ध्यो वेप्रासन्ध्यो राजन्ते । यमभितो
निष्कोशकृपाणपाणयः पटवो भट्टाः समयादमासते ।

सुरधा नूपुरशिखितद्विगुणितर्याङ्गिणीस्तनाधिरप्यः, मोहितसमाजेन विलसि-
तन्दकेन कोकिलानुकारिणा करिणानपि मनो हरिणा स्वरं मधुरमधुरं तस्मिन्
गायन्ति ।

इतराप्यपि वाद्यानि यद्यपि स्वस्वविजयाय मनुजमानसान्धपहतुं प्रयतन्ते, पञ्च
मुग्धवधूगानमिदं सर्वातिशायि विजयमप्यगात् ।

अथ वादकेष्वेकतो भूत्वा वादयन्तु यन्तु मुक्तमार्गे च सैनिकसमुदये रम्भं
सन्मुखकुट्टिममायाता करेणुका आयतललटपराजितचन्द्रस्य चन्द्रस्य ।

निःश्रेणियोजनेन जनेन दत्ताशयि समवतीर्णे वरे हस्तिपदेनान्यतो नीडवा
करेणुकायां करधृतैः सौवर्णैः कुप्रिमदिकरैः सुगन्धविसरं यमद्विः सुभिदे
जनसमुदये, सदासं समनःसमुत्सारं प्रयत्सु चतस्रु च एषजनेषु विहिततोरचपट
आहतोऽपि परममुन्दरीणां दरीणां मनोमरस्य भवस्य सारैः कटशैः, कर्तार
हर्म्यप्रथमद्वारमःसञ्जाद . वधूविधूयमानमानसराजस्यप्रतिशितप्यजनं सौन्दर्यं
विधूणितनयनं, नयननोरजैर्नीरजाङ्गायितजिह्वरं, कनकदण्डचमरमाहिषीभिरामृत-
वाहिनीभिः, पद्मपादपारिणीभिर्भूषयमूपितामिदांसीमिदांवास्ति, महत्प्रान्तप्रतर्जि-
द्वितीयं द्वारम् ।

१ प्रतापिनी मातरी इति भाषा ।

तत्र चाक्षनाभिः कृतोऽर्चने कमलयापि यापितदुन्दुभ्यामिव । सरोजिन्या सहव
सविभ्रमं ललनान्तर्गतशरीरलज्जया पुष्पस्त्रवकेनाहृते चन्द्रे इतस्ततः सविलासं
प्रयातासु विलासिनीषु गौडविहौषसा परिकल्पितसम्भारां परितःकदलीदण्डां चतुर्द्वारं
वेदिदां सप्तश्रीकः कामेधुरसिहो रामपालश्च कन्यादानाय परिकल्पितमहार्ह-
सम्भारावविशतम् । समये खगदानन्दी चन्द्रोऽपि मण्डपे खर्गवीठे पदशकारः ।
मध्याह्नि कम्पलासरोजिन्योश्चन्द्रेण सम्पन्नो विवाहसंस्कारः । शामीलं भस्म
मधुरादोरहान्यकुपामासः ।

राजा रामपालः 'स्वधर्ममात्रमपेक्षतः कामेधुरश्च दत्तदासीदहस्यधारापलाङ्कयुक्तं
यौतुकं कौतुककमेदम् । इष्वनुय विवाहक्यापकासोभतः । सम्पन्नो विवाहे चन्द्र
आचार्यः' राजानं रामपालं कामेधुरश्च प्रणम्य आशिनाभस्य पादयोः
परमप्रेम्णाऽवनिर्नम्रः "केवलेन नमस्कारेण किम्, कामपि भूयसीं दक्षिणां दिहि
यां यावज्जीवं हमरायः ।" इत्युक्तः खकीर्य महार्हमण्डुलोयकं ददौ ।

अथ सम्पन्नो खप्यमनेऽवलाभिर्बलादाहृतः पुरुषोपमां शिक्षावलयया कमलया
सजीवरजन्या सरोजिन्या चानुगता गतवानुपदेवं देवधन्वः । तत्र च कृतकुलाचारो-
महिलाभिरागृहीतो नेत्रसम्पत्तेन परितः प्रेक्ष मदनसदनसामिनीभिः प्रमदप्रमदाभिः
'तेरकण्टमवलोक्यमानोऽकिं निचार्य पञ्चमदः पपाठ

कल्याणानां निधानं कलिमलमधमं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विभ्रामरधानमेकं कविपरवचसां जीवनं सज्जनानां
धीर्जं प्रेमदुःसस्य प्रभवतु जगतां भूतये बधुकाप्रम् ॥

लेभे चैकं महार्हमण्डुलीयकम् ।

तत्र च श्रुत्वा रसस्रोतसि प्रवहमाने प्रकृत्यैव हासप्रिया प्रिया सखी कमलाया
गनोरमा, रमाविनिन्दकहृषाऽकूपारं तर्जयन्ती गुणश्लोः, श्लैर्मण्डिततनुयष्टिः, यष्टिः
समस्तलितस्य, किञ्चित्परिवर्तितपदं हनुमन्नाटकीयं पञ्चमदः श्रुत्वा समयमान-
मुखी उवाच—

देव । यदि न कालेक्षेपो यदि च प्रसादतन्मुखो देवोऽस्मात्, तर्हि भवद्भस्मस्य
शुभ्रुषामहे पयमदः । अथोपनिष्कृतस्य सलनावनस्यानुपेक्षणोद्यमगुरोषः ।

“कलितवैदग्ध्यस्य दग्धस्यापि स्मरस्य प्रधानजीवनसाधनो विमुग्धस्यापि मुग्धमन-
स्यान्ननाजनस्य कृतानुभवः सप्रेक्तोऽप्यत्र गरीयान् । कठिनार्थविराट्कर्मकृतित
टि विदग्धवृत्तिः ।” विकसितसिताम्भोजमभ्यमुसधन्वोऽवहत् ।

“तथाय कलिरथ प्रथयकृतहः स एव मलं, तदपनयानय मथनम् । मुमुक्षुर्नै-
मिद्विरोधः । परं पदाभ्यां- सत्यप्राप्तये प्रस्थितस्य, इत्येव भाषमाणे चन्द्रे व्यापुक्ता
हस्तेन निषेधयन्तो, अस्मत्प्रमितिभ्याहारचपला चटुक्तिदमस्य रागुत्पत्तौ मनोरा
विमोक्षितचन्द्रोत्तरीयः प्रमदाजनय ।

*

*

*

वागन्तजिशीधवीचनमपेतने जगत्पति सञ्जीवनीन्दर्यं पूरयति ॥ । विराट्पतीनाम
परे राजनीरमनीरमय उदरोऽम्बजेन हामेन मुषं भाषयते स्म । शिवाग्रना कञ्चनपुण्य-
माशय जगज्जनार्त्तनामार्त्ता विदग्धति स्म । शुभ्रम्बोत्पला जगतीतले शक्तिगुण-
प्रसाधं कीदृशवतीम् । कचन कचन मारीनुपुत्रा निशीथिनीनीरवतां भजति स्म ।
इतीवरस्यामं विषदपुत्रादाहाराकलीमणिने राजनयाशरीने परिधमनेये रजयति स्म ।
पवित्ररजयनिरिहोपुक्ताशोपहृष्टासामं प्रवीर्यं गमि स्मलः शुभयगमीरो रागज्जगदीने
मन्दं मन्दं बहति स्म ।

विदिषाण्यद्विगमितीति चन्द्रमण्डपमय भवनेषु राजानति । सञ्जीवनीन्दर्यं पूरयति
दन्तीनां गुणैर्नां सीमा अन्वयमर्थःऽप्यतीम् ।

जगन्वशी सुमन्विजगुममयी केन्द्री देवी ध्येद्वर्त्मनी जगतां शुभादभयति
विभज्यतां ईशार्थेष्टोद्विती आश्रया ।

चन्द्रमण्डपविग्रहीः शिवाः समस्तः समस्तः । वागु गमने कहेव, न व इति
मन्त्रम्, न व च इति इति, न चोद्विग्रहेष्टो द्योतीम् ।

चन्द्रः सत्यं कालीदेव कालदेवोऽप्यतीम् । विद्विष्टोऽप्यतीम् । विद्विष्टोऽप्यतीम् ।
मन्त्रः कुर्यात् । अत्रवन्तो चन्द्रमण्डपस्य मन्त्रः एव सत्यं ।
चन्द्रेण वत् सत्यं कुर्यात् । अत्रवन्तो चन्द्रमण्डपस्य मन्त्रः एव सत्यं ।

विधिमिदुमैरुत्तु, चार्द्रमपुष्टमिभ्रमासकमास्ताय पत्यङ्गाद्वृत्तवोरचिरादेवाविर्भूत
नयनयोनिद्रा ।

वीताप्यदेद्रियामा प्रियामा । चन्द्रस्तरत्तररमणीये जयनीये मवाक्षमातसुरभिनमस्तद्वाड-
न्निद्रोऽस्वप् । प्रियतमा ॥ तस्य भर्तुर्हं विहाय उपर्यहं पर्यङ्किष्मैकामभ्यास ।
इतिनिद्रा, हाय निर्भरं चन्द्रप्रकाशे चन्द्रलनामृतं निरीय विलक्षणं तृप्तिमध्यगात् ।
महोत्का ॥ चन्द्ररयोरसि कपोलयोः सिरसि पाणिपटलं भ्रमयन्ती तमपि
गततन्त्रं पटार ।

“पद्म देव, कीरती मबोतमा यामिनी, विपत् सुफकिपुष इव वर्पति ।”

चन्द्र—“निस्तन्देहम् । परमेयत्वाः शोभा पत्या चन्द्रेणैव । अस्तु स्वपिदि, मधुरा
निद्रामनुभवामि । चिरं रात्री कीकतोः सौम्यत्वमापन्नयोनिर्देव स्वारथ्यग्रहा । भवपेदि
जगति परिस्थित्यनुसारं मनोरमममबोतमं वा भवति, शेष ।

“१ मय्य एव तद्वात्सल्यमधत्वा) प्रिय ! यामिनी सरोजिनी सौम्यभर्तुर्दृष्टपरिणमा
भर्तुर्भवति । सम्प्रति तु सा केनचिद् मवीत्येव नह—”

चन्द्र—अये ! केन किं मवीति मुग्धे !

“अहं त्वहाम न विपृष्टामि । अतः कृपया ‘केलिकाळे आकाश भवति ।”

चन्द्र—किन्तुहि चन्द्रः ।

“आम्, अम् आर्यपुत्र, त एव इत्य कृते महान् इवः सिरसाह्वः
सरोजिण्याः । किं वदसि अग्रये तु सा विलसता मयिनी सम्पदा ।”

चन्द्र—अरे ! एतदिहम् ! किं सर्वदेव विमूर्खसि वरपुत्रं प्रत्यसि !

“कथम्, दिग्दे सरोजिनी न जानामि, अहोस्तित्तपति न जानामि । कोऽपि
सविप्रमं भवति ।”

चन्द्र—(शोऽरेम्) अरे ! त्वं कामि ! किन्ते काम !

“पन्नाः (वहासन्) भवद्भिरप्यप्य भद्रा पीता, सन्ने शीकाः सर्वे निम्नानि ।
महर् ! पठतः पत्रेति शिमारन्ति पन्नाः । सलम्भवन्तो मन्त्रयनि निग्राहकः ।
अपु, सम्भाष्यते कामोन्मदे रसविभ्रंशः ।”

चन्द्र०—स्मृतिश्रंशः ? आः पापिनि ? वक्षितोऽस्मि, छलम् (प्रकाशं प्रज्वाल्य यत्नात्तन्मुखं वीक्ष्य) आः कुटिले ! ॥ कृतवल्ग्वि । नाहमस्मि तव पतिः ।

“स्वप्ने ? एत जाग्रति ?”

चन्द्र०—जाग्रदृश्यां प्रकृतौ स्थितोऽहं वक्षि यत्—यत् त्वं स्वपतिं मन्यसे सोऽहं पुरस्ते चन्द्रः ।

(सनयनोत्स्फारं मुखं दृष्ट्वा) “अहि नहि भवन्तो धौत्यं विस्वयन्ति । मुक्रे मुक्ते पश्यन्तु भवन्तः ।” (मुकुटमानयति स स्वमुखं वीक्ष्य विस्मितो भवति)

चन्द्र०—अथर्वं मद्रवं केनापि परिवर्तितम् (जलेन शाल्यस्ति रागः पतति) पश्य मे रूपं केनापि परिवर्तितं वक्ष्येन ।

“अरे ! (अध्मुखी) भवतां किमनेन नष्टम्, अहं नष्टरातिप्रत्वा गच्छामि ! राजकुमार ? मेवं भवदनुकम्पम् । स्वयं रूपं परिवर्त्य स्त्रीषामुज्ज्वलरतिप्रतविनशर्त्तं किं भवद्विधानां कर्म ? अहह ! भवादृशा एव धर्मस्यैतस्य पालकचरा नाशाय मविष्यति चेत्तदा हन्त ! वत ॥ कं नामाश्रमिष्यत्येषः । अन्याद्यम् ?”

चन्द्र०—कथं मां दूषयसि ? सर्वथाऽदूषणोऽस्मि । मां निरयपातिनं विधातुं त्वं सतीत्यस्य दण्डकां निनादयसि ।

“तर्हि कं दूषयामि ? (सखिलज्ञविस्मये) अहो ! भगिन्याः सरोजिन्या ॥ एवैव दशा भूता मविष्यति । सा मम पत्न्युरावाप्तं गता मविष्यति । अहह विरमृत्त्या, क्षिया, सङ्कोचेन, मूढदासीकथनेन द्वयोरेव प्युतो धर्मः ॥ !”

चन्द्र०—किं किं मदीया प्रिया परत्वाह्ने । (खड्गं निष्कोशं कुर्वन्) कोऽस्ति ।

“युवराज ! किम्भवन्त एव क्षत्रियाः । भीमन्त एव शूरावराः । मत्पतिर्नास्ति क्षत्रियः । तस्य सनाथवि प्रेम्णा राजन्यरक्तं राजते । वीरर-
वरणीमवीर्यः स की- जानीते किमाचरिष्यति दृष्टः । अवज्ञायम् ? यस्य प्रिया भवन्तो रदसि छलेन प्रियाप्रेमपरायणो युवराजः कुकर्मे कृत्वापि न जिह्वेति.....” इत्यनर्गलं प्रवदन्त्यामेव तस्यां समाजगाम विरसितवदनसदो-
सरोजिनी । हसन्त्या सरोजिन्या धोतवदना चन्द्रेण साधर्व्यं वीक्षिता च तरामुख
एव कमला समवर्तत । महद्भूदास्यं सात्यम् ।

युवशानिधनधनधनवदन्त्या कमलया सततविद्यसितनयनसरोज्या सरोजिन्या च
रममाणः पद्ममुकुटोसोऽयमात्रप्रबलप्रबलसिद्धिदिविषयमानरथो विद्यते रक्षित-
प्रसादोऽविवादः सानन्दं राज्यमीशमात्रः नीतिनाशितभीतिः रीतिरञ्जितानीति
प्रज्ञः प्रज्ञेशपरमप्रणवे बहन्, मानयन्नाधिकारिण आश्चर्यभवनानीतिविपुलधनराशि-
बैवान् बहान् विप्राध मानयन् प्रसन्नप्रथो विमलपुर एव स्थितिमच्छतत् ।

गुमान् गुरो सर्वं विमरति । प्रवरं कष्टं विरथ स्वदीर्घं जीवनं सन्देहसिन्धौ
निपाल्य जगन्निधीं प्रियां मातरं, कृष्णतमनुमूय धमादिकमर्ममित्रात्मजमेव सर्वस्य मत्वा
पालयन्ति पितरं, दौशपणहचराणि मिथ्याणि, कलत्रपुत्रप्रातनपि विमरति ।

हन्त ! महामहो लक्ष्मीविषम् । क्षुद्रालान् कपैव कां कां प्राप्य सौशवे द्वयज्जवीनमुद्,
अतोऽदेवदानवरक्षौमनुयसिद्धताप्यद्विष्टामुनिमुमुक्षुवफपिषाकपिदेवपिषाकजाविगड् दस्ता-
त्विड् वैद्यभद्रिद्वि क्षीरनिधौ निशमेव जूषतेऽभारतम् । अह ! सत्यं । “हस्ताः हस्तो
मेव विदं ॥ १५८ ॥” । शर्मिष्ठां कृत्वा सततसेव्यं परमात्मानमपि विमरन्ति स्मरणीय
चरिता विरहितः । का कफ संसारतामाहरेन्द्रियाश्चर्वा क्षुद्रालम् । यद्यपि
याप्येवं सर्वस्य भूभुक्षो जनस्य, पाल्यु कां प्राप्यापि न सुतेन युज्यन्ति, अपि तु
महता बुधव्रजेन । सर्वत्रेय्या, सर्वथा, कोधेन, जिहृषया शिष्यता, पुत्रता, भग्नता
कृतमुदमसौ समते ।

योऽसौ नेत्रनिरीक्षितप्रकृतिको सज्जापटुर्षाटिका—

घातयारामनडागाकृषसरिता हरयरय मर्ममदः ।

तेने तेन यथोनयेन कविना भीशास्त्रिणा द्विरिष्टया

समिभन्त्रमहीपतो मुमनयः ! पटो गरिष्ठो गतः ॥

इति—

भीरुन्दतेन्द्रप्रदमस्तुर्धतभीलभीवरप्रारानकात्प्रितवदेव

वैदन्तमनेन कव्यालङ्कारेण भीतिवस्तुपरिचया

इते चन्द्रमहीपतो गतो विद्वत् ।

सप्तमो निःश्वासः

अघटितघटितं घटयति घटितं घटितं च दुर्घटीकुरुते ।

विधिरेव तानि घटयति तानि पुमान्नेव चिन्तयति ॥

पुस्तकेषु यः कमलिनोकमलोदरेषु

चूतेषु यो विलसितः कलिकान्तरस्थः ।

पश्यत्य तस्य मधुपस्य शरद्व्यपाये

कृच्छ्रेण येणुचिह्नरे दिवसाः प्रयान्ति ॥

मुधासारावलि इव चक्षुश्चन्द्रिके विपति यतिमानसविमले परिमलौघाणि शुभ्र-
कराम्बुदसामोदे दीपिकाणःकणे, दिवशीते बलतिरोक्तालते, अगुरुपत्र-
चन्दनयूगधूमे एषिष्ठान्नरन्ध्रं सन्तारयति नैशिके मातरिधनि, मयेनेव निमित्ते ईमवन्-
कौशेयान्तरमारुते महति मन्त्रे उपवर्हमाभिलोपविष्टं चन्द्रं परितः समार्त्तनेषु हन्ये,
प्रक्षरोन दिनमनुज्जाणायां विभावयां गानं साधयत्यु गायकेषु हर्षगुह्यमति इव
निरुद्धे वेशहस्तः प्रहरी प्रविश “अयमु अयमु देवः”—इति निध्याइत्य ‘हवन शान्ति-
परोलतनुः तनुमानिहोत्पहोऽविवादी छादी भक्तगभामप्यमय समेतुमिच्छति, ‘देव
प्रमन्नम्—’ इति निवेद्य, ‘अम् प्रवेशय’ इति श्रुत्वा गतः ।

चन्द्रश्च दान एव प्रहरिनिर्दिश्यमानमर्थं परितो वीक्षमाणं हृथ्यन्तमागच्छुं ईष्य
परिकल्पितमिव गति विरानुभूतमिव कृति बहुश अवलोकितव्यं वादविधेयं सङ्घर्षं गगनमीरेष
पत्तन् समीपमावलय्य परिवर्त्य भगवन्नि मेरीर्मटिपुत्रव्य ‘आः किं मयद् भक्ति
छादिभारः’ इति कथयन् समकेरीत्तामधिगम्य सङ्घर्षग्रहं समन्विष्टव्यं साधुत्वं हृत्पुत्र
मय एव समुत्प्रेषयन् अर्चयन् ।

“अन्त्यमतेऽन्त्यं ईदृशमन्त्रः वीक्षय एव सहकरी मन्त्रिभूमातः छादिभारः”

(सरे) “विमलौघां धीमन् मन्त्रिभूमातः छादिभारः”

एते इतः सन्त्य—

“द्विर्हर्षः । अथ कुमारस्य पुत्रजनननः पठं दिन्म् । परमपित्रं कुमारस्य श्रीशक्तिचरम समेतः, अथ निरवनिर्हर्षः । देवं प्रार्थये आतस्य शिशोर्हर्षवर्द्धन इति नामकरणाथ”

सर्वं सभ्या एकस्वरेण :— “अथ किम्”

चन्द्रः—अपि कुशलम् ? कुशलिनसातपादाः ? मद्भिषोग्दुःखिता अम्हा वासराणि सामन्द् व्यतिपापयति कश्चित् ? पितुः परमप्रदास्पर्द मन्त्री कुशली ? भवती कुशलवृत्तं वेदितुं व्यग्रोऽस्मि ।

शक्तिः—सृष्टं दुःखितोऽस्मि, किमिव कथयामि ।

चन्द्रः—(सभ्यान् प्रति) अद्यतनो महोत्सवो द्विगुणतरोत्साहेनानुग्राह्य आर्यैः । अहमपि समये हनेभ्यामि । ‘प्रिममन्दिरे ‘प्रबल ! शोभं प्रबन्धमायोजय’—

*

*

*

चन्द्रः—शक्तौ, मम कुशलानि परेतुमातुमद्ययानि ।

शक्तिः—अथे, तप्त शङ्कोपकृत्यै, तपसे, सिद्धये, विद्यायै धनयै वा, किन्तु प्रियायै ।

(हस्तं हस्तेनाथोज्य हसति, चन्द्रः स्वनामाङ्कमङ्गुलीकं शीघ्रं श्वेतमुखो भवति)
मौनम्, अस्या एव कृते वनाद्गन्तं आन्तोऽस्ति, कारासेवीकृतोऽस्ति तादितोऽस्ति बद्धोऽस्ति, शातम् एवं सम्यन्ते मनःप्रियाः प्रियाः ।

चन्द्रः—सृष्टं मा खैत्सीः क्षितचरम् ।

शक्तिः—खैः ! अटवीतोऽटवी भवनाद् भवनमटतो महान्तं कालं यापयतः, भीरु-
भामिनीभिरभिषोर्वा मोडां कुर्वतः भयानकलज्जप-‘वानक’शयानकां, ‘अपत्तलामनीक्षित-
‘मवन्तु’, ‘वर्षरीक’शार्शरीकान्य-‘बन्धुसमन्धुगर्वां वनमनिमवना-‘अञ्जूर्दमायस्य रहः
‘साधन्तमापणं न विदपतो न वे खैरुलोऽपि, सम्पति स वास्तमिरेव ? न जिह्वे पि ?

चन्द्रः—मर्येय मित्र मर्येय ।

शक्तिः—स किं हस्यो भवति यः पातारं पित्रमग्रनस्यसदां यातरं, विवचयोजनाबद्ध

चिताः प्रधाः सहयोगिनो मित्राणि चासूचयित्वा दोनो हीन इव धार्ता जीवनरहस्य
यामिनीनां कामिनीनां शृङ्खलमोऽहोयवान्धवाज्ञातधरणेषु चुम्बन् त्यक्तभिमानः कति
भवति लक्ष्मीभवति च किनमुद्धितलानाम् । इन्त इता मनसिता ।

चन्द्रः—अस्त्यागः तथापि क्षम्योऽहम् । प्रथममेतन्ने किमेवं मण्डरे ।

शक्तिः—अहन्तु सखे, मिलितवान् परं त्वं न । प्रिथपरमप्रेमयानौशमाधरयोषी
शिखासामग्र आसीः ।

चन्द्रः—मा स्म प्रपापाराधरे पातय

शक्तिः—प्रपा बराफी स्मृतिपयमामाताह, माम्भम् । सा तु त्वा स्मृत्वा प्रपते ।

चन्द्रः—अलं, विरमास्माद् ...

शक्तिः—तर्हि पश्यन्म् । (अङ्ग लीयकं दर्शयति ।)

चन्द्रः—पूर्वमेव प्रैक्षि । इदं शक्तिनाथाय विवाहायती दत्तवानस्मि ।

शक्तिः—स शक्तिनाथ एव शक्तिधरः ।

चन्द्रः—आ एवं किल तत् । विचित्रं क्वं परिवर्तितवानसि, मायाविन् ।

शक्तिः—मायात्र का, एषा तु कला ।

*

*

*

“चपले, इयदिनपर्यन्तं कः स्थिता ? केवलं दिवसद्वयार्थं यता सप्ताहमेवागमयः ।”

“महाराज्ञी कमला देवी सरोजिनी च विजयताम् । अहं देव्याशया पितृशर्षं द्यू-

मत्तरथ सम्भाव्य आयन्ती पित्रानुशासिता यद्विभक्तपुरमस्माकं प्राचीना पू । मत्पिता
महोऽत्र कदाचन प्रधानाभात्य आसीत्, परं भिन्नुनेन अभितमतिदेवत्वं निरवसन् ।
सत्प्रभृति मन्दनपुरेधरस्य छत्रच्छायायामावासः । तत्रैव व्यतिकरेऽस्माकं तर्का सम्य
राजाऽऽत्मसात्कृता केवलं नगरान्ते एका वाटिकावशिष्टा मत्स्यां मम मालामहरंशो
न्यवसत् । अद्यापि तत्र मम शूद्रा मातामही निवसति । त्वा माया च प्रेरितार्हं तां
दृष्टुमामाऽगमम् । वाटिकेयं विशाला किन्तु भवनं दुर्गन्तम् । वाटिकाभित्तमाला
पतिता च गृहमपि तादृगवगम्यम् । परितोऽन्यत्रकूटं, पश्चिमिच्छा । अहं धमेण परितः
जलानवनयमयो वृक्षमवहन् कूर्मं गच्छा जलमाहूय पटं शिरस्योत्तमं प्रत्यागते
तावदेशगत एते मामभित्तिता वीक्ष्योद्दिष्टो मद्विस्मृतयतिः प्रपुराववननीनो

गोवत्सः । अहं 'आयर्ध्वं श्रज्जप्यम्' इति वदन्ती सन्ध्यापादा मृत्युं प्रतीक्षमाणाऽऽसं परमेको युवा दैवप्रेरितोऽध्याद् भजन्नातं वचः श्रुत्वा "मा भैषीः, अयमहमागत एव" इतिकथयन् अथादुर्तीयं वायुगत्या प्रजन् कोषोद्धेग्वमद्वायुपूर्णघोर्णं वत्समनुधावन्तुषेत्य मम वरस्य च मध्यमुपतस्थौ । कृद्धो गर्वितश्च वत्सस्तं बीषादहन्तुमनाः प्रचक्षितः । युवकस्य शृङ्गकावादाय पथाभङ्गः । पुनः स पशुकृत्याय यूयः शिरसि तयाऽऽज-
घानं यया रक्तधाराः प्रादुर्भूताः । परं युवक उद्याय एकेन हस्तेन तस्य नासां परेण च जिह्वामाचकुर्ये । एतावता च ममाकन्दनं भूत्वा पुरुषाः समेत्य वत्सं रज्जुमिवैवग्धुः । युवा ॥ मूर्च्छितो भुवं पश्यति । तममुं चतुर्दिनं यावत् संसेष्य प्रसादस्रमुर्णं ज्ञात्वाऽऽमन्य धीमतीं सृश्विन् मागतास्मि दशतृणमासादयितुं मह्यमपि अवसरो देयः ।"

"यूनीऽधः किमर्णं आसीत्"

"मेषकः, वराको मूकः पशुः स्वानिवमोद्गवस्य प्रेष प्रच्छिन्नानरुणुः खो वेगेन पानितः"

"को वासः कथं समय आसीत्"

"रवी प्रातः सप्तवादनसमयः"

"निश्चितं कथं वा शक्तिपरमेवानुसरति । स एव प्रातर्भ्रमणाय गतो न निवृत्तः स्वदैव मेवकोऽद्वो मन्दुरायामष्टवादनसमये रिक्तपृष्ठो निवृत्तः"

"कोऽयं शक्तिधरः"

"देवस्य परममित्रं भग्निशुमारोऽस्माकं विरपतिचितः कुमारान्वेषणाय कृतविरक्त-
वेशः शक्तिनाथः"

"आः शक्तिनाथ एव शक्तिधरः । हे ईश्वर, सत्यं सत्यस्वरूपसत्त्वम्"

"देवो नित्यामशान्तस्वरया सूचय वृत्तम्"

"आम् यामि"

*

*

*

"देवस्य परममित्रं शक्तिधरो मां रक्षन् गोवत्सेनाहतो मद्दृष्टमध्यास्ते निश्चिन्तो भवतु, देवः," पश्यतोऽयम्

‘शक्तिं स्त्वद्गृहमास्ते ? त्वसितमेव प्रधानराजकीयनिकृत्सकेन सह गत्वाऽऽनय’

*

*

*

“कथय कीदृशी स्थितिः, अकस्मात्तव लोपोऽद्यस्य प्रत्यावर्तनकारमानसोदरस्य दधिणो देवोऽद्य यस्यां कुशलिनं पश्यामि । मन्ये शीघ्रमेव स्वस्थो भविष्यति, तस्तेवत्यै कृताभिलाषा चरला चात्रैव स्थास्यति, अहम् त्वां समये दद्यामि ।” चन्द्रोऽनोच

*

*

*

‘शक्ते ! कीदृशी स्थितिः’

‘स्वस्थोऽस्मि अद्यैव स्नात्वा शिवं पूजितवानस्मि’

‘कथयामि कार्याय को विशेषतः पुरस्कार्यः’

“एषाऽनिन्द्यसुम्हरी दिव्यदेहा चपला । एषा नफन्दिनं त्यक्ताहारविहारनिग्राऽनकमामेवापश्यत् । मूर्च्छिते भयि भिषग्ब्रमपृच्छत् ‘भिषग्ब्रह्म, अयं जीवनं धारयिष्यति किम् ? जीवने कृतैः पुण्यकर्मभिर्भगवन्तमेतस्य जीवनाय प्रार्थये’ । अहमेतां शो कालाजाने, किन्त्वस्मिन्नवसरे एतस्या विलक्षणरमणीयं मनोऽवलोकितवानस्मि”

‘कथय चपले, किं देयमस्मै उपकाराय’

‘देवो मनोऽभिलषितं दास्यति ?’

“कथमत्र सन्देहः”

‘विदधस्वोऽप्यात्मा केवलं वाचा सन्देशि’

‘निश्चितं वाञ्छितं ते दास्यामि’

“यथाज्ञापयति देवः” इति कथयन्ती शक्तिधरस्यातरीयग्रान्तं गृहीत्वा क्षिरानुतज्जलं लज्जामनतमुत्पी अतिष्ठत् ।

‘योम्यः प्रशस्तस्तेऽभिलाषः, नितरां प्रसीदन् युगलस्य सौख्याय प्रनमस्कं ददामि’

‘देव, अगरोऽप्येक उपहारो देवो नाम, देवः प्रसीदतु’

‘कथय कोऽसी’

‘देव, सर्वोऽपि परिजनः कुशलं कलयति, केवलं कुनुदिवी प्ररतवद्भोगा देवः प्रतीक्षमाणा वसन्त—देवोऽनुमोदयतु’

‘अथमय तव जिह्वा समुदिता’
‘देवस्य स्नेहो मां मुत्तरयति’
‘अस्तु’

*

*

*

कथं रे हर्षे कथं रोदिषि, आश्चर्यम् ? ‘कुमारपाल कथं कुमारस्यैतादृशी भवत्था’ ।

‘अपराधं मयैतु देवी, अयं सायंकाले कुमारः सख्योभिः स्वमातामहामात्य-
कुलानैरुचुकुलप्रभैः स्वसमावबिभर्तैः कुमारैः पूर्वपवनपेरिते सुदूर्गकोमले उपवने
म्रीडन् कमपि अधिवयसं वैश्यशिष्टमृगनायाकारिणं दृष्ट्वा चपेटाभिरताडत् । चपेटापात-
संकुचितान्नैव वैश्यकालेनाभाणि—‘मृधैव वपितोऽसि, दुःशील, नंकटिक इव मातामहगोहे
कौलेयकवदमरिच, न ज्ञायते कस्य कुलस्य देशस्य ग्रामस्याधीशो दासो वा पिता,
न च पैत्री पैतामहिनी सम्पत्, न वा । अत्र दयालुया राजाऽस्मत्सम्पत्ता पविष्यते
परिहारः पिता, तदधुना मातामहमहिम्नोऽनुभव सुयोगम्, ताडयन्निवराधिनः
शिशुः, दुधरितैश्चिरं वर । इतो निराशितैर्ज्ञास्यते किं कुमारेः कार्यम्, को जानीते
जाटवीष्वादिण्डमानो बुभुक्षितो मर्ता ।’ इत्युपनिर्गन् वज्रकल्पैः मर्मच्छेदनैः
लोहसारनिमित्तैः पशुपतिरश्त्रनिक्षिप्तैरिभकुम्भविषाडनगदुभिः विह्वलैस्त्रिभुवनदुःकटु-
बभौर्भिस्त्रिदशक्रिदमाणोररुहः सुहृद्व्योऽनलोपमो दशधस्तुताम्यो निदराब्धं हृदं
सुखमुवायितो मया चिरं सान्त्वयमानोऽप्यतान्तः श्रीमतीमुपेतः—

सातयन्त्या कथं वयमपि सान्त्वयन्वयोभिः शोकं हृषयितुं कथयन्त्यां तन्मातरि
स परपठ ‘आत्माकं देशः, किं कुलं पितुः, अत्र वयं कथं निवसामः, यदि कथयितुं
शक्नोति विशदय नो चेत् पितरमापृच्छे ।’

“अयं विलक्षणोपमं तव वचः श्रुत्वा प्रसीदामितमाम्, शृणु, आत्माकं राजधानी
प्रतिभाते भाते द्वातनामवेधं, ध्येयं सद्गुणगौरवार्तिगुम्भिः, राजनगरं नाम शत्रुतेना-
निगलनाशगरमिव नगरम् । तव पिता विशदयते राज्ञो नवेन्दुशालरय प्रियः पुत्रः ।
एकदा गुणाश्रान्यायेनेतः समायातेन संरक्षारवशान्मम चातो विशदः । सानन्दमत्र
निवतामः । स्वप्नावपि बोद्धेजिनः परमय तव रोदनमाकर्ण्य ममपि हात्रियेचिता विधरः
प्रवरन्ति ।”

“मातरौ नाहमत्र तिष्ठामि सामि क्षणम् । लज्जारूपमेतत् स्रष्टव्यं कृते” ।

*

*

*

प्रयाणसज्जः प्रारब्धः । शक्तिवरप्रबलसिंहयोः शासकत्वे कमलसरोविन्दो
चरलाकुम्भिन्योर्हर्षस्य च दासीदासगण्येन कोशेन ॥ समं सेनासुरशिवनां समं
सुनिश्चितमासीत् । अलविहारप्रेमिणधन्द्रस्य च अलमार्गः । किन्तु कमलहर्षस्य
जलनिहरणोत्सुको वीरस्य सह गमनमनुमोदितवान् ।

“पुत्रि, त्रिनयनाम्बरारागविमर्दिभिः धिक्कृतैराकृतकलैः स्वरूपसन्त्रासितशिर्यः
गजैः परिवेष्टितां फेनसितस्रज्जीनैः निमृतोर्ध्वङ्गैर्विपुलवर्णैस्तुरगैः परिभृतां दातार्य-
म्बरभास्वरवसनवर्णाभिर्दासीभिः सेवितां पद्मपटहप्रह्वनविगतविपादां वन्तीं भवन्तीं
प्रेक्षमाणो भूषां सुखमनुभवामि” — साधुनेत्रेण गदूदवाचा रामपालेनोक्तं “परमेष्ठिनं
सदैवेदृशसौभाग्यशालिनीं रक्षेत् । परं मोहमदिरामोहितो वियोगं वीर्य भूषमुत्तिमोऽपि ।
दुहितः । हिताधायको वृद्धः पिता न कदापि विरमत्तव्यः । अश्रुरगृहे सदैव पुत्रजन-
कारिणी पितृकुलमुन्नतमापादये । अनाज्ञासम्पादिन्यो हि दुहितरा किदास्मभ-
मयन्ति, विरायुषं हर्षं प्रेम्णा परिपालये”

जलाविलोचना कमलापि “पितः । सत्वरमेवाप्यास्यामि भवत्पादरम्भेभक्त्य” —
इत्यामन्व्य प्रणनाम सरोजिनी तत्सह्यो हर्षय ।

अतीतजीवनस्मृती भविष्यज्जीवनयापने च कल्पितानश्वररूपनध्वरो जलधारातमो
मितमात्मनीलमुल्लोलं प्रणपुत्रम् विशत् । स्वया विहरणतरणिर्ध्वनिना गमनं सूक्ष्म
शब्दादममाना स्तरलन्तीवाचलत् । अन्तर्गती कमला इयन्तं महान्तमनालोक्षण
जलतिरिक्त्वस्तु वीरभीषकं प्रेक्ष्य दृश्यमुद्रिमचेता मज्जमानेन लज्जमानेन सौ
अलन्तुडविलोचनाऽवोचत् :—

आर्यपुत्र, आर्यः शत्रुर्भवन्ति, शिविलः कुशिलः सशस्त्रं अस्त्रं समन्तात्
पोढा मलमूत्रत्यगेष्टा च अशस्त्रं प्रसन्नं सूचयन्ति, प्राणनाथ प्राणा निर्विपरि-
ताः दुःखम् । आः कष्टम् । अवश्यतां यानम् ।

“किमुप्यने, कथं मयि हरे सरित्पती यानमवरोद्धं स्रक्वते, धर्मं धैर्यमापन्नं इदम्
सुदूरं निश्च्युतदृष्टादि, स्वल्पेनैव समदेनार्थं पारं प्राप्स्यामः, भगवान् शिवः शिवं विधास्यति”

“शाः प्रिय,”—इत्युक्त्वा मुमुक्षुं कमला ।

*

*

*

“आर्यपुत्र, वयं वृत्र स्मः” ।

“प्रिये, आर्यवत्सलो भगवान् स्वत एव सर्वं साधयति । एतः प्राप्ताहः केनापि शिकेनाथ प्रयातर्गतम्योषरि किमपिः सुखदक्षामप्रीपूर्णो प्राजते स्वर्गस्य छन्दमिव । श्वेतपट्टिनिमित्तं विद्यालं भवनं सरदप्रायते । स्वर्गदृष्टा मुमुक्षु इहमिथुनाद्वलभासि उज्ज्वलं बुद्धिं निर्मैरमुद्रिचा आश्रयः कलाविदः कलावत्तां क्ष्याम्यन्ति”

“प्रबलं कलमनुभवामि, इन्त, रैवं किं विधित्यति”—इति वयदन्ती मुमुक्षुं कमला ।

चन्द्रो यथा जलमन्वेष्टुं प्रावततास्य दृष्टिः शिलातेयेडमच्छत् “विदग्धाय कलयन्त्रिणे सुखं प्रदातुं सदा नवीनेन वर्षप्रियेय राज्ञा राजदेवेन आनन्दप्रवर्तमिहं धमेण विद्वया च निर्मासितं, पार्श्वे प्रागपुत्रः स्तिमितः क्षमागारे जलमरि निर्मेलम्

इत्येव पठित्वा पार्श्वभानागतः स्वच्छजलमादूर्ध्वं प्रत्यवर्त्तमानेन समन्धि जातशिखी रोदनम् । सम्भ्रान्तेनागत्य दृष्टं यत्—विद्योतितान्तमेव न भवतलनादो शानपरनपनपुष्पो नवशिखी रोदिति । कमला च प्रववरीदम्बूच्छिता, हर्षेण मुखे रत्नपुष्पं न भक्तिः स्थितोऽस्ति । विषुहरट्टट्टगुटचन्द्रोऽपि चिरं चिन्तयामास—

विक्षणं घटनं विपातुः । ह. मितावातेनैवेन्दोः पीत्ररजम् । अत्र वृत्तः प्रपदनं भवम् । कुलच प्रपुतापरिचर्यामि वैराग्यं धाम्नी हरमथ । इन्त, विक्षणो विक्षण भावं भगवम् किं विद्योदति ।

वर्षापुत्रिचर्चनेन जातदौतरीदेव हीउलेन मयतिद्वया कदहपमरि प्ररोप्य शिपु हीउभिन्निराधस्य मनोच्छेदनदिक्माचर्यं मृगरोममुदुते वंदे चामदिवा सदेव वगार वदः—

प्रिये, वररवः सार्वभौमस्य दुर्गेनविहार्यमः छत्रिदम् । अतस्त्वदा न मेष्टमम् । अत्र वचनं समं धी भोज्यं कणत्तरस्य । न वापुग प्रदचमई ते वदुः अनुमृगमवन-भारं वतिायदेव । अतोऽहं भवई भवमपेगुमावजनपरं दामि, अन्तर्य कौदमेर भवं मरम् । वृन्दव वपनं निवृत्त । हर्षोऽर्चनं सर्वं एव ईदते

आशितज्ञानमरणमतः समादात् पूर्वमेव प्रत्यावर्तनं निश्चितम् । शीघ्रतया चतुर्
नाविकान् सहैव नेध्यामि ।

वराक्री कमला किं प्रवीतु, अग्राधे पयोधशौ प्रियेण सह विद्योगः बालद्वयप्रहारे
भोज्याभावः—सर्वं युगपद् विचार्य गन्तुमनुमेने ।

हर्षस्योत्कण्ठिते नेत्रे स्रवदध् कमलामुखं सप्रेम प्रेक्षमाणः “नवशिशुः पयं वेक्षणीयः”
इति कमलां प्रेर्य यानमारोढुकामः प्रचलन् नाविकानवोचत्—

“यथाशीघ्रं चलत ।”

‘देव, विहरणतरणिरवतरणसमये दुरवस्थाऽभूत् व्यग्रैरसमाभिरुद्धा नाप्ययि । शत्रुना
सूक्ष्मेक्षिकयाऽवेक्षणेन तस्य स्थितिर्न शोमना प्रतीयते ।’ नाविकाः प्रत्यवोचन् ।

‘भगवान् शं विधास्यति सम्भववेगेन चलितव्यम्’ छपछपाशब्देन नौधर्क्या ।
मन्त्रस्यास्वाभाविकः शब्दः, मध्ये मध्येऽवरोधश्च सर्वेषां भवसु भयमुत्पादयत् । परतः
काराः कल्लोला अभित उत्पाद्य नावमुपायन्, परं नाविकश्चातुर्दशेण पन्थानं निर्गम्य
सत्वरसत्वरं निर्गन्तुमचेष्टन्त । किन्तु विधेरिच्छा विचित्राऽऽसीत् । जीर्णमर्णमग्रा
कल्लोलाघातविहता निहरणतरणिः समुद्रपर्वतेनाहत्य शतधा भिन्ना ।

दुर्गम्यकाव्ययिज्ञानदुःखितानां कृते कृते ।

यातः सप्तमनिःश्वासः श्रीनिवासस्य शास्त्रिणः ॥

इति श्रीभूदेवमौलिमणिद्यानयमानचरणस्य विपश्चित्तलत्रस्य
श्रीनवरत्नरायशास्त्रिणस्तनूजेन श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते रसिकमनः कैरववन्दे
चन्द्रमहोपतौ सप्तमो निःश्वासः ।

अष्टमो निःश्वासः

आरामापिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
 वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चण्डातपो दुस्तहः ।
 एवं धन्यनि धम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
 त्वं सिम्ब्रमृतेन तोयद् ! कुतोऽप्यपिच्छुनो वेधसा ॥

पण्डितराजप्रणमः

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटोमिमामुरीकतुम् ।
 पत्तिपतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोपि परिमलैः पुष्टिम् ॥

पण्डितराजः

रोलम्बैर्न विलम्बितं विषदितं धूमाबुलैर्व्याबुलै-
 मायूरैर्मलिनं पुरेष रभसात्कीरैरपीरैरगतम् ॥
 एतेनापि मुपहृतेन तरुणा दावानलोपप्लवः
 सोढः को न विपद्यु मुञ्चति जनो मूढांषि यो लालितः ॥

गुमास्तिम्

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
 खिनुवननुपकारभोगिभिः प्रीणयन्तः ।
 परगुणपरमाजूनं पर्वतोद्भूतं नित्यं
 निजहृदि विहसन्तः सन्ति सन्तः क्षिपन्तः ॥

भर्तृहरी

मुन्दरयुनोन्म्वसति दूषयितुं धाति शूद्रो बिदमुद् ।
 इति पयिबेजापि अया मुददं हृत्तोत्यते स्त्रुद् ॥

जहोहि गुरु गर्जितं विजहि शुण्ड्या शीतृत्नं
परिभ्रम शनैर्वनं किमु गजेन्द्र ! गवांयसे ।
तथा न किल केसरी गिरिदरीषु निद्रां त्यजन्
विमूर्च्छयति जृम्भया सुभग ! तावकीर्णं मनः ॥

शुभाशितम्

शीतम् ।

प्रतः । शिष्यात्मनोरमशठाप्रवर्गः ॥ धनिजनमुखाङ्गी, वरुणराजः
कोशोदारमाण्डागारिकः, समुद्रपद्मसन्निभद्वन्द्वनीवः । यामात्मनः
मागधायं मार्गशीर्षः । अहः प्रथमो यामः । अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, १६
दुष्टापत् प्रधुष्टवत्तदांतीर्णाङ्गवनिषद्भक्षयानूनामपि तनुमतां तनु, दार्ढ्यवत्
प्रवेद्यविपुलैः स्वप्नरादैर्वाति विपुलिताद्यौतो विषद्वज्रतश्चक्षुः, तस्मत्तापतां हौ
भुवन्तं वदयन्, हाहाहास्त्रिजगत्, पातिताय, विजयप्रमजो हैमन्तिभो मदः ।

वरादा भवन्तः अमुका चेतश्चरविचिताः, मरुविर्गोर्गरीषाः, द्विर्गरीषाः
गिरीगिरिगणः, अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, १६
अन्तर्द्विर्गरीषाः, निर्गतायस्त्रिजगत्, अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, १६
निमग्नः अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, १६
हौ अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, अस्मिन्नेह हि हस्तमनेहौ, १६

पुनरायातम्यम् । देवराजानां सन्ध्यार्चायां दिव्योऽयमाहोर्ध्वं कृपणानां चैव
राज्यभग्नगतस्वराणां पाशुप्रनिमित्तानां स्वाद्यानां दर्शनस्य । गच्छ गच्छ, इति ।

परं स्वरितप्रज्ञो विद् कञ्जिगुटिच्छतो रूप्यकमेकं निःसार्य तस्य हस्ते इतरं
प्रापयत् । रूप्यके महती क्षणविराजे, एतत् कुटिलमपि सरलयति पुनर्यत्
राजजनयति ।

अहह ! विलक्षणमिदं रूप्यकम्, जगत्त्रयेऽप्यर्पयत्यः प्रहारः । यस्य हस्तं
लोहमज्ज्वामेतदलङ्घरोति कशंवदस्तस्य संसारः । एतत् पतिप्रताः पातयति, पूज्यं
प्राणीकरोति, भक्तान् विषयासक्तान् विदधति, विदुषो दूषयति, नीचान्
करोति ।

हा ! हन्त ॥ वत्सलरूप्यक ॥ स्वागः, उपकारः, मन्त्रचर्म, सत्यम्, इति
सर्वाण्येव कथामात्रावशिष्टानि जगति स्वयमेव सीनानि । वत ! विप्रानां विद्वन्मित्र
स्त्यागो हन्त दुर्वर्ण ! त्वमि त्वया वा को जानीते क विलीनः ! यस्य शत्रो
स्वर्चाप्यधुना साधर्म्यमीक्ष्यते ।

अहह ! पुरा ये विप्रा विद्वदानलोभेन निष्ठीबन्मपि न चक्रुः, त एवय रूप्यक
भवति धवलधवले वत्सुलवर्तले निचित्रचित्रे विलक्षणाशरे कङ्कारति मन्त्रने
काकिण्याः भग्नकर्पदस्य लभलोभेन निष्ठीबन्मपि परितोषयेयुः । हा ! कीदृश
चैलक्ष्ण्यं कलेः । या नार्घ्याः पूर्वं जगतो मूढ्येनापि स्वमतस्य स्वधिकं मूढ्यं निश्चि
स्ता एवाय हन्त ! परयुद्धमदन्त्य एतस्य बिन्दुवत्सुलस्य लोभेन किमिव ॥ कुर्वन्तीति ॥

अस्तु, रूप्यकोष्मणोष्णोद्धतो गौपुरिकः प्रासादेन्मुखो भूत्वा एतच्छेदक
कचित्पुरुषं सम्बोध्य “अयं महाराजान् दिदृशते”—इत्यमूत । स च “अं ॥
पृष्ट्वाऽऽपामि” इत्युक्त्वाऽन्तर्गतः क्षणेन प्रतिनिहत्य “आम्, एहि” इत्याह ।

ततः समीक्षितवयो^१ बहुमूल्यरत्नादिकं विनाऽप्राप्तान्यसम्भारः शान्ते
“मल्लादत्यवात्पात्रार्थं निश्चितसितमल्लशतविघटितेन, स्थूलतरायसपत्रपुटेन, लोहज
तल्लमपितलवत्तु^२ शोन्नतपत्रिकाप्रयितवाद्यं सौन्दर्येण, चनाचोषधिरितजनया मह
उर्गलयात्पृष्टेन क्वाटयुग्मेन समुद्रासितं द्वारं प्रविश्य राजविभूतीः पश्यन्नाम ।

१ तलाशी लिखा हुआ । २ मन्त्रैर्दक्षिणमशक्यम् ।

द्वारमिदं मारुतदपन्निवदकुट्टिमं बहुभिर्भवैर्निभासमानं विकासते । अजिरे च रमणीया पुष्पाटिका, तदुत्तरतोऽवलोचयते राजभवनम् । पुष्पाटिका ॥ विशाला, परं तिर्यगिष्टकारचितवीथिभिः, पश्चिमिथुनाद्रुतमारुतस्त्वल्गलमनिटफारिमलैः, विवित्रैर्द्वैर्भैः, द्विकद्विरेकमयूरसन्नादितैश्च माधवनीं वनावनोमत्यचेत ।

पुष्पाटिकाया वत्सरतो द्वितीयं द्वारं विपुलस्रोहं विशालं शालोन्नतम् । अत्र कचन ह्येषाश्च निमहिजना काचिनः, कचन निमीलितेश्या मत्ता भ्रमन्मधुसिंहः करिणः, कचन चक्रीरक्रीरगिरा विचर्णितेश्याः हरिणः शोभन्ते ।

तृतीयद्वारकपाटदुर्गलं स्वर्णपर्णे मणितणेन रचितैस्तपुष्पस्तवैः स्थावप्यप्यनैपुण्यमादधत् सिन्धिनः प्रमाणपत्रमिवावभासते । उभयतः सुविटपातां परिमलभाजापुष्पाणां परिमलमतिनिर्द्धारिणं प्राणस्तर्पणं समेष्वो विभजन् भगवान्प्रभमानो विदलितोद्यानविटपः प्रहृष्टरसोऽपि कदलीपर्णपुष्करकर्णस्त्रिष्वतवेगस्युतस्यो योदेव मन्दं वाति ।

अथ वैश्याः कोशेयजवनिकरय हृन्वेरयान्तः प्रविश्यापश्यद् यत्, सुकुटीज्जलामो इलक्षणभित्तौ रम्याणि विभ्राणि पुष्पश्लोकाणां सर्वादीनि सर्वनामानि चाद्वितानि सन्ति । माये च परितो जाम्बूनदासम्पदीद्विगुणितसुषमायां, सद्गुलसम्पादितायामुन्मत्तशिवित-तूलिकामहोपबर्हपरिकृतायमेकतो वीभसातकुम्भनिर्मितेऽक्षिलमोरुचिषारवैद्व्ये, मारुत-बर्हे, नीलकौशेयालक्षकृतपृष्ठे, जातरुपातपत्रे मयूरासने समुपविष्टो गुह इव, उपहार-दानैतराज्यम्भुमारोभगूकः, गूढबधुराशत्रुः, अन्तरतघटपरापतिपुत्रीसेवितः शिव इव, प्रज्ञेबादितत्सरसत्तीक्ष्णः, राम इव दुःखितदुःखहारी, अर्जुन इव भारतप्रसिद्धः, राधेय इव दानादीनः, भीष्म इव प्रज्ञाचारी घनुविपाविताः, रचितद्वन्द्व्यालो वरदविः, वारपरिः, देव्याणि भीष्टो विष्णुस्यो होतृकरः, सुमीनः, सक्कदो हनुमान्, सुदमविरलकचोऽपि परिमलकुम्भयत्पदवद्विस्तरेणः समुज्ज्वलापतमस्तङ्गी दीर्घमुन्दराश्रुः गोपुराकाटोर-स्थतो राजा राजते ।

तं कथनोपवीक्षयति, कथनोपलोचयति, कचन दूरस्थायी सामन्तः साष्टयिद्वन्द्वं प्रथमधराधभिर्भां भिक्षते, कचन दुःखजलज्वलितचेताः कष्टं निवेदयते । अथ

समायतदेवमदोषं विरुचोऽमुमिरादां बानुगत्याचन्द्रमिव नरेन्द्रं विविदुस्तैश्च न
भूमिरादृशः, महाराजस्य सन्वेत्तमाकलय्य ब्रूमन्मैत्राग्नेनैव विरिदुः
महाराजपैःस्योरेवमभूदात्मनः ।

राजाः । अन्नन्दितोऽसि धेष्टिन् ।

वैश्यः । (स्वव्रातिप्रभावेन विष्णुः) अम् अग्रशुक । को नाम कस्त्य
भवति भवशाये च कोऽन्युत्पत्तः । गता दूरधीराः । महद्भयं ममदर्शनेन
पलायितम् । चिरञ्जीवनु भीमान् चिरमरन्तु ।

राजाः । कोऽपि हेतुरस्ति हिमागमने ।

वैश्यः । देव । देववादानां दर्शनादृते को नाम मुख्यो हेतुः सम्भवति
वन्द्यपाद । यथै वणिजो देशादेशमटन्तः सुन्दरसुन्दराणि विचित्राणि वस्तुनक्षत्रेष्वन
देववादानां दयया समामहेऽपि । गतयात्रायामहं काश्मीरदेशमवशिष्यम्, एत
वपुःपरिमलमोहितमुनिजनां सुधमिनिन्धासां स्त्रियमानीतवानस्मि । सकलदेशतित
माना साऽप्योपभुवनमालायमानो मवानतोऽहं समवेतसौन्दर्यां वासीत्वेनोपविहीयते
सकामां वामाम् ।

राजाः । बह्व्योऽत्र दास्यः, नास्ति प्रयोजनम् ।

वैश्यः । परं देव, महता कष्टेनानीतां तां भीमचरणसरोजराजः सेदवीं तां
नितान्तमुत्सुकोऽहम् ।

राजाः । अस्तु, प्रेष्या ।

*

*

*

“देव, देवीमहं तां वक्ष्ये, सा वैश्योपहृता ‘काश्मीरीये’ ति कृतकामधेया दक्षी गत
ज्योतिःशालानुसारं परीक्षितुमनुशिष्टा परीक्षिता । महता धमेण अनुनयनिवेन ह
स्वहस्तमदर्शयन्नु सुखम् । सा सत्यं त्रिभुवनपट्टमहिपीत्वानुरूपा कथमिमां दद्यां मया
इत्येव विचारः । एका स्वलीयसी रेषा तस्याः साध्याज्यं विकूरयति, मन्ये द्विप्रैर्वैरेषा स्ना
दशमनुभवति । एषावर्त्य मगवतीस्वरूपा न कदाप्यवमान्या माग्या च पट्टमहिपीव” ।

“किं कथयसि ज्योतिर्विद्” ?

“सत्यं देव” ।

मये मये राज्ञो मुखं निपुणं निरीक्ष्य किमपि विचारयन्ती पुनः स्वं कर्म सावधानमा-
चरति । बहिःस्थितौ बालौ ॥ राजमयेन शिशुस्वमावाह्यः शनैरात्मन्तौ बृहता
सूत्रणान्तर्भाजनं चालयन्तौ स्थितौ स्तः । यद्यपि शिरोरुहं प्रतिहोत्सर्गं तदपि कस्या
अपि दिशोऽद्य भगवान् समीरो न सरति । दूरस्थशोर्बालवोरप्यालार्पं काश्मीरीया
प्यानेन शृणोति ।

कनिष्ठः—भ्रातः कामपि गीतिमात्स्य दे ।

उपेष्टः—नाहं जनामि ।

कनिष्ठः—केवावस्तु बहु जानाति ।

उपेष्टः—तेन किमस्माकम् । आवाप्नु न जानीवहे ।

कनिष्ठः—तर्हि किमिदम्यदात्तम् । अन्यथा तन्ना सिधिलपति, उष्या म्लयति ।

उपेष्टः—यदि आग्रहस्तर्हि शृणु—

अथ मया एके पद्यं रचितं, पुरवे आवापिष्मामि स्वमेव पूर्वं शृणु—

क राजास्ते चन्द्रोऽस्तमितरिपुपृन्दो नरधरः

क हर्षो बालोऽस्ति क नु जलधिजातो नवशिखः ।

क माता मान्या नावहह ! कमला धर्मविमला

करालोऽकाले हा ! किमिव विद्ये कालवधिकः ॥

बालस्तु भवणमात्रप्रसन्नो नष्टप्रसीतः शुब्धिर्बभूव । परन्तु काश्मीरीया बीजयन्ती
माधुरमधुरं स्फुटार्धं ध्रुवमार्थं श्लोकमिमं धृत्वा किमपि स्मरतिव निशितच्छरिक्रिया
इति विदारितेव सन्तापप्रान्धश्रुतिं सुमोव । तामि च तस्मा विनादप्रमादेन नरेन्द्र-
मस्तके निपेद्नुः । अयोमोलकतापकृन्तनैव सृष्टोष्मैरत्र्भिर्बटनिद्रैर्बोत्पितेन राज्ञा
पृथम्—

“कथं रोदिषि ? काश्मीरीये, निशदय, अहं ते दुःखघ्नरणमचिरं जिहृषे” ।

का०—देव ! भवति शालग्रि कोऽत्र दुःखततोऽपि । किं तमन्त्वोमहन्तरि
भगवति सवितरि समुदिते सम्भाव्यते तमोलेखोऽपि ।

रा०—सत्यं कथय कथं रोदिषि ? अवयं ते ददामि ।

का०—महाराज ! हिमाच्छेप, किन्तु कथयामि, निरर्ता दुर्लभन्ति ।
 शक्तिभिर्दुःखनात्तमिः हृदयं भवद् दयं निखेदमिमम् । न वञ्चि' शान्ते
 दुःखरात्ममारोपयितुमुत्तमे, अलमधुना बहुदन्तं धृत्वा । मा नान प्रदीयन्तं
 क्षयन्तु, क्षयन्तु ।

उदितविहङ्गहस्तेनोत्तरेण बहुधाः कश्मीरीयावृत्तं सतु' इत्युक्त्यनन्तरं व ह्य
 पर्यट्य पानीयं निषीय बहिष्कृत्यरे अचन्दीमाह्वयोपविष्टो वृत्तं धीवृ' सञ्जोऽय
 सा च कथमप्यवरुदवाणा पृथिव्यां समुपविश्य प्रवक्तुं प्रारभत—

वनपाल ! यद्यत्पन्तं कुतश्चलं यदि च मन्दमत्स्याया दुर्जनं दुःखं तं दुःखं
 तदा शृणोतु—

वसन्ते प्रसूतप्रतापसंरीकः* उदितद्यद्गुप्तसंरीकः* पुनर्पुष्टोऽयमसंरीकः* अस्ति
 पुरेश्वरो रामपालो नाम, रिलक्षणस्वातेर्दस्याहं मन्दमाया तवया...

राजा०—(साधर्म्यम्) तत्र भवतो विमलपुरेशस्य पुत्री... !

कादमी० । अम्, देव ।

राजा०—आम्, ततः, त्वरस ।

का०—ततो देव, श्रीमन्मन्त्रेन्द्रजित्मालायमानस्य नवेन्दुपलस्य पुत्री विदुषुगण
 परिणीय प्रसूतपुत्रां भञ्जुरात्म्यमभवत् । अतमानो ममाभूदेकोऽपरः पुत्रः । नद्वयं
 नासीत् । जीवनायावश्यकं वस्तुव्यक्तमानेतुं मत्पतिविविमादरेह । तसि बहोः कल
 समुद्रे स्थिता धीर्माऽऽसीत्, अवतरणसमय एव विद्वन्मर्षतद्गता दुराशयनमव
 किमिदूरं गता समुद्रपर्यटेन, चट्टिता, मत्पतिव्य पर्वतोऽन्तरत्रे विलीनः । - अहमस्म
 पशुद्वारेण विलो, कयन्ती आकाशितानिशा न्यपतं सर्वसहज्यमसहया ।

दन्तो हर्षस्य वारिजस्य चाकोशेन कथययमपि नष्टमूच्छां हर्षं वन्ति वति
 शिरःस्फोलीः शान्तवयन्ती "वानिष्ट" शङ्कनीय"मिति मनसैव दीदम"कथैर्दंशतल्ल
 पयोराशौ भोजनमानेतुं गतं पति प्रतीक्षमाणा सर्वं दिवं व्यलयाग्नम् ।

अपान्तेदिननिरन्तरायम् । पतिधान्ते रक्षमिते विरिंरिषी पथिमदिशमवतल्लमिने मर्ग

एहप्रदीपिती दत्तच्छिदं ह्यं चान्तयन्ती स्वयमपि कुमुदिता तृपिता अतमन्वेपयन्ती
 ऐस्तनुगारं अलागारं प्राप्य पानीयं निपीयोत्तद्वद्विज्जाऽऽशम् ।

चन्द्रिका विद्विताऽऽसीत् । पशुदानं श्रेया मितिः । एका जलमेलिका
 पादतरंगाय मितेरस्तत्तमावति । वृथाः वरुणः सपुष्पावसन् । कुमुदिता
 हंसशर्मनीमाकर्षयन् मामदुरासन् । बालविलासमाकर्ष्य साधुनेत्रा परोयानप्रवेश-
 षाङ्गिणि किमधीष्यम् । पशुपुत्रकलानामनिसोपनेन अर्धं छद्मं परिहरन्ती मदिनि
 गत्वा रसातानि वायुजानि दाहिमानि च त्रोटयित्वा धौतप्रपुटे रक्षाय्य सम्यं
 बीक्षमाणा तस्यै अददम् । स च बभ्याम्यपि पशूनि शानन्दमुपभुज्य सुख्यः ।

महीना दद्या विद्यायाऽऽसीत् । मत्पुत्रममनं प्रतीक्षमाणः बीकाविषट्टनेवानिष्ट-
 मासहमला प्रसूयेदनाभिभूता बभुकासं मित्रं मातये ।

शान्तो निशीथसमयः, सर्वतः शान्तां सन्नाप्तविश्रामिना मां प्राप । प्रतयत्त-
 वचनवीतनिश विमर्शयिष्यमहं वीदनादये ।

कुमुदप्येका प्रपन्ना विद्यायी दुःखेऽपि दुरितं दुःखाकरोति । त्वयामन्ता-
 उपम् । अतिशयबौद्धाभ्यकाः पशुपदहरणमुक्तिं मेने । पशो माम् अनुगम्यन् व्यनीक्ष्य ।
 अहं तमसमानं स्मरन्ती पशुमन्दन्ती भवन एव समयं वारयन्ती अवर्तिष्य ।

एवम् एहं परिमृज्जे वेद्यमर्तं शोधयन्ती तादृगुत्सवा बाती हृदयन्ती वस्तु-
 पूर्वकं विवेकाप्यहरं वैद्यमनुमताम् । नर्वा मर्वा निवेतयत्य चार्थत एवमेव
 कलौतकस्य दाम्ता अगन् । अयेवम् एतेः कातान् दुःखं ददती । वदता
 वदन्ती बी दद्या, वर्ये एवाहमहम् । भीतिवृद्धो वदितुये वदि, वदत विनिवृत्ति ।
 मूढि वि वारय, भगवति, प्रवृत्तय वदम्” ।

“महापुत्र, एहं वीरिका वार, मन्देऽनुगुणेनेश्वरेष भवन्त इति शान्तिः । अहं
 वस्तुपूर्वकः । कदा भवत्यन्तमवर्तिष्य भूषणान्तमेव शोभनान्तमर्तमि
 लदरेम्” — विनिवृत्ति वरीवदनुदयम् ।

“भगवति, मम वर्येऽपि, अस्तु त्वम् परं वरं प्रददितुम्” ।
 इति वीरिका इहं विषयं त्वया वदत इति, वर्येऽपि वदत इति ।

विनिवृत्तिं विनिवृत्तुदयवदति । इति वीरिका इति वदत वस्तु पूर्वकः ।

विवरमिव जिगमिषुरकूपास्तलं दिदृक्षुश्चलाभवन्नौः । नात्र भद्रमिदमप्ये
पापपुञ्जश्च । उभयतः कस्तोलापताश्चासीदेव मुत्तरसमः । बाधुना मन्त्रितेषाम्
शुभाशया सहैव भग्ना नौः । एकरिमन् शकते हर्षवारिजौ परमिन् कुमरा रश्मि
भक्ष्य । शेषं मृत्युभाण्डादिकं यादसां पत्या स्वाङ्गेकृत्वा स्थाप्रितेभ्यो वित्तैर्दत्तम् ।
मज्जतां जनानां मीषणं चीत्कर्ममाकर्ष्य जलधिर्ब्रह्मस । जलताञ्चैर्विदुमन्तश्च
मानौ विह्वलौ हर्षवारिजौ विलोचय द्विहस्तमितछाटालकसहायाई विरसौ मूर्ध्ना-
मालिङ्गितवती । अर्पयत्यस्य विशिषे भागोऽभून्मे मूर्च्छासविदाः । एष मां नगदत्तं
वाटिकायामरक्षत् । उत्तमा प्रद्यापनसामथो, वनुराः प्रतिशर्णं मां कामवशवत्
संतप्तां दिदृक्षुः सप्रयत्ना दास्यो ममाग्रे प्रस्तुता भवन्, अर्हन्तमं भोजयथ ।

एतदा रात्री चषचन्द्रे वाचाशे प्रसाधितवेशः परिमलालका स्वार्थतः वायुर्ग
कलधिरक्ष विद् भगिनी मरवाऽऽनीताया मयि पतिप्रताया वायुर्गलमनायुर्गमा
प्रहेतुमैरान् । परं मया, "नीच ! कर्षे ! वितपप्रतिश ! नाहं गविश, मरी
कुलीना क्षत्रियास्मि, तन्मूढ, यदि मामश्नस्येन दूरयिष्यसि येनियता ते मूर्खमर्ष
ह्युचः परममीदृग्भुक्षितायाः सिद्धा इव शकोषाया मम कथोनिर्भेदनाः क्षात्र्य
पितृवर्ग, स्वभावचतुर, अदेनापि कायेष मयसो धनमनेषुर्लभ्ये
मनश्चर्यं प्रैक्षन् ।

[illegible]

यो राक्षसहृद्दं भ्रमन्नावकाशमलभत यथ भाविन्यध्वनिं सिद्धिर्वाणीयदाणयो
वचनवसरापदीया दत्ता ? विचित्रित्वाते शास्त्रेषु सामकं मनः । हन्त ! किमिदम् ?

राजा० हन्त किन्नाम म व त्याः

काश्मीरीया० देव ! कमला ।

राजा तु सत्वरमुत्थाय विमलदध्रः सर्वदाऽऽवगुञ्जन्निशीलं धरादक्षि तस्या मुखं
मदित्युत्पाद्य निपुणं निरीक्ष्य कराभ्यां दृढं बद्ध्वा भृशमरोहीत् । कमला तु
महाराजस्यायुक्तानिहृततां विलोक्य विविङ्गा विविधुरपि वक्तुमसमर्था सम्प्राप्ता
विस्कारिताभ्यां नेत्राभ्यां कमपि प्रचुरं दृष्ट्वास्मिन् पश्यन्ती कथमपि विपुलेन मतेन
पराभ्यां मुक्ता विभेदविकल एकतः रिप्ता ।

राजा तु विह्वलः पादयोरुत्ततः “प्रिये ! यत्त्वं नष्टं मम्यसे, यच्च त्वमनाया
भारं राशामहदात्, यस्य हृत्वे त्वं वराधीव सेवितसतिका भ्रमसि, यच्च धीलधीनवेन्दु-
नयनालन्दनोऽप्यनालन्दनः सोऽसावभाष्यो माम्यशाली च भर्ता तव चन्द्रः ।”

कमला तु पुनर्निपुणं निरीक्ष्य मुखचन्द्रं चन्द्रस्य “हा ! प्राणेश” इति कथनेन-
सार्धं कर्मत्वमुपगता पतिता च भलतीत्येव वन्नाह्वे ।

विलक्षणो मनोहारी परममधुरः सहृदयहृदयसवेद्यः सदाबन्धस्यैव समागमः ।
माटकीपवस्तुनी अवनिष्पातो जातः । क्षणेनैव महदन्तरं जातम्, रातसो दास्यो
विविधोपचारैर्मृच्छामिषान्ज्युः । यनीहृताकाशशीमास्त्रोभाः । कमलासुरमालाय विष्णुपदं
विरलशामानुः ।

*

*

*

‘यूय, ऊय, एहि एहि । रात्री सपथे धावितं पदं पुनः धावय, परममधुरमासीत् ।’

मूनः—यथाऽऽह्मःपदति देवः । (आवयति)

राजा—करपातमज्जी युवम् ?

न्दनः—(शिः प्रणम्य) अमरत्वकस्य छत्रच्छादनां धीमतेरज्यमवकृतदुःखो
मोघनश्रीवी कृष्णनामा मोपल असीत् । पुरा स धीमत्समन्त “वीरचक्रधर” स्व रगरे
वसन्तसीत्, परं दुष्कःकन्दहानारीभिर्विपुलेन राजकरेण च भृशं पीडितो देवतामं

१ से.१ (द्रुम दिवायम्)

विविधमत्रलं विज्ञाय मन मातामहसदनमायातो देवदयया सम्यक्कृताजीवनः सुखं न्वनन् ।
स ऐपमः धसनकपीदितो देहं जहौ, तस्यैवावां तनयौ स्वः ।

“हयं, किन्त्वं कृष्णस्य पुत्रोऽसि, अपि स्मरसि परिचिनोषि माम् ? किं बलविकेत्वं
विसृतवानसि ?”—इपरनेहदुःखविगलदध्रु स्नस्ताननया कमलयोधे ।

न्यूनः—(स्तब्ध इव आधर्यचकित इव कमलामुखं निर्निमेषनयनो विलोभ
तदचनरीतिर्य परिचीय) “आः मात ?” इत्युक्त्वा साधुर्गलमालित्ति ।

उत्तापततमरौ पीयूषवर्णिणः प्राहृषेण्या वारिदा वमुर्धा स्वर्गधाममुः, ऊपर आराम्य
भेजे । रथजी रसिकानां मनोमुदे क्रीडास्थली जाता ।

कृष्णगोपालस्य पत्नी ससम्मानमाहूता पृष्टा चावधीत्—

“एकदा मध्यह्ने बृद्धो ममुपेत्याह । ‘प्रिये नाकयोः सन्ततिः, बृद्धोऽहं त्वमपि व
वार्द्धके आवयोः सेवार्थे परमकादणिकेन भगवता प्रेषिताविमौ विधिविपाकदारुणदेशा
विपन्नौ रोदनस्तब्धकण्ठौ जलसम्पर्केयणौ प्रवाहोद्यमानदादशकलसहायौ दयाकथनी
मुकोमले तटे समानीतौ कम्बलान्तःकृत्वा घृतं विलिप्य त्वदन्तिकमानीतौ पत्न्य वनौ
देवदत्तौ”—इति ।

स्वभाववशादमबोधम् “समाप्तसप्तमीक, शुद्धिस्ते भ्रष्ट, प्रतिदिनं कमपि समस्तपक्षि
अथ मृताम्यो वरतः, अथ द्वाऽथ गर्दभः, मन्ये त्वमेव धात्रा निराधितानामेकमात्रमभय
सूत्रः । शृणु, एवम्वाहं युवतिरासं, त्वदाज्ञापालने कष्टानुभवो नासीत् परमधुनई इहा
स्वस्मैव जीवनाय आवश्यकदृष्ट्येऽपि सालस्य वपुरेतेषां निराधितानां सेवार्थे गतम् ।
क्षमस्व अथाहं तवान्तिमामाक्षां पादमिष्यामि परं नान्यदाहमाशाप्या”—इति ।

“शृणु, बृद्धे । एतौ मानवजातीयौ देवदत्तौ बालकौ, एतादृशवर्षेवाजीतवन्ति ।
दमोप्रेक्षा परित्यज ।”

गृहे देव, गवां महिषीणाञ्च समूह आसीत् । अथाष्टकं घृतं प्रतिदिनं भवति स्म ।
दुग्धस्य दध्नश्च पटाः पुर्यन्ते स्म । श्वानोऽपि पयस्नुता आसन् । गृहे केषलमात्रां दम्पती
आसत् । अहमेतावेकस्यां क्रीमलायां शय्यस्यां शाययित्वा नवनीतं विलिप्य पर्वणाम् ।
अगस्त्यमदेनैव शय्यगतामववेदनीं दृश्युशशी सञ्चनी । अहामेकयोर्नामान्तरं
यूत ऊनधेति । प्रत्यर्पणोपपन्नकननीनी, गवनीताद्वाररथ्यबलदेही सुन्दरदम्पती

इहो सवेणीकौ अभूतामेतौ । वृद्धेनैतयोर्विवहादि कर्तुं पयो विभेत्तु
। पादनसारन्ध्रम् । किन्तु देव, वृद्धोऽनुतामिलय एव मृतः । दसनकेन ॥
॥ । ग्रामे कथन वैयो नासीत् । परमासत एको द्रक्षतः पञ्चाशन्मुद्रा
गतः परं सोऽल्पज्ञस्तस्य जीवनं रक्षितुं न शक्नोति । तस्माद्विमेच्छा एतयो
गसीत् ।

ना देव, एतौ मम जीवनस्य स्तम्भौ भक्ता इयया सख्यौ विनियोजितौ ।
वृद्धे कन्ये सदासलोकिते, मुद्राश्च सखिताः, क्षीतकाले एतयोर्विवाहं विधाय
। पादपिप्यामि देवस्य कृपया । यद्यपि नैतौ विवाहयोग्यौ, परमहं वृद्धा न जाने
। रूढे स्थलेयम्, अतो विवाहं विधाय निश्चिन्ता बुभूषामि ।”

‘नितरां प्रसीदामि’—इत्याभ्यामुत्थाप्य सिद्धान्तमारोहयता राज्ञोपे “द्वय-
जीवनं हृदये एव स्थास्यति राजमातेव सम्मानवती, एतौ च तव पुत्रौ अस्त्य
। ज्ञानौ” इति ।

रिजानुरनययोनदाशक्त्याम् । राज्ञो सम्पत्तः संस्कारः । भविष्यद्वापि
पि प्रमदसतं प्राप्नु । प्रत्यप्रसन्नमप्य सन्निधौ भावद्राससी स्वर्गकोशासि-
त्तन्मयी भुविभारिरी विविधविश्वकैः सिद्धमाणी मनोयोगेनाप्येव प्रवृत्तौ सौ ।

* * *

। मायाः । दिनकरखरतरकरनिष्कारमर्ग्यमानतनतनवः प्रशीणाः पक्षिणोऽनुत्तामि-
। सु सारिवारं स्थिताः प्रवत्तपञ्चमानवर्गममैरन्ध्रविश्रुता ईशपुष्पनीलमन्तः
बहारा भातयमम्यस्यन्ति । पयिका न तथा पयि पाथेयं पाथः पथ्यं
। । मासेऽमिन्नासि पाथ-पूरपूरितसम्पदधरपष्टाऽमादलं विमन्, न च
नितरिमावको बलमीक्षितारको विरूढेषु, न च स्वबाहवचनमहतिपथेन
‘वमरकरिणो पीतम्बरस्य भगवतो श्रीलज्जपुत्रोऽनुवर्षी, महान्धकारेऽपि
प्रदं प्रदंविधौ, अलयात्तस्रिणी अलच्छदल छट् । कविदामिनी च सा
रा होना विगवमवाधे अगति स्वमुखं मुखं दशंविषुं च सचनोदीव ।
त्परदर्शनोन्मातननकां मेघनादानुकासिनां मीरदम्लसामलगतलतिष्ठानिपुनं
तिनेव । प्रकुलसत्तमशरीररीतरीतनन्मानां सुसोदितानां अक्षपरमनं

वदित्वा सप्तमी, नखेषु मुखरमधोरः, खर्णकिङ्किणीशतलङ्घनं गुल्फालङ्कारम् ; शाय-
वशाद्विलयजपनदण्डं चण्डातकं^१ करे धासितपटत्रचैवेऽधिर्वा छविमेघमन्तेऽस्याः ।

वामदेमपाः, सतीभूता कमला वीजयति । प्रचुरानुकम्पा यस्या च पादौ संवाहयति ।
एकस्या शुभासन्ध्यामुर्ववट्या व्यजने व्याप्रियमाणया कमलया भवसाक्षापञ्चम्राय च ।

कमला०—हेव, तदपि कथनीयम् ।

चन्द्रः—अये, किमिदं कथयामि, महानसौकृतान्तः, शोककरश्च ।

कमला०—आश्वेव जिज्ञासे श्रीमन्, यावत्त श्रीध्यामि तावच्छान्तिं नैव्यामि ।

चन्द्राणि मृगमुखा—

चन्द्रः—श्रूयतां यदि कुतूहलम्, प्रवालपर्वतद्वर्षाद् भवत्या विपुलौऽहं...

कमला०—(मय्य एव) नाय । को नामास्यं प्रवालपर्वतः ।

चन्द्रः—मुख्ये । जलजन्तवः प्रवालकोटाः स्वावासाय जातमयं गृहं विरचयन्ति,
तत्रैव वर्जमानं कालान्तरेण पर्वतरुपतामुपैति, तत्रैव हर्म्यं निर्मितमासीत् । प्रवाल-
पर्वतान्तःप्रातिवेनैव तत्पर्व जलं मधुरं निमलं तत्प्रातिव्यादेव तरङ्गाणां सैनित्यमासीत्,
परन्तु प्रदक्षिणेन प्रभातो रोषित आसीत् । अस्तु, अद्यस्या दत्तासः श्रीधरं निष्कटवर्तिनो
नगराश्रमलीदीपयोः बलात्तलं गम्यमाणं यवावीमोदकान् पूगपाकधानैतुकामः
प्राप्तम्, परन्तु मम नीर्ममा । निमित्तफलकेषु जीवनरक्षाप्याश्रुतानां तत्प्रयोजको हेतुश्च
विधिरमासीत् । यदधिप्यन्तीत्यसीतले कमलामलकपाचितनमस्तद्विक्रयमाणव्याजने
कोमलवदनीन्दुले सिक्कितिले व्यपगममूख्यौऽपि नितान्तं शिथिलः शीतवातपीजितस्तान्द्रा-
पूर्विकां निद्रामलमे । परं तवोपालम्भप्रचुरैर्दुःस्वनैरेतन्निद्रास्तौ हर्षसाधिरुदय
म्लानम् । इन्तः, प्रचण्डचण्डकरकनिकरैर्मरौ भाल्ती पादभारं मारयिष्यते । हंहो,
वेषः । एतदेव सिक्कितिलं त्वयैतदाचरितम् । निद्रुवाविन्यामज्ञातायां प्रेम ..
मत्सुमुखेष्वात्मानं निपात्य याज्यानीतवान् इन्तः, सैव यामायचक्रिन् असहाया
निष्कष्यते । ग्रामपेक्षमाणा तवेन्या हर्षं वहन्ती उत्तरोन च वारिजं बहिर्गतागतं कुर्वती
मामनागच्छन्तं वीक्ष्य त्रियोगविधुरा नूनं वार्धौ पतिता करवापि तिमेः कवलीभूता ।

भक्तभावत । प्रपातय । समुद्रनद्यो । आश्रयसात्तुक्त मकराः करध्यां गृहीत ।

१ “रुईगा, भाषायाम् ।

स्तमपि विरतम् । वृष्टिजलभरिष्यमाणा लज्जालानां बालानां शास्त्रिणां मनोहारको नूतन-
च्छन्दनविहाराऽपि निराशः ।

मिहतिष्ठे, तिलोपममुखे खे प्रोप्तेयमानरञ्जसि प्रदेशोऽन्तराऽयः सुरूपान् विहरयन्,
पञ्चलन् किमु हृदयनिविशोऽप्येत्यदयन्, शास्त्रिशास्त्रा माशयन्, स्वभावनीलं नभो
धूम्याकारेण पोतयन्, अवभिषेकनीयामाभिभूतवक्त्रलङ्घननिधि, सैव्येन निश्चितहिमालय-
मालयमिव गिरीशस्य, हास्यमिव प्रकृतेः, यद्य ह्य कवीनां, प्रभवस्य नमिव मुक्त्या,
मुक्ताल्लवसर्वाङ्गं भवनमपि मलिनयन् प्रचलत्युदयतवातः । मनुतनूतानां तस्येषु हार्य,
नच प्रमया विजितुमिच्छन्तस्तद्वेषधरेषु रागः । तेष्वप्यप्रकृष्टेता पर्येटी प्रमुखा ।

परचन्द्रस्तु चित्रपुराणीतः पुत्रपत्नीसमेतौ नितरां सुखी मखे बाबालोऽस्ति ।

विलक्षणचर्योऽयं भगवान् कालः । एकस्मिन् काल एव विविधभाषना विभावयति ।
एहः समय भाषीन्, चन्द्रस्य कमलायाः हर्षस्य वारिजस्य च का इत्याऽऽसीत्, स्वार्थरक्षणं
जगन् कालेनाह्वयाऽपि तन्नेष्टते स्म । जगत् हास्ये व्यासुक्तमासीत्, करुणेशा का
कीरतोऽस्ति, जगद्गते निरतनु पातलं वा प्रपातु, किमनरेण प्रयोजनम् । तामय .

कमलाया न गतदिवसगाधारणः कालः । साय पतिपुत्रसमेता एकीता,
महिषी-देवी-पट्टराज्ञी-रश्म्युपेतः । एककृते ज्ञातयो हरयः सहरवर्ध पुः सम-
वर्तितन्ते । विलासेनपि भ्रुकुटिविलासमष्टौचे सर्वमन्तपुरं पासेरते । अष्टौकेऽपि-

वदित्वा सातथी, नलेषु मुखरमजोरः, स्वर्गेद्विणीशतलङ्घनं गुल्फलङ्घनम् ; साध्य-
पथादिलङ्घनपदं बण्डातकं* करे वासितपदचैतेऽधिघातं छविमेधयन्तेऽस्याः ।

पथमेमपरा, सतीऽद्वारभूता कमला बीजयति । प्रचुरातुङ्ग्या चम्पा च पादौ संवाहयति ।
एकयां शुभासुन्दर्युपविष्टा व्यजने व्याप्रियमाणया कमलाया मन्त्राप्रःपयन्त्यस्य च ।

कमला०—देव, तदपि कथनीयम् ।

बन्धुः—अये, किमिव कथयामि, महानवीहस्तान्तः, शोच्यकरश्च ।

कमला०—आदयेव त्रिङ्गुषे धीमन्, बाबल धेत्यामि तवपदान्ति नैप्यामि ।

यथापि भूशमुन्दा—

बन्धु०—भूयतां वरि वृत्तहलम्, प्रवालपर्वतहर्म्याद् भवत्या विपुकोऽष्ट...

कमला०—(मध्य एव) नाय । को नामार्थं प्रवालपर्वतः ।

बन्धु०—मुषे । जलप्रन्तः प्रवालक्रीडाः स्वावासाय जालमयं एहं निरचयन्ति,
तदेव वर्तमानं कालान्तरेण पर्वतरूपतामुपैति, तत्रैव हर्म्यं* निमित्तमासीत् । प्रवाल-
पर्वतान्तर्गतैरेवैव तत्रत्यं जलं मधुरं निर्मलं तत्तादृश्यादेव तच्छायां रसैर्मित्यवासीत्,
परन्तु प्रतापकेन प्रभातो द्योतिता आसीत् । अस्तु, भवत्या इतःकः सीमं* निष्पद्यतिनो
मगारादामूडीयौक्योः जलतैलं गन्धमाग्यं यवानोमोदकात् पूज्याध्यानेषु कामा
प्रापतम्, परन्तु मम बीजमा । विभिन्नकलकेषु बीजनरक्षायःपुनानां तत्रयोत्रहो हेतुश्च
विधिरवासीत् । यद्योभिर्यदौत्पद्यतिते कमलमलकपावित्रनमस्तद्विदमन्मन्त्रने
कोमलपद्मीगुणे विद्वत्तिष्ठे व्यपगतगुण्योऽपि निदानं सिधितः द्योतयतरीशितलङ्घ-
नीहं निदानकमे । परं तदीयमभ्यस्तुरेहं*माभ्येतेतिरिक्त्वा हर्षयिष्य
व्ययाम् । इत्त, प्रवन्धवन्धवर्धनिहारी मालती पदमरं मादयन्ते । हरे,
वैषा । एतदेव निष्पद्यितुं तस्यैतदुपार्जम् । विरुषतिन्यमहादामां मेम
शत्रुश्रीपारमर्तं निरन्ध्रं ममनीतवान् इत्त, तैव ययामवर्षिष्य भवत्या
निरन्ध्रः । ममपेक्षनावा तर्जन्त्यः हर्षं वहन्ती तत्पत्रेण च वारिजं वरिणतामत्तं कुर्वती
मानवपत्न्यन्तं वीर्यं विजोयिष्यता नूनं वधौ पठिता वरनि सिधेः करतंभूता ।

ममवर्षा । प्रवन्ध । शत्रुवन्धो । जलमलङ्घनं महराः वरिण्या एतत् ।

१ *हरिणं मकरम् ।

मित्र । प्रवात ! ध्रूयते त्वं भ्रामानपि प्रचक्षन् सुखं वहसि, वनान्यपि समूहान्
नयसि । तदा 'प्रवात ! अहमेव बहुभारः ?—(हसित्वा) पश्यत कीदृशी नि-
अस्याः करुणापि नोदेति ..

कमला०—आम् आम् करुणाकूषार ! भवतामिव करुणा जनेषु कस्यापि मा नाम भू-
धन्याः ! स्त्रियमपि न सस्मरुः । हन्त ! कारुण्यम् ?

चन्द्र०—अस्तु पुनरहमेवं व्यलापिकम् ।

सुखिनोर्बत ! केलिकामयोः परतन्योरपि साम्यमीयुषोः ।

हरता महमावयोर्विधे ! निहताः हन्त ! कथं नु दुःखिनः ॥१॥

हे विधे ! केलिकामयोः क्रीडाभिलाषयोस्त एव सुखिनोः तन्वोर्भेदेऽपि अभिष-
षीवयोरावयोर्महम्—उत्सवं हरता माशयता दुःखिनो कथं निहताः ॥१॥

रसिहास्यपदानि चिन्तयन् गमने विभ्रमचेष्टितानि च ।

विजितेन्दुमुखे कथं प्रिये ? कमले ! कञ्चन हा ! जिजीविषेत् ॥२॥

विजित इन्दु र्येन तादृशं मुखं यस्याः सा—तत्सम्बुद्धौ प्रिये कमले रतौ ते हास्य-
पदानि, गमने विभ्रमेण चेष्टितानि च चिन्तयन् कथं कथं जिजीविषेत् ॥२॥

जघनेऽपि ! निधाय मच्छिरो रचयन्स्या रचनां कचे कचित्

मुग्धभासन एति शस्त्रता कुसुमेपोरधुना स्म किं ! प्रिये ॥३॥

अपि प्रिये ! मच्छिरोः स्वजघने निधाय कचित्=स्थाने रामये कने उपवने वा कच
रचनां रचयन्त्या भवत्या मुखवासनाः कुसुमेपोः शस्त्रतामेति स्म । अधुना किम्, त्वयि
मृतायां वास्ता एवावशिष्टा इति भावः ॥३॥

तपनीयललाटपट्टके ललितं वत्सुलविन्दु ते सरि !

स्मरतोऽपि कुजीवनं प्रिये ! प्रजति स्मृत्यवरोपता नदि ॥४॥

प्रिये ! ते=तव तपनीयं=स्वर्णं तद्वद्भाष्यते ललाटपट्टके ललितं वत्सुलविन्दु
हिङ्गुलस्य योगेन एवितं वत्सुलविन्दुं प्रियो दधति । तत्स्मरतोऽपि ममैतत्सुजीवनं
स्मृत्यवरोपता—मूर्ति न प्रजति ॥४॥

प्रथिताभकपोलतद्वजात् ललितान् पकरसालवद् वरात् ।

व्यथते हृदयं ममाधुना हसितात् कन्दुकवत्समुज्ज्वलात् ॥६॥

प्रथिता - अगदप्रतिष्ठा आमा यस्य तस्मात् कपोलतत्त्वजात्=श्रेष्ठाद् गण्डयुगलात्,
पकरसालेन - रसालफलैर्न तुल्यात् वरात्, हसिते=हास्यसरे कन्दुकवत् समुज्ज्वलात्=
समुन्नतात् कन्दुकवद्भासमानात् कपोलादधुना मम हृदयं व्यथते ॥५॥

कुसुमाचितहेमपट्टिकाललितास्तन्वि ! विनुम्य तेऽलफान् ।

एवदवाप्तसुगन्धसत्क्रियः सदयं शाययतीव मारुतः ॥६॥

कुसुमैः=पुष्पत्वेन न्यस्तेः, हीरकसङ्गैः आचिता-सचिता हेमपट्टिका=शिरो-
भूषणभेदः, तेन ललितानलफान् विनुम्य, त्वत्तोऽवाप्ता सुगन्धसत्क्रिया येन त्वत्केच-
परिमलप्राप्त्या प्रसन्न इति भावः । मारुतः=वायुः, संप्रति मां=सरकारकारिष्मा-
स्तव गति सदय=तव ऋणित्वेन शाययतीव ॥६॥

विकचानन आकुलाङ्गनो रजनीनाथ उदेष्यति प्रिये !

हतस्तुल्यगुणो महात्मनां सुखदो हन्त ! इता महात्मता ॥७॥

प्रिये ! अयं रजनीनाथश्चन्द्रः, विकचं प्रफुल्लमाननं यस्य अत एव आकुला
अङ्गना येन बाबोरीफल्वात् तथाभूत उदेष्यति । यतो हतस्तुल्यगुणः समानगुणो
मर्नैर्भूतः । महात्मनां=महाशयानां सुखदः=हर्षप्रदः अयतना महाशयाः स्वसमाने
रुधे प्रसीदन्ति । हन्त ! केदे, महात्मता पुरातनी महात्मपदविहता=नष्टा ।
“एवै भगवति पश्यन्तु” इति=तेषां विचारोऽपि विदधितः ।

तव लोचनमित्रमम्युजं समदुःखप्रमदं विकल्पये ।

युतिमन्तमुदीक्ष्य यद् विधुं समकोचीन् तव मृत्युराकृष्या ॥८॥

अहं अम्युजं, तव लोचनमित्रं अतएव तव दुःखेन प्रमदेन च समौ=तुल्यौ दुःखं
प्रमदो=हर्षश्च यस्य तथाभूतं विकल्पये=विचारयामि । अहमहं विधुं युतिमन्तं वीक्ष्य
मृत्युमनुमाय, कमत्यां घटयान् रुद्राप्येवं प्रहृष्टानवो नोदयात्, मदयोदेति, तन्मन्ये
मृता कमलेति विचार्य, समकोचीन्=सङ्कुचितपात्र ॥८॥

द्रासितमुखमण्डलः प्रोन्नतायतलव्यटो भास्वरोन्नतपोषो मस्मन्निपुण्णाङ्कितपरिणाहितलट-
मांसलप्रक्षुब्धः, सन्धेन दण्डमितरेण कमण्डलुं करेण कलञ्चन्, लम्बमानरदाक्षमालः,
कदलीदलकौपीनः, पीनधतुरगम्भीरकृतिः कृती, रोजसा शान्धेन पापपुञ्जानपि रक्षयन्
वृषाकुरिवाधर्मस्य दलनः, प्रभवो धर्मस्य, विहृतपापपुत्रोऽतमाः, शमश्मनिर्मलमनाः,
अष्टद्वयालुर्दयालुर्मुनिः । स च गम्भीरया वाचा शब्दयन् शब्दगुणमुवाच—

पुष्कराक्ष ! नास्ति पापमात्रमहनस्तुल्यम्, मस्मै दुःखाय मित्रस्य तत्तेऽचिरादेव सम्पत्स्यते
सुखम् । मा एव पातकं कैयीः । अग्रादि तपोवनं प्रविशानोऽतिवर्त्ततेऽर्चनवेला, इति ।
वनभूमि विपुल ऋषिशिशुधमेण निर्मित आधमो लघीयानेवासीत्, परं घण्टाघीयेण
पुष्पपरिमलेन धूपपन्धेन च सुसज्जित आसीत् । कञ्चन निद्राङ्गा हरिणा रोमन्धं
वर्त्तयन्ति स्म । कञ्चन घेनवो नवीपरयेन स्नपितधराः स्नान्धवान् स्नान् पादयन्ति स्म ।
कञ्चन पद्मपत्राश्रयाः पुष्पाभ्यवचिन्वन्ति स्म । असर्वभक्षिणोऽप्याक्षीणाः पक्षिणोऽभ्यास-
शत्रुर्वाच्छात्राभ्यस्यन्ति स्म । कृतरक्षा वृषाश्च विपुलफलपरितोषितमुनयो नमोपपादिताः
प्रजा इव फलं ददति स्म । पाणिनामपि मनसि तपःप्रभावं जनयन्ती वनजगदीश्वरं विलक्षणा
भण्डरमणीयाणीयसायनेनैवा रहिता दितासीत् । तत्रार्द्रं कथितकालमप्युप्याधर्मं सधर्मोऽरण्या-
नीयवर्त्तकवेदाः । परिपश्यमानवरवारणहृदकुम्भोत्पाटननिश्चतमुष्माभास्वरगतमयूखाः
देवज्ञा इव ज्योतिषा भासन्तः, सम्प्रवाहनग्रहृष्टकार्यायवीप्रदक्षिण्यवावहृष्टा इव हर्ष-
करोण हरिणप्राणान् हरन्तो कारणमप्रघोषाकृष्टवर्षा अमितपिशितादनमदमरमन्वराः,
धूम्रगदीदृश्यमानद्यौगितद्यौगरदनप्रदवाः, बालभास्वरवणेन, मृगराजस्वरव्यापक-
पञ्चेनेन, मृदुल्लोमजिहिवाप्रपुच्छप्रदेशेन द्यौभितपृष्ठप्रदेशः वनवसतयः, केदारिणी
रणावन्ते स्म । कञ्चन केदारिकितोरकाः बीहमयङ्गुरं कैशोरक्षीर्यं रचयन्ति स्म ।
कञ्चन करिणीकलमभूषितास्तिपाद्वर्गः, बालवज्रगदाशङ्कृतः, सायेऽङ्कः स्नानुं सरो
गच्छत, शुण्डशुण्डेषु मीरमापूर्य पूष्टिलवर्गः, मज्जमाननृजज्जं, स्रवन्मदं पलक्यरीकं
कमलपर्वतमिवाजनागुक्षितं, सुमुखितं, प्रसरकट्टं करटिकुलं कृत्या आबुल्यति स्म ।
विहितवृद्धिताः द्विपरोक्षाय वराहद्वितं हिंसन्ति स्म । कञ्चन 'मस्मन्मल्लक' कट्टाकान्त-
निरान्तायां निष्ठुरशराग्रपूरपूरितायां वानवभुवि, भुवि विपदां बालवज्रसिध्पदतयः,

तापोस्तीक्ष्णविद्या धेरशोषपोषः, घोषिनो इमान् धर्षयन्ति स्म । कचन
 व्याघ्रमुत्तर-कोट्यकयास्तत्रैः, त्यक्तार्धवितरोमन्धैः, केनितलपनैः, जडजालुभिः,
 श्रीवने हताक्षरितरस्मिजनुषि मेलिष्याम इत्याश्लिष्टमृगीर्नैः, मृगीभिः सस्त्रेभ्यः
 कण्डूयमानैः, मृगैर्विस्फार्यमाणनेत्राः सञ्जतनेत्रा इव, नरीनृत्यमानमयूराः कचन
 ग्वालीलीलास्तत्रैः, कचन विशालविटालस्तत्रैः, कचन बम्पराद्यभीरव-
 राभरयनीरमाः, सततभयभेदशस्त्रितयवलाः, कचन शुक्रविच्छिद्यमाय-
 जमपोषाः, तरलभृजजोगैः यमानगुर्गरभिनवाङ्गुर्गस्तपत्रपूरिततुर्गटवटैः प्रकाण्ड-
 मरुजमर्गटकाण्डैस्तलतमस्तरचालचालाधृतविन्धैर्विहितशिशुनाः, शनीष्यमानानाः,
 कविच्छिन्नदन्तलोठगुर्गिन्दुलाऽऽदिष्टमानाः, भवदुरदर्शनाः, सुगयुक्ताभागाः,
 भविद्विन्दवराः, वनभूमौर्जमन्, कचन पर्वतैः, कचन वृक्षमारोहिनः, सिद्धगन्धर्वमकलीकपत-
 रदन्, हण्ड, विलपन्, पान्नुत्तपुन, श्रीवन्दमनेकमन्यदाधे वसन्मान एतर्द्वीपमणो
 वधिरारैः, शोतागोदमुज्ज्वलितः पत्रस्तैरपयो तुगितो, दशं दशं श्रीवज्रममनो
 वनाय च दशं भ्रमववर्तिव ।

एषाद्यन्तरे 'विचारमलिना सन्ध्या सार्या भेदे । कंचा इव तमोरासमवशा
 विह्वलिताः । प्रादुर्बभूव च काकाम्बरभरिणी निरवैव विभाषी । अहमेकदा
 विद्याया हाहमेहे' सोभिर्गुणमालमृगकाकास्तत्रभवन् वनेऽपि निरुद्धोऽर्चयति ।

अथान् । अरविर्न विपन् पत्रमपमुदवजलीवितम् । एतन्तु दशभिः
 जलम्बवन् गुणतुः । कैमुदी लघान्नासस्य विरिधितः ॥ तस्मिन्ममृष । वैव-
 र्गैः, कोट्याय श्रीवनिर्दमपुः । प्रागर्तितो हण्ड ॥ अनेदुरन् वभी सपत्रमम-
 भवतः । एषेववर्तिना धेनविकाया वैवर्तिनः रत्नैः स्यात् ।

अथ इविसौतुर्गविवर्तिनः प्रतन्तुर्ग विपन् वनप्रतन्तुर्ग प्रतन् । एतेन
 'हृत्तदवमचय वनप्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग
 विद्याय नमः ॥ विचारमलिनीः प्रतन्तुर्गविवर्तिनः वनप्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग
 प्रतन्तुर्ग वनप्रतन्तुर्ग ॥

अथ इति - विचारमलिनी, कचन विचारमलिनी अथर्ववेद-विचारमलिनी ।

१. वैवर्तिनः वनप्रतन्तुर्ग - वनप्रतन्तुर्ग ।

नागरिका बालाः स्वभावचक्रेण दुष्प्रकृतयश्च मां गूढं मन्वानाः कोलाहलेन बधिरयन्तो
 दृष्टिः कण्टकमयीभिर्गण्डिकाभिश्च नितरां दुःखयामासुः । परमहं दुर्दैवदुर्वीक्षणवीक्षितः
 खलं सहमानः किमपि नानोचम् । दयाशीलानां कृतीनाञ्चिन्तुर्ना भर्तृनया बालेषु
 मातेषु तदनु प्रयत्नमेकं भवनमयाधिपम् । भवनस्य प्रवाणद्वारे बालमित्रावित-
 क्षुत्प्लोणितधितभोदितमलयजाधितवसने भवनवदम्बरमितवर्षाचिच्छलायितकाश्मीर-
 गौरावितकुत्तकगंराक्षरैः परमशोभनं—“टीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालय” —इत्यङ्कित-
 मासीकाम । अक्षारिषं यत्ते पारायणिका आसन् येषामसौ निलयः ।
 विशालमदो भवनम् । सरमुखे जिहीजसो दिशि पश्चिमं सभाभवनम् । द्वौ
 त्रिद्वारौ तदभितः, उत्तरयोर्दक्षिणस्याम् द्वौ द्वौ त्रिद्वारौ, वरुणहरिति द्वारं, प्रया,
 पथिकावासादयथासन् । मध्येविद्यालयवैको हस्तिपत्रनिचयविक्षितो निधयः समुत्प्लसति
 स्म । अहह ! कीदृग्मनोरम आसीद् वृक्षराजसौ पिचुमन्दः । यो हि तस्मिन्नुत्तौ
 प्रकटितवच्छदनीयकासहासदृश्यमानपत्रगर्भमुत्तरादिमा, सर्वाभयैकजातुः^१ समनयनच्छायाः
 कपोतैर्जंगीयमानबदादृशगुणविदुग्मबो व्यलसत्तमाम् । यस्य कुटिलकाण्डे च-
 व्चपुटाम्रेण पश्चति कण्ट्यमानो नितरामाभाति स्म केकारवचेतवीकृतच्छात्रवृन्दः केकी ।
 यस्यापच्छात्रपत्रमदन्तः पत्रपरिष्करदया कर्णुपरि पतन्तो विलक्षणानावन्दमादकतां
 प्रसारयन्ति स्म कपोतपुत्रवाः । येषु च विपतन्तोऽम्बराकाः काका मश्मनिपतित-
 श्यैत्रालकस्य साम्यं दर्शति स्म । येषां विशितवञ्ज्वप्रविशता क्षितिर्गिणीवामाति
 स्म । अमोदमुदितमनोनासिकाः, परिमलप्रसीनसमामयः, विलम्बोऽमन्दो रन्धः
 प्रसरति स्म पिचुमन्दम् । सर्वदया निवर्तने, विशिष्टमुदां प्रवर्तने वायमेव हेतुः ।
 अत एव परिपुष्टपुष्टोऽवित्तातरोमाश्च सुखं श्रोते स्म छात्रा यत्रत्याः । मस्य
 भूक्तो मध्यदेशं यावदधिता, नितान्तभृदुक्त, सपुष्पकैवली, लावण्यवतो प्रिया वधरिष
 अत्यत्रमाश्लिष्टाश्रुतां मुपमामाहादश्च ज्वरति स्म दर्शकस्य । या वारणैर्धवलैः पुष्पैः,
 हस्तिदलैश्च, हरितक्रीदोवाहाराशीरा हीरकसम्पन्नविहता रमणीवामाति स्म “अर्चनन्दरी ।
 यया प्रेयस्या विसल्यहरैः प्रदत्तवन्वद इव प्रफुल्लति स्म नितरम् ।

ईशानकोणस्थत्रिद्वारे आलभतां महर्षिबलङ्गयानां चन्दनभागमालानां छात्र
परमात्मस्त्वान् शुभ्रपुलक्यगमन् । प्रैक्षिन् च छात्रा भगवन्तमुपलोक्य
केचनोपलक्ष्यरचितकुण्डिकाप्रतिष्ठापितस्य महामहिम्नः शिष्यस्य समर्हां विदधति ।
ऋद्धिद्विद्युतस्य भगवतः करिष्योप्रस्यान्तरायनाम्नाः स्तवाः पठ्यन्ते । इतरत्र काष्ठ
विराजितपित्तलशुभासनस्य श्रीलङ्घनस्य पादोदकं णरीकृतं । अन्यत्र पार्श्वकुट्य
प्रविश्य सिन्दूरार्द्रितविदूरविभाषिबर्गेमालायाः, केशरिगो लावण्यधरायां कण्ठ
विराजमानायाः, त्रिशूलस्पाया भगवत्या वनगन्धिकायाः पादयोर्निपत्यते । सम्
चास्य भवनस्य काष्ठपीठप्रतिष्ठितपुराणः, रमधुनिचितमुखः श्रीड जस्रराम इत्याख्य
भगवच्छङ्कराचार्यकृतां गीतिं गायन्नासीत्—

जय नारायण ! जय पुरुषोत्तम ! जय वामन ! कंसारे !

उद्धर माममुरेशयिनाशिन् ! पतितोऽहं संसारे ॥१॥

दीनोद्धरण ! नरकरिपो ! नर ! केशव ! कल्मषहारिन् !

मामनुकम्पय दीनमनार्थं कुठ भयसागरपारम् ॥२॥

जय मुकुन्द ! राधाधर ! सुन्दर ! जय शिशुपालविनाशिन् !

जय करुणामय ! जय गजरक्षक ! जय दैकुण्ठनिवासिन् ॥३॥

त्वं जननी जनकः प्रभुरच्युत ! त्वञ्च सुहृन् कुलमित्रम् ।

त्वं शरणं शरणागतवत्सल ! त्वं भवजलधिवह्नित्रम् ॥४॥

जय जय देव ! गयासुरसूदन ! जय मुरमघुहन् विष्णो !

जय लक्ष्मीमुखकमलमधुप्रत ! जय दशकन्धरजिष्णो ! ॥५॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि गर्भनिवासम् ।

सोढुं नालं पुनरपि माधव ! उद्धर मां निजदासम् ॥६॥

यद्यप्यहं सकलं कलयामि किमपि हरे न हि तत्त्वम् ।

तदपि न मुञ्चति मामिह माधव ! पुनरुल्लसन्ममत्वम् ॥७॥

■ हन्मध्यसावित्रीकान्, विष्णूनिव द्विजेन्द्राध्यान्, शिवानिव सप्रविभूतीन्, भवभूतीन्-
कालिदासान्, त्रिविक्रमान्, रामानिव शास्त्रार्थमवनिमुपगमन्तान्, कृष्णनिवाहुं नसम्पृक्तान्
नारदान्, धोमन्तृपतिमुकुटायितवीरकलविपुलोत्सर्कसलज्जतश्लोकधीगङ्गाभिद्रासित
बोक्रानेराग्यान्तर्गतदृढप्राकारवेष्टितमास्रशब्दुर्गस्रज्जुर्गस्य, शिवाधिष्ठितेनानकोषविराज
मानच्छाप्रनूरपरितान्तःकरणसदमनिधानधरणदंष्ट्रस्यमालधर्मधारणप्रतिष्ठितवाचाधामिदमान
धारप्रधर्मच्छाप्रवारणसमितयटीक्यानीवेदवेदाङ्गविद्यालयप्रधानाप्यप्यकानपदम् ।

प्रयः पारावर्णिकाः पुस्तिका उद्घाट्य स्थिता आसन् । मां तया स्थितं वीक्ष्य तेन
मेकतममाहाचार्यः—“ननु रामचन्द्र ! पृच्छ, कोऽयम्, कुतः समायातः, किमिच्छति
आहूदयोषजातिरिव प्रतीयते” ।

हठोदयज्ञाः, प्रभाविललाटचन्द्रवो, स्यःपततनुः श्वेतवासाः, निःसररत्नधृः, सन्त,
धारप्राप्यपनाहिलया बाण्या सप्रथममाह सः—“गाम्भ” ! कुतः समगमनं, का प
प्रतिः” अहम् “विदूरादागमनं क्षत्रियोऽस्मि” इत्युत्तरम् ।

स च तदेव वाक्यं विनयितामगमिमानां पुरः प्रापयन् । अहमपि विमूढ ईदृश-
स्तः पादो विक्षिप्तं तेषामन्विष्टमुपगम्य प्रणम्योपविश्यागदियम्, “ममवन् ! कमपि
हृदयान्तर्वासिनीं वार्तां विद्मीषामि, यदि...

अथ ते ममप्रान्तोऽपि स्वसौजन्यं प्रकटयन्त आशयकं कार्यं विहाय
प्रत्यतिप्रनयान्तमपि समस्तं गौरं तेषामेकान्रं कथयन्तः—

“गौरंलात ! ममत्र यूपं त्वः प्रतरेवागन्तारम्”

अथ सम्मनके तस्मिन् गम्यकन्द्रेण, अतरेण चाज्ञानमिदयेन सदृशाज्ञा, पठन-
मवनाः निश्चये निगमना वाचा पीयूषमिव कर्षन्तः क्षुब्धन्ती मद्दृश्यदृश्यं वयमेव
अनीतादन्तो मां प्रमदुः किमभवनाहं

“ममवन् ! दुष्कण्य पारं कटमनुमवन्” ।

“एवम् ! हन्तं वन्दे”

अहं तेषां पुण्यो हन्तं प्रवर्त्तं स्मृतिश्रुत्याऽऽलोक्येहं वमे कथं विवर्त्तं दृष्टा इह ।

एतदन्तः—क्षत्रियोऽस्मि ! इमां वरं दत्तमनुमवन् । शास्त्राध्ययनप्रवर्त्तनं

अहम्—वन्दे देव !

पण्डिताः—महद्वस्त्रैर्यामुं त्रिलोकीराज्यमुत्तं पश्यामः । (क्षणं विराम्य)
परमलीयमी वाधा, अर्द्धस्य सत्तां नु व निवारयति कोऽपि । तथ्यं वाच्यं ईषा
व्यवहृतिः ।

अहम्—उदररुर्ये अलम्बाधानां नः व परणीरमणीभूभ्रमूषि शरीरम् ।

पण्डिताः—किमिष कथयामः ।

अहम्—देव ! अहमपि अस्माद् दिनार्णवादिः सारिण्यामि, ममाप्युदासो भविष्यति
कदापि ।

पण्डिताः—उद्धारः, (पटीयन्त्रे पुलकपावलोक्त्य गणयित्वा) आमुर्द्धितानु भगवती-
प्रसादान् शीघ्रमेव, पामेष्टेव दिनेषु दुःखमपि लप्स्यते ।

अहम्—देव ! देवेन दीयमानं सत्त्वं सट्टिये ।

सायं सम एव छात्रा प्रचुरभ्रमपर्वप्यवकाः भ्रममप्नेतुं, शौचं निर्वर्तयितुं
व्यवर्तन्ते स्म । अहमपि पण्डितकाम् शिरसा स्मरं प्रथम्य सतीष्यैः सुदामम् ।

छात्रेषु बहुष्वपि स एव मुग्धा आसन्, ये पण्डितानामन्तिके दृष्टाः । एते सुधामव-
धीरसन्त्या इन्दारकगिरा वनमपि भगवन्तः, इत्येव, ग्रीह्या दिवभ्रममलसन्तो विचरन्तः ।
म्यचरन् विज्ञानबुद्धौ विचारिणः ।

शौचं निर्वर्त्य पराहतास्तेऽहमपि । विद्यालये उत्तरतः, उपस्थित स्मरहता
दृष्टासीत् । अमृतमपुत्रकस्य वपुष्यम्—पुण्ड्रम् । उदरस्य पुण्ड्रिकाः सुगन्धं
विकिरन्ति स्म । छात्र्ये विषी व्यचृता अन्तेवाहिनाः । विद्यालयेऽर्द्धदिशि महत्स्य
आसीत् । वैद्यानरे वपुर्गुणि वपुर्गुणि सन्ताविद्यया शङ्कन्ते स्म । तैलविद्यायाः
कण्ठे वृष्टिवाय लम्बाः । पदमयो जीवन् प्रणिमज्जयेति छात्रा व्यावर्तन्ते स्म ।

एवंरात्रः । प्रथमरात्रे अमृतस्य विद्या । त्रिलोकीय मेधानां महामुग्धेनम् ।
प्रथमम् । दया विदुरस्य विद्या मेधाः कर्तुंभूद कथयन्ते ।

अहं भूमिपट्टेऽर्द्धदिशि सन्तः प्रवृत्तम् । स्वयं समीपे विद्यमानमेवासीत् ।
रात्रेऽर्द्धदिशि सन्तः प्रवृत्तम् । प्रवृत्तमेव सन्तः प्रवृत्तम् । रात्रेऽर्द्धदिशि
विद्यमानमेव । रात्रेऽर्द्धदिशि । रात्रेऽर्द्धदिशि । रात्रेऽर्द्धदिशि । रात्रेऽर्द्धदिशि ।

उद्धमविधमा प्रासत् । क्षणेन धक्-धक्कादितचरणी, पथिरुशोऽह्वरणी, दिक्किरणी
अभीष्टदेशप्रापणतट्टी नक्कटो समेता । अहं प्रथमध्रेभ्या आवासेऽविशम् ।

शतश उपनेत्रधारिण्यो रमण्यो वातावनेभ्यः प्रेक्षन्ते स्म । दैवाद्विचालये मय
यत्राणि प्रक्षालितान्यासन् यतः कोऽपि पृच्छको मां चिटिकायै नासेदयत् ।

*

*

*

कान्तारम् । बहुसोऽवलोकिता सान्द्रा कुमावली । दूरत एव कुमदलमध्वतो
दृश्यमानं रक्षाध्वजं लक्ष्यं कृत्वाहमघटम् । गम्यून्यन्तरे परमरमणीयं मन्दिरं
प्रोचभूमी शिलाशकलानि सौन्दर्येण न्यस्य विरचितमासीत् । अग्रे च
प्रस्तरमयं कुट्टिमं यत्र सहस्रशो मनुष्याः स्थातुं शक्नुवन्ति, नवीनमिव
प्रतीयते स्म । श्वेतमखणपापाणसम्पादिता द्वारशाखा, शिल्पिसम्पादितं कपाटपुगल-
मासीत् । मन्दिरमनादृतमेवासीत्, अहमन्तरविशम् । सुन्दरं विशालमजिम्,
भव्यानि भवनानि, चेतोविक्रिचं च समाभवनमासीत् । मन्दिरं भगवत्याः शाक्कम्पया
आसीत् । पवित्रमूर्तिः पूजकश्च स्वकीयमनुष्ठेयं निर्वर्त्योपविष्ट आसीत् । परमातिथेयः
■ मदीयं वनोचितं सत्कारं विधाय मद्वत्तमपृच्छत् । अहमपि सर्वं विशुद्धभावेन
न्यवेदयम् । जगदम्बिकाचरणशरणो मददुःखहरणे सकलहणः स मह्यं मन्त्रमेकमुपादिशत् ।
सताहं यावत्पूजकाक्षया कृतार्त्तनरूपपथ्यान्तोऽस्त्वाध्वन्तुं पूजकं प्रणम्य, लब्धाशीः
मातृमातृपविभूपितकण्ठः प्रसन्नमनाः प्रातरेवैकं पन्थानमाधितोऽबजम् ।

सामञ्जालः, प्रभाविभासी भारकरो विरहिता पथिमाशामालिख्यारुणिभ्याऽऽबद्धमे ।

विदूरतः संसरणसम्मुखनेव कर्तुं कुम्भापस्तसहस्रार्थां अद्वितीयाद्यस्तदाल्पभावा-
साभ्यामावृताभ्यां कपाटाभ्यामुत्पाटितरिपुसाहसं, दसन्तमिव वीरगणं शीरेण, प्राणापहारकं,
नीलशिलं तोपकोपसङ्कोचकं गोपुरमपश्यम् ।

षड्विस्तृते चतुरङ्कोणे क्षेत्रे नम्रनिस्त्रिधानां रक्षकानां चन्द्रहासचमत्कारै-
रायसान्यध्वरराणि राजतानीव राजन्ते स्म । पन्थानमधितः शीतलच्छाया सान्द्रा
द्रुमश्रेणिः । प्रतिद्वर्गं भारकतप्रभया दुर्वया ललितानीव ललितालङ्कारानि व्यद्योतिषत ।

“रक्षकाः” मया पृष्टं ‘कयाऽऽरय्यालङ्क्यितेऽदो नगरम् । कस्य च वंशवा-
वर्तसो भूयः । कानि चाशराणि यमाप्य धन्यानि भवन्ति ।

प्रमोदिनः प्रतियुक्तं योद्धुं बुध्यमानांश्च द्रष्टुं समनयन्ति स्म नामपट्टिकया
स्म । योपालिकाणां प्रवृत्तद्वयोद्धाररूपा गीतयो वीता आसन् ।

पूर्वरात्रमतिवात्या मध्यरात्र आधन्नासीत् । तीक्ष्णरथो वायुरशरायत् । श्वा
शाराः स^१ सुरते सुताः । पयिष्ठानां हिमु प्रहरिणामपि यातायातोऽवश्यम् ।
गमरणदीपाः नूतनय^२ दण्डिता नरा इव च निधत्ता आसन् । एका स्वप्नभ
मुग्धा विधवा विदूरे भ्रमन्त, परन्तु शान्तनिशायां निकटमपि प्रतीयते स्म ।

निशं ! हे आलि ! नाथः कास्ते मे^३

मुप्रासं मुलनिद्रया,

निद्रां स्वप्न ! जदर्थं (स्थायी)

रे ! स्वप्राधम ! वञ्चक ! प्राणाग्निं पियुनक्ति ।

स्वप्नारे ! दुष्टासत्त्वं कथं दृष्टः ॥१॥

मन्दस्मितमुधया हरन , मत्प्रासादमुधाम् ।

^४ विदुतयर ! नार्कं यातोऽसि ॥२॥

गर्शोनाङ्गं विपुलयन् , यमपधीरितदंस !

दत्ताशा मुनया यातोऽसि ॥३॥

मुकुरे वीक्ष्य मुग्धं मयाऽमूषि शरीरं हन्त !

वदनजिननीरज ! यातोऽसि ॥४॥

भूरादुःस्वादं चन्द्रिके ! मयि दुःखं माऽऽपेदि

दितायासनीर्य भगिनि ! ॥५॥

नामि तमिष्या यामिनि ! अचिराद्वा न भूतामि ।

दयितवरमयि ! दयिते देदि ॥६॥

१. अश्वत्थनी गीतः “कु” अन्तः, गीतः निज मित्रारे . पृ. ६

२. दण्डः ६ ।

जलमग्रा अभयन्मम आराधनापत्नीयः ।

मृत्यो ! चरणी ते शरणम् ॥५॥

एतावता भवति यः कदापि न हृदयस्पर्शिनो भवति न च पतिता इव नो स्म, मिथ्यः
न भवति ॥ । ममार्ति शरणोद्भिन्नस्य विरक्तस्य हृदयक्लेशे दुःखस्य दर्शय चर ।

ममर्ति कदापि न भवति न हृदयस्पर्शिनो भवति न च पतिता इव नो स्म, मिथ्यः
न भवति ॥ । ममार्ति शरणोद्भिन्नस्य विरक्तस्य हृदयक्लेशे दुःखस्य दर्शय चर ।

एतावता भवति यः कदापि न हृदयस्पर्शिनो भवति न च पतिता इव नो स्म, मिथ्यः
न भवति ॥ । ममार्ति शरणोद्भिन्नस्य विरक्तस्य हृदयक्लेशे दुःखस्य दर्शय चर ।

एतावता भवति यः कदापि न हृदयस्पर्शिनो भवति न च पतिता इव नो स्म, मिथ्यः
न भवति ॥ । ममार्ति शरणोद्भिन्नस्य विरक्तस्य हृदयक्लेशे दुःखस्य दर्शय चर ।

एतावता भवति यः कदापि न हृदयस्पर्शिनो भवति न च पतिता इव नो स्म, मिथ्यः
न भवति ॥ । ममार्ति शरणोद्भिन्नस्य विरक्तस्य हृदयक्लेशे दुःखस्य दर्शय चर ।

हा । ममः शरणो दिवो मे कृष्णचेतोः शोभितः (भवति)

यं विना ममत्वं भवत्यो दुःखदुःखं दुःखिता ।

ममत्वात् हा । विहाय, मोक्षमदुःखमदिनः ॥१॥

चन्द्रभासिललाटपट्टः, शुभ्रवारिजलोचनः ।

रम्यनैलसुगन्धिमूर्धा हन्त ! दव ! समापितः ॥२॥

मच्छिरः स्वाङ्गे निधाय लालयन्तं सत्यतिम् ।

हा ! लभे काहं हताशा हन्त ! वत ! हा ! हा ! हतः ॥३॥

श्वेतपद्मशिरोरुहा श्वश्रूर्मदोया त्वद्वतिम् ।

याता भवन्तं द्रष्टुकामा नाथ ! नाथय यागितः ॥४॥

तानि पूर्वेदिनानि चित्ते, हा । विचार्य करोमि किम् ।

श्रीनिवाससुरान्तरूपं, संनमामीशं सतः ॥५॥

कुरुया कण्टकितचेता अभ्याकन्दं गच्छन्नेकं भव्यभावनं सज्जनमन इव निरात्तं
वृद्धं गृहमपश्यम् । नूतना रसालपर्णक्षत्रोऽशुष्कानि सिन्दूरकुङ्कुमसल्लिक-
वेडानि अर्द्धमुच्छिताः कदलीस्तम्भाः पूर्णा जलकुम्भास्तस्याभिनवा वास्तुप्रतिष्ठामसूचयन् ।
गतशः क्लिप्तवस्तुषो धैर्यधरा नरा विनता वनिताश्च गतागतेन देहलोमर्षयन् ।
मस्मिन्नेव प्रावशां जनाः क्रन्दन्ति स्म ।

अथाहं विपुलविचारो विप्रप्रासादजिर्वृतः कस्माच्चिन्नुरज्ञातिषु यदिदं जनपदगुरो-
द्विद्विषः कर्मशौण्डस्य विप्राय भवनम् । अस्य चैक एव पुत्रो युवा । एव एका
लोकमथे सर्वहितैषिसभायां स्वातन्त्र्यमुपदिदेश । अतोऽयं शङ्कितमनसा जवपदाभरणे
नेगञ्जितुमाङ्गतोऽवस्थं गृह्युदण्डाय कल्पयिष्यते । निदोषोऽयम् । नवीनं हर्म्यमनेन
विरमायि । वृद्धो बलीपलितो धवलमूर्धा वयलप्रीवोऽरदनवदनो यश्चिभूताङ्गयश्चिभंग-
तसद्दामोऽस्य पिता । अपनेत्रा विदुषश्रवणशक्तिर्जती जननी । सम्यगज्ञात-
नौवनवनविकसा हन्त ! हताशा नवोदा कुलीना सुन्दरी चास्याप्रजा धर्मपत्नी, सर्व-
पदामाश्रय एव वेदविद्याविबक्षणोऽयं विपत्तस्यते विप्रयुवक इति दुःखितानां क-
लायेण सहानुभूतिं प्रकटयति नागरिको जनः । किं न पश्यसि । एताः सर्वा विपुलैर्महा-
ट्टास्तिका मलिनाम्बराभिविद्यवाभिरैवाध्यास्यन्ते । सहस्रशो युवानः सतन्त्रतल्लंघने
समुन्नेत्रबोधिताः पाशेन यमावर्तं प्रेषिता इति ।

रात्रपय एव विप्रप्रासादः पाद्वे आसीत् सर्वहितैषिमाकाश्यान्त्यः । अहं तय

प्रविश्य जवनिकाच्छत्रद्वारस्य गृहस्यस्य कृष्णकाष्ठस्ये 'प्रधानमन्त्री, इति पठित्वा "अन्त-
रागन्तुं शक्नोमि महाशय" इति शृष्ट्वा तेन "आम् स्वेरम्" इति प्रत्युत्तरितः प्रविश्यादाहं
यदेको गृहः समस्तसमस्तोः एकस्मिन् भग्नमलिने पीठे उपविष्टोऽस्ति । मितो च लोफ-
नेतृणां प्रद्वितमुष्मनि चित्राणि ।

बह्व्य प्रणम्य भूतले उपविष्टः "भगवन्, कथं केवं दत्ता नगरस्यास्य"—"अप्यस्ति
कथनं शासकोऽस्य नगरस्य ?" इत्यब्रुवन् ।

"अस्य नगरस्य शासको घुमणिर्ष्यः कल्याणसिंहो नाम प्रख्यातपीठयो वीरेषु,
शासनस्यस्य चाद्यतनेषु दिनेषु नगरस्य प्रशोणा"—मन्दं च उदरम् ।

"यो मामनैव केवलं कल्याणसिंहः पालकम्मन्यः सर्ववश्यः सन्नाथि दुरवस्थस्य राज्यस्य
रक्षन्तैः अस्मदीयैः सुवैष क्षत्रिय उद्यते । तस्मिन् जीवति आपति बैदेशिको राष्ट्रं
विपश्यति, तस्य कीर्तिं कलङ्कयति, क्षत्रिवत्वं व्यपाकरोति, धिग् जीवनम् । धिक् वास्य
"प्रभ्राद्विषमतिनो वयम्" इत्युद्योयः । यथा इरिणप्राणद्वारी इरिर्मृगेन्द्रस्यवयमपि
क्षीबः कल्याणसिंहः" ।

प्रधानमन्त्री—नेतृ सत्यम् । शासकस्यैवं बलवान् कृतव्य एवासीत् । परमधुना
गृहः । केन्द्रस्य गोसाहापीनम् । किमर्थं कर्तुं सक्तुयाद्गणकः । शासनस्यैतस्य न
पारम्पराप्राप्तं किन्तु बलाधिगताम् । तदाहं धिगुरेवासम्, यम पिता कथयति स्म दशस्य
नगरस्य जगद्व्याप्त्यं कलङ्कयमितासीत् । एको राष्ट्रस्यैतिस्यनरे समायत्तासीत् । यावन्तो
नरास्तस्य सन्नुत्सं समागमन् सर्वानमश्यदमारयच । अत्रत्ये नागरिके पलाय्य
नगरान्तरं गतेऽपि राष्ट्रस्यैतिस्यनरे, अतोऽत्रत्याः अपि स्वावं न समन्ते स्म ।
एकदा एतद्वेष्टाधिपेन राष्ट्रं "नदेवं कृते कतिपयैरेव दिवसेर्भग्नप्रभः इत्यराज्यो
भविष्यामि" इति विचर्यैवं प्राबन्धि गत्, प्रत्येकं गृही प्रत्येकं राजाकुलधरं मिश्रीये
स्मृष्टान्तिताममेकं उत्तमं मांसं मर्दिपं सपारम्पमितं मिश्रावेकं नवीनवान् पुषानं
(न तु स्निग्धं) प्रहेषाद् इति ।

राजा प्रतिक्रियं रक्षोमहामातुल्याया प्रत्येयत च "मा नाम राष्ट्रं पाठय" इति ।

राष्ट्रस्यैतिस्य वक्तुः प्रभृति अप्रवासप्रमदन् प्रासीत् ।

एतदा दुर्भाग्यकृष्णसिंहोऽप्येवमस्मिन् नगरस्यैतिस्य नगरस्यैतिस्य आसीत् । इत्येवमस्मिन्

पुनो वृद्धाया मातुर्पुत्र्या निप्रपथकमात्रं गमाध्वः । अमरनाकमण्डनो रजः
 तदा वरयामसि सेनायां सैनिकोऽधिकारिणोऽसूचकित्वाऽऽगतो निप्रपथकमात्रं
 निप्रपथे । अथ यथा सायभालोत्तरप्रः कुरुतेर्दन धृत्कोदिस उत्यामन्व
 यदेष्टोऽधृष्टोः सायन्, मिती रोदयन् निरुद्धगद्गद्गद्गद् बलमशब्दोऽपि इ
 "हा । पुन, तत्राहं वारयामि रथेषुमुशाम्री स' होष्यामि त्वं मा गाः" इति मितर्त्त
 पुन । अगगतलोचनां मुलोचन । को नेत्यति नयत् । सम्भाषयति मलयदत्त
 सुरां प्रश्यति पटो । हा । इतास्मि बटो । अमुर्मे दिनार्थं पालितो दुग्धतृप्तचने
 हा । स्नो । इति समस्तछादनं रदती तन्मत्ताऽऽजुराणि । अन्यतः प्रिय । प्रणेश्वर ।
 मलयनचन्द्र । अविदितत्रयदानन्दारिम । - हा ! इन्त ॥ भवन्तमन्दरा कथं
 हिन्विष्यामि, अन्वेष्यामि स्वामिन् । भवन्तः स्वामिनोऽनुज्ञां पालयन्तः सानन्दं गच्छन्तु
 हा । प्रिय । इति प्रचुरं शीतस्व ससङ्कप्युरासित्वादनं रौरुयमाना युवकाश्चाना
 तानि भुवि लोठयति । एकतथ मुगूर्णवे विप्रवालकाय रक्षसतृप्त्यं चोलक्षलप्रस्कोदितस्य
 तितऊविशोधितस्याजस्य सवत्या" बलपैरन्तिकायां" मधुरं क्षरदाज्यं भक्ष्यं विनियते ।
 कतोऽलिजरेषु", पिठरेषु च "रुजीपपत्रवं शृताकं" सोपस्करं सचुकवेत्तजाशरीकं
 धमेयजजलामिश्रं बाह्यीकगन्धि सनिसालं" साशीवं राक्षससम्बन्धि मिश्रान्नं निष्ठान्न
 रेवेप्यते ।

विदलितभीरुधैर्यं दुःखिनां दयमदो वीक्ष्य समुपजातदयो रूढाजिरे निश्चङ्क
 न, सशङ्कं दृष्टो गम्भीरवाचा तान् सम्मुखयन् प्राबोचन्—“मा शोकं कार्प्यं
 नृतसञ्चलकुटुम्बोऽहं संसारे निरुतजीवितेच्छो मरणमेव धेयो मन्ये । अमुना नधर-
 रेण । ईदृशः सदैवसरः कदापि न लप्स्यते; अतोऽहमेवाय तस्य रक्षोराजस्य
 भूयोवैष्यामि । वृद्धौ । मा शोचतम् । भवदाशालताश्रयः पादः मुदङ्गमूलः
 स्वेरं विलसतु । नवोदे । मा रम तनुं शोकान्निषात्कथीः, न विवोक्ष्यसे । प्लु-
 गोरसवं विधेहि इति ।

द—करत्वं देव । एभिः सुधामधुरैः शब्दैः सिञ्चन्नागतोऽसि स्वर्गतः । परन्तु
 चतुर्नी । २ सूपकारः । ३ चुक्तिः । ४ महाकुम्भः । ५ तण्वाहन "तवा"
 वणम् । ७ सेमनम् ।

अहं भारतीयः स्वस्य सुखस्य कृते न कर्मणि दुःखयिष्यामि । भवानपि
 कस्या अपि अहम्भूतं सौभाग्यं दूरं नयनोत्तवय । अहं स्वनेत्रे शोषयित्वा
 शर्मयिष्यामि ।”

कल्याणो नाम क्षत्रियकुमारो जगति न कम्प्यात्मोऽयं पश्यामि । मां
 न कथन नेत्रे शर्मयिष्यति । भारतीयक्षत्रियस्य कर्तव्यं मां विवशयति
 तद्वत्ते जीवति मित्रकुमारं हन्तुं न कथन समर्थः । अहम्प्याप्तौ भारतीयो
 न ह्ययिष्यामि ।”

(इति एतौ हस्त्य) अहो ! धन्योऽसौ कल्याणः । यस्य नामसङ्कीर्त्तनेन
 म, भक्तिपराध्यायविशेषो भवति स्य बृहस्पत्यापरेष्वपि, मता मामिन्यो
 एव गर्भानपि, राज्ञः सन्देशहरमेव एव विगमिष्व इवामुपगतस्तस्यैव
 यस्य एतौराजस्य पुत्रः स्वेष्वपि प्रविशति, धन्योऽयं धन्यो वास्य
 एतौ सुखदं पुत्रं जनितवन्तौ नः पर्ये प्रेम्णा देहं ददति निरहृदयः
 धीमत्पराध्यायः सुखमपुत्रं वचसति केनेवमाणाः कथमप्यपि वाचनिधयः
 न हिभरे ।

१. तज्जितमभूत् अहं परितुष्टे मांशे मर्दिषे । इतस्ततो मिश्रानि भन्तिम-
 तम् । एतदुपरो मनो मूर्च्छकत्वा प्रकम्प्य हरता न वचना राजसाम्प-
 नः । इति हन्तव्यविषया पुत्रं प्राह कल्याणः । प्रत्यस्तनेहा हा हा ।
 । अहं अहम्प्याप्तमि इति ।

अपस्तम्बसामवेदिना शितदंष्ट्रान् मित्रविश्वं मित्रियं समादय मर्दिष-
 प्रसिद्धे निमंते निरुद्धम् । नैरिहकिन्नेज्जतापराधमूर्च्छे निराचक्षीण-
 तां निरिभूः स्वमिदमुत्पन्नम्, दुःखदमवसंश्लेषो, शोणितगर्भात्वा,
 रित् स्वेष्टेष्टकात्, कटुविट्, कर्षिता मित्रा दायते सः । एतौ
 दारिद्र्यकाययो रक्षेताव त्रिहासनिव सज्जनपुत्रां दीक्षयन्त-
 त्वा एव विट्, कथं नूनं संस्तुतायेऽम्, कथं मीठुपुत्र-
 मीठो अहम्भूत्, शोणितगर्भम्, कटुविट् शोणितं परदारतो वृत्तं,
 अहम्भूत् ।

अवङ्क्षणं कुरुः, प्राणिप्राणहारिणी मयद्भुता मनस्विमानोद्गोपनी मीषणा सामग्री । कत्या-
 णथ विसृज्य विप्रात्मजं कासारं धामयन्, कासारं गत्वा पयः पीत्वाऽर्धगतशान्तिः पय-
 स्परमेचन वराकाय इति कथ्यते सैरिमं दत्त्वा शिलामेत्य अपूषादीनुपवर्हीहृत्याशमिष्ट । ॥
 मौनमाध्वर्युति पतत्रिपुरे, अन्धकारेणान्धीवृतास्तासासु, दिक्षितप्रकाशमानेऽपु-
 ष्पज्जनमिव वर्पति विपति, मृत इवेत्यमाणे समस्मिज्जगति, निशीथदीपेष्विव विद्योतननेत्रे
 स्तयोतेषु, निशीथप्रायायां निशीथिन्वां सहाह्वारं रदसु गोमासुषु, सानलज्जालं
 क्रोशन्तीषु शिवासु, राक्षसागमनमपेक्षमाणे, विचारोर्मिसङ्कुले च कल्याणे प्राक्कलदुस्ततः ।
 मन्दस्यः समीरः क्षणेन स्रग्भरत्सङ्ख्यवतां दधत् प्राक्कल्य मेजे । प्रकम्पनकम्पिताः पद-
 सहतोऽप्रीयमानैः परिशिभिः स्वयामासु राक्षसागमनम् ।

अथोक्तिः ॥ दूरत एवापश्यत्—अश्रुमदर्शनं निष्पेक्षेण भूर्भुवःशान्तिं वा
 विरहोदरमण्डितेन रज्ज्वरस्य वस्त्रप्रक्षालनोपलेनेवादिष्टेन शिरसा, निम्नमध्वेन अर्भित
 उच्चैर्न धूसरोमराजिर्विभासिना भालेन, प्रोप्यत्तौ कूलान्तःकृतां कालिन्दीमिव निरुद्धै
 भरमपङ्क्तिमिव च दयानम्, विरहवर्णां धूसरितां भ्रुकुटीम्, शुष्कामुन्नतशरणां
 भवणीं, क्रूरे गर्तगतं वदरबोजोपमिते सिङ्गतावर्णवदमणी वीक्षणे चोन्मोलमन्तं भेदका
 पूतिगन्धिशिङ्गाणस्तृता दौशवेऽधःपतनप्रसूतया शालागुणैर्भक्षितवैर समुत्पन्न
 मसूरिकाक्षिण्या बभूव इव शुष्कमङ्गलमनभ्यस्तृता विपुलवत्तया मासिकमोक्षदिव्य
 निशितप्रैः शीघ्रं मासिकपुत्रया विधत्तिया वा बहिर्निर्गतेरालोहितवितांशुनारि-
 पट्टविवेकै ररुनैः प्रगूर्णवदनं निरुद्धपुटोभयापरं प्रत्यक्षमानजिह्वं हीनदन्तं सरोवरा-
 निनीराकुपदच्छुदी गच्छी दधन् पुष्पद्रोणिं पाशुमेवैव आलोक्षितेन बहिर्निर्ग-
 तितेन शमध्वजलेन ध्यातमनम्, प्रत्यक्षमोक्षमात्रजन्यमूहया मासिकमोक्षदिव्यं प्रीति-
 विह्वलमन्दनं पीनेन सांप्रत्यमेव मदितानेकनेकमङ्गलेन शिरादिभेदेन वसुधै-
 कविश्वमासुवितर्क्यनम् । श्रुतवाचीकेन मदस्रग्भरत्सङ्ख्यवित्तपुरोपातेपदेनेन ईदं
 प्रथमेन दौर्गन्धनानुमनवलिङ्गतीरं वीरवादिनिष्पेक्षशुद्धीच्छीरदं मनुदमर्श-
 मानमूर्तदिव्यमिव प्रत्यक्षमनुदमर्शानुदमम्, वसितमार्गमनुमनानुमनेन द्वादिनन-
 मानमार्गमनुमनानुमनमनेनेन वर्तमानेन प्रदेयं भीषयमाणं विह्वलमर्शं वीर-
 वदनेन वदन् वदन्तं मासिकपुत्रोदुत्पन्नमनुदमर्शमनुदमम् ।

नुष्ठप्रवेशलितोभयजालुतया समन्ताद् अमन्मण्डिर्गुण्यमस्तपद् इवेतन्ममि स्थलं
भक्षितमुवनमप्यनासुवनं सततं मुञ्जतमप्यलब्धान् प्रफुटविषादिकं समलङ्घ्येव
भक्षितमानवं दानवम् ।

यमभितः दान इव व्याधम्, कुमन्विष ॥ कुनृपसिम्, अष्टप्रतीद्वारा इवोत्कोचिनो
न्यायाधोशान्, मुनिमा इव धनिनं सहचराः केचिदेककर्णाः केचिद्भ्रमनासिकाः कृत्तौघाः
लम्बोदरा भनेशाः काणाः केकराः कुण्डयः शुष्कोदयस्तनुतनवोऽस्तनुतनवमोर्ध्वकेशंभ्रांत-
छाला इवैदमन्त । परिवर्दिषं सज्जनजलपानागस्त्यभूता, नियमयमनेषोऽष्टेदमल्लूपा, वैदेभ्य-
नामिसमा, योगिजनसमुद्भूतमन्त्रात्मा देवाचनप्रसारवीवरुणात्मावत्तामिका कादण्यप्रासाद-
भूकम्पात्रुहपा दयालुदावागमिसमा, विद्यामिषुल्लङ्घनतरुपा, विपुलमुरा^१ अपि सनतनभमौ-
द्धारकमारकपुरहारा आसीत् । अग्रे यं कालात्यस्युत्सर्गेन^२ आटङ्गनाशरणेनेव यमया
संभूतशरीरा, पतिपुटमांसलश्रीवः, हव्याभुमविषाणमण्डनो, ललितलिलकायमानसितोमराजि-
परिष्कृताऽऽप्युपट्टादितल्लताऽऽ, प्रलम्बपुच्छदण्डेन भ्रमता दूरयन् विषसद्भावान्, उपरि-
विन्दारतेन तैलपूर्णचतुर्वर्तिना स्वर्दीपेन प्रकाशितशरीराः समीकृत्यैवः सैरिमः सलीलं
सानन्दं सज्जम्^३ सारयं विरफरितनेत्रं सज्जिह्वाभ्रमणं पश्यन्नाययन् ।

येयमावृतिरेव जगदहन्नुदा कथं न स्वात्तेषां मांसादत्वं प्रवृत्तिसिद्धम् । मतस्ते-
पामाणमनेन मुता विमङ्गलयोऽपि निर्शं षड्दुः । सहसा दीपो निर्वाणतां गतः । अग्रादे
तमसि एवै सहचरा इन्द्रियागोचरतां लभ्युः । सचन्द्रप्रवेशदुर्धराऽर्धतरङ्गनाश्रुती राक्षसश्च
छिल्लसमीपमेत्य क्रीदन्तं तं मद्दिगन्तुवमभ्यस्य सिद्धान्तस्य न्यूनतां मद्दिगामभव
विमान्य वगरदहिता क्रोधाग्निना भीषयमाणः “कस्तवं रे ?” इत्युच्चैरब्रवीत् ।

मौनमवलम्बमाने च हरिमन् पुनः च सतिमानमाह—“मुनूषो ! मन्दमान्यो वो भूयो
होमद्विषं मां विरगृतकान् किम् ? किं स न वेत्ति यत्तव वगरं मम प्रातराद्यादाप्यहस्तम् ।
सत्त्वं च कथं विप्रवीयात्, यदापि तन्मयेरे एषु दिवसेषु नास्मि । अस्तु, स्वल्पमुना

१ मुनीन्, मुनीन्नि निवले=द्विभान्ति शब्ददन्ते=मंसं दन्ति च । माण् मने शब्दे
च “अतोऽनुगच्छं कः । २ विपुलाः मुता भक्षितमुदनप्रवृत्तयो दत्तामेव भूयति ।
३ एते=विपुल मुता=मक्षिता दत्तां सा । ३ टेह ।

दंष्ट्राभूषणं विधाय नगरं प्रवेश्यामि, दत्तिष्ठ, स्मरामीष्टं यावदहं बुद्धिशक्कूण्णां
कराम्यां त्वां नामृशामि ।”

विपुलोत्साहः रिमत्वा कोचोत्पन्नवेपथुरत्याय सम्मत्संयन् सोऽज्जुत—कोऽसि रे ?
सत्त्वाधम ! किमर्थमुपशिलममत्वं निद्रां हास्यसि ? स्वपिमि, सपथपथर इतः, सिद्धस्य
मुत्तनिद्रामज्जको भूगो मा भव ! याहि याहि दर्शय पृथम्, इति ।

राक्षसे स्वश्रुतपूर्वैः परमवचोभिर्ददीक्षितमन्वी कल्याणः प्रबलपराक्रमया तौमगेलेक-
भयह्वरया हवया साष्टशुद्धाङ्गुलिषट्पदा सिद्धया मुष्टिकयोर आहूय सप्रौढि भवद्
”राक्षसाधम ! समेतस्ते मृत्युः । रुदर्य ! नाधुना ते विमुक्तिः । तावद्भूर्जं शोच भ्रम
उच्छल यावन्मम मुष्टिद्विविनष्टतनुयष्टिर्मुक्तिमवाप्ययेतसमीरो विमुक्तमलौऽन्यसि-
ञ्जुपि कस्यचिद्भस्त्रोऽजिरं न पश्यसि । विपुलाय ! बद्धस्त्वया धर्माध्या देशान्ताः
मानिनो विपक्षितो नीच ! भक्षिताः । विषधानेप्रनिःस्थन्देन महीयसी सरसी स्वया
सम्पूरिता अधुना त्वधन्य ! प्राप्तस्त्व प्राणहर्ता कर्ता चित्रपुरवासिनागरिकनिद्रास्य
सुखम् । चिन्त्यान्त ! चिन्तयान्तिमचिन्तनीयम् ।” इति

अथ श्वेडालुकारि घनघनापनष्वाभानुसारि दमितजगारि वच आभाष्य उत्तुरयाय-
समिव सच्छिरो हवेन करालकरतलेनामृदुलयात् । पुरोपयोः सत्वरपदन्यातमृदुलितघापो-
मुष्टिकापतनसङ्कुचितावयवयोः सिन्नसिन्नयात्रयोस्तयोः सञ्चानं सुकरतलपातं बभूव तुमुलं
जन्यम् । ततः स शुण्डिशुण्डामिव प्रचण्डां शिलामिव भीतां घातप्रामस्य
माहिपीमिव आयसीमिव तदमीवां दौर्दण्डेन मृशमाहृत्योत्थाय गजमिव तं बलदत्तं
श्रोण्योर्भुं तलेऽपातयत् । तेन च दिगन्तव्यापिना कणकुहरमेदकेन प्वानेन भीतः पक्षिपू
आख्यातुमिव विपद्दिहारिणं विनतानन्दनं शब्दितसकलप्रदेशो दिशास्त्रगमद् भूते
केकाभीषितजर्म केचिदम् ।

अयासौ प्रसृतस्य तस्योरसि समुपविष्टस्तुदन् वचनसूचीभिः प्रारब्धमुष्टिद्विरवधीत् ।

“रसोऽपसद ! अगतोविषाद ! निषाद ! क्षणस्याग्निनस्ते प्राणाः स्मरामोष्टम्” इति ।

परं परमगर्वः स कोपाद्गुण्णभीक्ष्णः पद्भ्यां दद्भ्यां नचाभ्यां तुदन्, नासिकया प्रबलं
समुच्छ्वसनं, मुप्याऽऽहतो गृज्जि, केनमुद्रमन् नया क्षिपत्, मुखं व्यादाय शत्रुतो मज्ज-
मर्दनमनुभूयानन्तविधाममन्वभवत् । तस्य प्राणमरुत् नागरिकमित्रतेव सद्य एव

लघ्वेन वीतः । तस्य पण्डितमपि सुखं भीक्ष्वैर्यं पयंकृत । अन्यः स प्रदेशः प्रहार-
कोलाहलेन गुञ्जितः । तस्य लोहचपेटा अयोधाः प्रहाराः सक्रोधे ज्वलन्ती चक्षुषी
निशिता इन्ताः स्फुरन्तावौघौ निःश्रान्तो नास्तिका तस्य वीरत्वपरीक्षायै भटमासन् ।
परं स इतीर्णः । तस्य च वर्णनाद्यानिर्गतेन मेदस्त्रिना नोत्सगादेन पिच्छलेन प्रालिप्यत
वक्षुषा हस्तलेन, इध्नी धन्वर्षास्यां मुमुक्षु इव मेदस्त्रिनी ।

अथासौ अन्यजन्यधर्मभ्रान्तो विस्तृतं माहिषं चर्मास्त्रोर्यं रक्षोवक्षोपधानी-
कृत्य गाढमशमिष्ट । शशास्त्रबाणसारातिव्याघ्राटकर्मरेटुककचसकुरप्रबन्धकोलप्रादि-
दाक्षायकौचकुरराणां शोषेण सम्यं बाणजालेन सविस्मयमुद्रितोऽपश्यत् स यत् तार-
गम्भीरं सुरजमृदतालपरिवादितरीवादिनो वैपश्चिकाश्च पश्यन्ना समामान्ति । खर्ज-
सुत्रितकुपस्यमणिजटितकार्तस्यरक्तल्पमार्गा मरुन्मत्तसलीलममन्तायां दन्ताबलवनितायां
चित्रपुरपतिः मन्त्रिप्रभृतयोऽसंख्यताः सुवासःसज्जितवाणिजः आदिनधायन्ति एव ।
कल्याणस्तु सैनिक आसीद् व्यबहारानभिज्ञः युक्तव्यायाऽऽगच्छतस्तान् विशङ्कमानो
विकोशासिर्वासीडमर्षाद्योदतिष्ठत ।

“देव ! स्वागतं विनीतभावेन विवेकम् , पुनरयमस्मत्पुराता सविशेषं सत्कार्यं, अतः
पद्भ्यामेव चलन्तीयम्, अन्यथा कौ जानीते किमाचरेदेव युवा” इति मन्त्रिणा प्रतिबोधितो
हस्तिनोऽवतीर्थं करकलितपूजापात्री मन्त्री राजा च तमभ्यर्चयामास समारोहेण पुरमानयच ।

“वीरवर ! देशस्य दुःखमपनयन् सपरिवारं राजानमेव न हि, सकलं देशमेव वशी-
कृतवानसि । अतएवैवं प्रचुरं कष्टं निषादं स्वकीरित्वा देवभोग्येऽभ्यां कृतवानसि ।”

कल्याणः—आर्य ! अक्लृप्तकार्यमात्रमानं भवत्प्रसन्नितं भुत्वा किङ्गे मि । क्षत्रिय-
धर्म एव । का वशीकृता ।

मन्त्री०—महतां महत्त्वमेतत्तद् देववर्यं कर्म कृत्वापि न प्रमादयन्ति ।

कल्याणः—केन सूचकेन राक्ष एतत्कष्टं दत्तम् ।

मन्त्री०—विपश्चितामपिधम ! जगति जना ज्ञानदितान् वीक्ष्य प्रहृष्यन्ति ।
ते चावसरापरदिने तत्र “अर्थं स लो हतः”—इति दिदृक्षया यान्ति । तैश्च भीरुभिरप्य
महता प्रपासेन राक्षसो भूतो भवः । ततश्चोपहारलिप्यः क्षतमेव त्रिदण्डाग्रा

राज्ञः राक्षसमारणं सूचयाम्बुः । केचन दलमाद्योज्य वासांसि लिप्त्वा “अरमानिः
॥ देव ! प्रसह्य हतः” — इत्यपि प्रोचुः परस्परं व्यवदिशुः । महाराजमुत्तगमने नवीनं
ज्योतिरुदगात् । मानससमुद्रस्योपहारतरङ्गाः कराभ्यां निर्जम्बुः । प्रभाणामधिकारप्रार्थना
स्तिरितानि । सर्वेषां मुख्यो भवैर्मृताः ।

अहं विचार्याबोधं “देव ! किमर्थं निर्धनीक्रियते कोशः । अत्रत्या एवैते न
कदापि व्यापादि राक्षसोऽग्रस्थैरेव । अथ किमेषु दैवं बलमुपेतम् । देव ! यदि
राक्षसो मृतस्तर्हि अनन्यथाभारणो हन्ता तत्पृच्छतु कस्यावसरः कोऽगमात्” — इति ।

तत्र च व्यतिकरे भवद्रुमनं भवच्छयनच विदितम् । अतः परं यज्जातं तज्जातं
एव धीमहिः ।

कल्याण—आम् ।

मन्त्री०—कस्य वंशस्य विभूतयः देवः ।

कल्याण—राजन्यकुलप्रभोऽहम् ।

रासारणे सदासोभूकैर्नैर्नारीभिश्च कशुमन्मिमर्षपुराणवाग्मिभ्याद्रियमाणः कदा
राज्ञा राजमवनमावीतः ।

केवलमेतन्नगरनिकाशिन एव न हि प्रान्तीयो अत्र रागूहिताः । मन्त्रमदेदेह
राष्ट्रात्तरङ्गिता आगन् । सर्वो जनः प्रान्तप्रणप्रशतुर्दर्शनाय आकृत आसीत् । इत्यत्र
महाराजेन सह राजमवनस्य गवाक्षे स्थितो जनसमूहं नन्दयामास । विदग्ध
विद्वद्गदीषा लोचकधूर्ति चमदधूर्तम् । महाराजश्च लोचं सम्बोध्य “अविदितता
महात्म्येन प्रवीचत्—

प्रियः प्रजाः ! अद्यतनं दिनममजीवनस्य प्रदीपप्रमं दिनं वर्तते । केन एतौ
कदा रौत्या केन कर्मणाऽप्य महाप्रमादस्य मूल आमारं प्रदत्तं भूमी मनो न निधिनोति
अमर्त्यस्य नैदाहं किमर्थं यत् प्रत्ययं ययमप्यममगादयमः ।

राज्यकारे राजनः राजा मृतं पटीति वृत्—इत्येवं तेजोऽतिशयिषा
राष्ट्रस्य मन्त्रयोः अत्र च एतदुत्तरं शिष्येण राजर्षिर्दत्तः । एतद् पुनरयमर्थः
यत् वर्तते । अनेन राजा अविदुर्मतिः । मगल्य राजा परं दीप्यतेति ।

चितम् । अस्माभिर्दीरात्म्येन कृतकृत्यसम्पत्त्या सोऽहम् । अहं युवान् वीर्य-
भक्तुमो लज्जितधारिम्, एत इह प्रमृति क्षयमेव प्रश्नार्तां शासकः । लोकस्य न्यायं
योग्येऽधिकारिण समर्थं मारुदितोऽहं नितरां प्रसीदामि । कवीनवरपालस्य शासने सर्व-
विधमानन्दमनुभवन्तो भवन्तः प्रेयः धेयव्याप्नुवन्तु—इत्यस्तु मे शुभाशीर्वादः इति ।

महाराजः स्वयं स्मरुदं तस्य शिरसि पर्यधापयत् करवातं कस्योरादावर्पयत्,
धामरश्वादाय सर्वतः प्रथमं व्याजयत् ।

महाशय, अधुनायं नितरां वृद्धः केवलं माममात्रेण राजः । केन्द्रदेशानुरागिकार्य-
निर्वहणे विवशाः किं करोतु वराहः इति ।

अप्याहं प्रधानमन्त्रिणं सम्भाव्य प्राप्य कटुनाऽऽलपितुकामस्तरमावर्त्तं गत्वा ममदूतो-
पमैश्चतुर्भौ राजपुरैः कृतोत्थं २२२सप्तद्वयं सहयोगिभिर्भविष्यत्कार्यं क्रमायाऽऽलपन्त-
मनिरासाधारणवैदुष्यमनालस्यं कर्म कर्तुमाप्तेत्यन्तं विप्रयुक्तं वीर्यं तद्वाचमुग्धस्तस्योद्देशं
विभाव्य तस्य जीवनं परमावश्यकं मन्वानं सदयोजयम् :—

“भान्याः, शासनस्यान्वाप्य पां काष्ठां स्पृशति । परोऽपराप्यति दण्ड्यते वापरः ।
अस्मदीया एव भान्याऽश्मान् हन्तुममेताः । हर एव गलमपिहीयेत्येत्कथं
जीवनम् । अस्माकं धातर एवमाम् हन्तुस्तदा कथं जीविष्यामः । अस्माभिः प्रतिज्ञातव्यं
वर्णं संघटिताः शासनमनुकूलविधायः । एतदर्थमेका विचारपरिचिन्तं स्वतन्त्रोपपत्ते
परेषु वि पञ्चनदनसमये भविष्यति सर्वैः समेतव्यम् । एतदङ्गान् सर्वेभ्यः धावयितव्यं
देवाधिका वनाः समागच्छेयुरिति ।”

वृद्धानुपगम्यावीथ “सोकं त्यजतम्, अहं भवत्पुत्रमन्याश्च कदावासितं उन्मोषयिष्यामि
नो चेत्सीकृतापराधो भवत्पुत्रस्थाने शूलमारोक्ष्यामि । अहं वक्षयिष्यामि वन्द्यम्
प्रबन्धो मराज्ञा ममि रोमप्रस्तेऽनेन पठितः । पाठो विदोषः । भवत्पुत्रस्य
रक्षणं देशस्य कृते परमावश्यकम् । पत्नी गवन्तौ यौ स्वार्थं परित्यज्य देशस्य
निर्माणाय स्वातन्त्र्याय च प्राणार्थकं सुतं प्राप्तवाताम् । भवाद्यामाश्रयेणैव स्थिता भूः” ।

त्रयोदशपत्न्युदे पञ्चनदनसमये स्वतन्त्रोपपत्ते मनुष्याः स्त्रियश्चाध्यायुः । धरिणी
मानवान् प्रसवमानेव प्रतीयते स्म । पञ्चनदनपण्यधोषेण सममहमुत्थाय समार्चितपदाय
जनपदगुरुं प्रस्तूय पार्श्वमग्रे स्थापिताया भारतम ह्युः प्रतिमायां गते पुष्पहारं समर्प्यबोचम् ।

समवेततद्दयोगिनः । सुदृढः ।

सर्वतः प्रथमं स्वं सर्वथा निरीक्ष्यतमभिः प्रतिज्ञतव्यम्, यदहं स्वेच्छं स्वं भारताय तस्य सेवायै स्वतन्त्रतयै उन्नतयै च समर्पये । एतदर्थं कदापि न हिंसा रोदः काशवासी मशकादनं परिजनैर्वियोगः क्षुधा द्रव्यदण्डो मृत्युश्च मन्त्रिर्नये प्रतीतिर्न म दायाः । स्वार्थे परित्यज्य देशहिंसाय वनेवर्गधर्मनिरपेक्षः कार्यं करिष्यामीति ।

युयं सर्वे भारतस्पाधिस्तयः स्वतन्त्रे भारते सर्वस्य समानमुत्तरदायित्वम्, इदमनुसृतं भविष्यति यद्दहमाक्षययामि, परमहं भवमिहिनियोजितोऽनुसिष्टः सहयोगीश्च निषेदयामि ।

अस्माभिर्महोपाधिका संघट्टा देशस्योत्थाने यतिव्यम् । नृदेनैतद् विचारार्थं यद् स्थायीनं भारतं द्रष्टुं कः स्यात्स्वति—एष विचारः कर्मणि शीघ्रिन्मौहासीन्महापादवति । सर्वेषामस्माकं कर्तव्यं यद् वयनरमजीवनसर्वस्वं स्वतन्त्रभारतस्वाधारिणिताया अवलम्ब्य स्थापयिष्यामी यत्र कोऽपि नेष्टेत । अद्यतना भोगा अस्मद्बान्धवकविषा हतव्या अवधार्यताम्, परतन्त्रतायां भूतादनात् स्वतन्त्रतायां वसनादनं गरीयः । महमभिः प्रता घासमेव जघास ।

विभ्रसन्तु, एष दासो निजये पराजये तेजसि तमसि सुखे दुःखे सहैव भविष्यति । अहं किं दातुं शक्नोमि, कृते क्षुपां तूयां धर्मं खेदं हर्षं मृत्युं वा । एतजीवनं भारतमातुश्चरणदोरर्पये ।

सुहृदो मातरो भगिन्मम,

संपर्यं चालयितुं धनस्यावश्यकता वर्तते । निर्वनो हासमर्थः स्थातुमचष्टे समये । एतदर्थं युगम् । अर्थरयाय महती प्रतिष्ठा । धनस्य प्रतिष्ठोन्मूलनमस्माकं ध्येयम् । परं नार्थं तस्य समयः । अतः कष्टकेन कष्टधर्मिवानेन परतन्त्रतोन्मूलनीया । अस्माकं कार्यं न सरलम् । सङ्घर्षो दीर्घकालः कठोरश्च सम्भाव्यते । शासकस्य हृदयं नवनीताभं न भवति अपि ॥ यज्ञमम् । यत्र स्त्रीणां शोकाराः शिशुनामार्तनादः श्रदानां धौतकेशाः अश्रुद्रमं कर्तुं न शक्ताः । अतः सर्वसाधनानां संग्रहोऽस्माभिः कार्यः । अस्माकं आतरो भगिन्मम करकवाला मुमुक्षुकाभादाय सर्वविधाः परिस्थितयः प्रतिरोद्धं समर्था भवेयुः, यत्पि नास्माकं धारत्रेषु विधातः । परं शमाऽपि दासो त्यामेव वरीयसी । अस्तस्य चरित्रमप्रियाभिः प्रशमिनेदमतासितव्यं यद् परेषां

छटेन व्यसनेन लुण्ठन्तो धनिनः, साम्राज्यवादिनः शासनस्य लुण्ठने साहाय्यमा-
तोऽस्मत्साहाय्यं करिष्यन्ति । यैर्धनिभिः स्वार्थं साधयितुं स्वल्पैः साम्राज्यलोभ-
समित्य विश्वराजदाता कृपकोऽज्ञाय परमुखापेक्षी, विश्वम्यापाराय तन्नुन् वयन्
वायञ्च तरण्याः पुण्याः लज्जायै वासांसि यानमानो विदितः । कार्मण्यविषयमनुसृतं
दं दिग्गजापि शङ्करवासं गच्छन् मत्सुं शयितः, स एव समाजस्य कलङ्कः स्वार्थी
हा इव शासनस्य घटकः सस्य साधारणमनोरजनाय लक्ष्यो रूप्यकानि प्रवाहयति ।
न्यायो बहुदितं यावन् न स्थास्यति । आयुर्विदो धनी ज्वालामुख्या क्रोडति
ति सोऽनवदितो निधितं प्रतिप्यति । किं सम्भाव्यते सोऽरमाभिः सहयिष्यते ?
मार्कं तस्य इतिप्यति, स्वाधीनसंघामामौ दत्तपत्यकुतीरवहेलपिप्यति, क्रीडोऽपि
स्मरतः प्रेमश्रम भवयितुमेतिप्यति । स्वार्थिनो देवता वा सुविदेवता वा स्वाये
! एवं शोषयतां धनिनां वा भान्तरम् ।

दृष्टीतयनस्य कणाः स्वतन्त्रतामन्दिरस्य पवि विवर्तिष्यन्ते, भारतमनुधरणयो-
न्ते इति ।

मास्थले विशेषतो विषयाः त्रिव आत्मनिरलङ्घना नराध, तयाप्या-
त् इतिस्त्राभूत् । लणेनैव भारतमनुधरप्रभुः वर्णनासायताभरणैश्चगुलीयकेष
। परमनेन श्रीणां सुमिर्न वाता, तामिर्न कलमासीद् यदय धनसंप्रदो भविष्यति,
एदिने समये आजगृहः । तासामाग्रहेष्व द्वितीयमिन् दिने तस्मिन्नेव समये
। समाऽभूत् ।

रस्य सर्वाः त्रिवोऽय आङ्गनिता इव वीरोयस्येभु बलप्रामान्याभूयान्यतय्य सम-
वोयेताः । तासां मुखेयदैव मित्रेषु वा वेरोमयी चक्षुषा ध्यायत् । आभूयजानां
गुह्यन्यानां राजतानां सौवर्णानां भावनानाथ कृष्टं भारतमनु धरषयोऽजंतम् ।
अपराधो नवन्तान् प्रेषितवत्यो बालिकाः पुट्रिटाः श्रमदलज्जालमुप्यो
महेत्यः समं वात्सल्यमुभूत् ॥ इदाः स्वतन्त्रमात्रवेदिद्वयां जीवनसहितं
यचैतुः ।

निरास्यं रुदतीं सुवर्ति समलम्ब्य मुञ्चमुञ्चदिता वपदताः त्रिवः सनातनानुः ।
नयिदवपुः अत्रेव प्रुष्टा भयता सरेष शबोधयन् मदस्यः शरत्

मुशीलो युवा भर्ता राजद्रोहापराधे बद्धोऽयं शूलमधिरोषित इति । “हन्त, हन्त,” इति कोलाहलः सर्वतो गगनं व्यनाडयत् । अश्रुपूर्णरिक्तलोचना रमणी च ससौभाग्यसिन्दुरेव सह रत्नखचितं चघत् निरोरक्षमञ्जलीं कृत्वा भारतमातुधरपथोरार्पयत् ।

सत्यम्, ईदृशदेव्याधरणरेणुं ब्रह्मेतुं देवास्तपोरता मुनयश्च तालाविताः ।

एका वृद्धा स्वलन्ती एकेन हस्तेन बह्मसाविलटं चित्रं परेण च दण्डं दधती सनेना । हिमश्वेता सा रुदत्यवोचत् “एतन्ममैकमात्रस्य पुत्रस्य चित्रमस्ति । अस्य स्ति महः पण्डितो विद्याव्यसनी मनस्वी निर्धनी युवावस्थायामेव देहमज्जहात् । तस्मान्नि-
मेष्टाऽऽसीद् यत्तस्य पुत्रो महान् विद्वान् भवेत् । भिक्षा परदा निषिद्धाऽऽसीत् तद्गुण्या च पुत्रमजस्रे निम्ना दमनीया भावना न भवेत्ततोऽहं वनात् शुष्कं वृक्षं समानीय विक्रीणन्ती सुतं पाठयन्ती शीघ्रन्त्यासम् । एकदा मम पद्मशकरीं निर्मलं भागमाणी भागवकः साधनेनाबद्धः । एको गौराङ्ग आयुक्तः सह दशमिरम्यै रामपुष्पैर्मुक्तं मिष्टमाह्वयवद्—“बन्दे मातरम्” न वक्तव्यम् । परं विद्वत्साहच्योऽदम्योऽपि न तस्यामे एव तत्पर्येण “बन्दे मातरम्” इत्यवदत् ।

पद्मशकरीतिरपिकारी कथायाऽऽहन्तुमादिदेश । विद्यालयस्य प्राङ्गण एव सा सञ्चरति शब्दायमात्राः कथास्तस्य कमलकोमले कलेबरे निपेयुः । एतदन्तरं मायङ्क-
कान्तिर्न भोजनमादत्ताहमप्युपेता । स बन्दे मातरमिति वचनम् भूमौ स्तितः । तेन कदापि साधनं नष्टमृतमसीत् । तस्य त्वयो निर्मलवद् रक्तं ध्वजं त्व । शनैरुच्यैः “बन्दे मातरम्” वदत् स कीदृशजलि भारतमनुधावयोरार्पयत् । गौराङ्ग-
स्य सिद्धयितः सा चित्तोरण्यं सतीतकं निहन् व्यामिश्रः प्रिकतां वसतः । अतः च ब्रह्मन्त्या पत्यन्ती सप्तशतमनसर्विधं दृष्टवत्या उन्मत्तेव विस्मयितेया शिशोःपतीरे-
न्त्याव मूर्च्छिता । दिक्पञ्चजनरं ममेतज्जे मन मूलं भगता । गौरी सरमेदीर्घाङ्गी
वचं पुनमपुनपुनर्यमिदमप्यन्तो अर्पयत् । समस्तं घटीरं सतीति वचनं
स्वीकृत्यवदत्, यति इद्वहं पुनर्गच्छिता ।

तस्य विराड्ध्वजं मया सुखं कोनमयं, ददौव एतां मतिं प्रभितमता मया
जगत्तं शिशोःपतिरसौ साक्षाः निर्यतिता । अजस्रोऽयमाः पुत्रा व द्रव्यं, एतद्वर्ण-
मन्मथं शिशोःपतिः शर्मन्मन्मथमिति—इति कथायां वृत्तिं विना मूढे

१२५। वृद्धनिश्चलेन सती जनः स्फुटं रोदितुमारेभे। अश्रूतोः नेत्रद्वारेऽमान्
 १२६। अनायाद्विह्वला, धैर्यस्य वन्द्यः कथसो मग्नः। कथो मग्नः। विप्रान् मनसिता
 १२७। सुपरिमितं तावदेष्टोः करोते च प्रयुक्तमपीत्। वृद्धा विप्रं क्षीवणीं तावता
 १२८। प्रयुक्तमपीत् तावता स्फुटं।

अहमुपवसोवम्, वयमवस्य सकला भविष्यन्तो वयमदयः सारगगतदीनास्तंरिप्राप्त-
 १२९। दम्नो निवर्तन्ति, तद् भारतं कथं विरंहेत्? यानिः पतया पुत्रं भ्रतरी पितरः
 १३०। जनाथ एतादीनामर्थे रक्षामावर्तिता आहूताः, तासां भारतं कथमवर्तिहेत्?
 १३१। तपते भावनेनो मुक्तो मयं वयमदात्। अहोदृष्टाः जननामधापदम्।

प्रयुक्तम् अयमे विरचोदयेऽयमाहं भावमिदं यो भविष्यति। अहमहवसानमनु-
 १३२। त्परादहं समीकन् समीकतमेति। अयमाहं जीवन्महीः प्रत्यर्पमणी विद्यमाने,
 १३३। तपिताये पतयासो मरुताः इव। वयमवदीया विद्या विद्यामिन् विद्याल्लेख-
 १३४। नानुपनी। जगत्तं सगद्विद्यन्ति। अयमाहं मुष्टिमेवं मयं यदि विनश्येत्,
 १३५। न विद्यम्। तावन्मदादाकदाच भविष्यमाकाय भविष्यदभिविद्योऽहं दीपः। तेन
 १३६। मणी जगत्तपमयका। कथं वयमोर्ध्वं निवेदितुमुपुषा यदेन उपपत्त्य-
 १३७। त्पत्तिः कथम् मुष्टिमेदायां तावन्मदादा कथम् भवन्ति तावन्मदादा कथम्
 १३८। तपिताये पतयासो मरुताः इव। अहमहवसानमनु-
 १३९। त्परादहं समीकन् समीकतमेति। अयमाहं जीवन्महीः प्रत्यर्पमणी विद्यमाने,
 १४०। तपिताये पतयासो मरुताः इव। वयमवदीया विद्या विद्यामिन् विद्याल्लेख-
 १४१। नानुपनी। जगत्तं सगद्विद्यन्ति। अयमाहं मुष्टिमेवं मयं यदि विनश्येत्,
 १४२। न विद्यम्। तावन्मदादाकदाच भविष्यमाकाय भविष्यदभिविद्योऽहं दीपः। तेन
 १४३। मणी जगत्तपमयका। कथं वयमोर्ध्वं निवेदितुमुपुषा यदेन उपपत्त्य-
 १४४। त्पत्तिः कथम् मुष्टिमेदायां तावन्मदादा कथम् भवन्ति तावन्मदादा कथम्
 १४५। तपिताये पतयासो मरुताः इव। अहमहवसानमनु-
 १४६। त्परादहं समीकन् समीकतमेति। अयमाहं जीवन्महीः प्रत्यर्पमणी विद्यमाने,
 १४७। तपिताये पतयासो मरुताः इव। वयमवदीया विद्या विद्यामिन् विद्याल्लेख-
 १४८। नानुपनी। जगत्तं सगद्विद्यन्ति। अयमाहं मुष्टिमेवं मयं यदि विनश्येत्,
 १४९। न विद्यम्। तावन्मदादाकदाच भविष्यमाकाय भविष्यदभिविद्योऽहं दीपः। तेन
 १५०। मणी जगत्तपमयका। कथं वयमोर्ध्वं निवेदितुमुपुषा यदेन उपपत्त्य-

अहो, अहोदृष्टे वा भूतानां वृत्तानां वृत्ते सगद्विद्यन्ति। वयमहं सगद्विद्यन्ति-
 १५१। त्पत्तिः कथम् मुष्टिमेदायां तावन्मदादा कथम् भवन्ति तावन्मदादा कथम्
 १५२। तपिताये पतयासो मरुताः इव। अहमहवसानमनु-
 १५३। त्परादहं समीकन् समीकतमेति। अयमाहं जीवन्महीः प्रत्यर्पमणी विद्यमाने,
 १५४। तपिताये पतयासो मरुताः इव। वयमवदीया विद्या विद्यामिन् विद्याल्लेख-
 १५५। नानुपनी। जगत्तं सगद्विद्यन्ति। अयमाहं मुष्टिमेवं मयं यदि विनश्येत्,
 १५६। न विद्यम्। तावन्मदादाकदाच भविष्यमाकाय भविष्यदभिविद्योऽहं दीपः। तेन
 १५७। मणी जगत्तपमयका। कथं वयमोर्ध्वं निवेदितुमुपुषा यदेन उपपत्त्य-

अहोदृष्टे वा भूतानां वृत्तानां वृत्ते सगद्विद्यन्ति। वयमहं सगद्विद्यन्ति-
 १५८। त्पत्तिः कथम् मुष्टिमेदायां तावन्मदादा कथम् भवन्ति तावन्मदादा कथम्
 १५९। तपिताये पतयासो मरुताः इव। अहमहवसानमनु-
 १६०। त्परादहं समीकन् समीकतमेति। अयमाहं जीवन्महीः प्रत्यर्पमणी विद्यमाने,
 १६१। तपिताये पतयासो मरुताः इव। वयमवदीया विद्या विद्यामिन् विद्याल्लेख-
 १६२। नानुपनी। जगत्तं सगद्विद्यन्ति। अयमाहं मुष्टिमेवं मयं यदि विनश्येत्,
 १६३। न विद्यम्। तावन्मदादाकदाच भविष्यमाकाय भविष्यदभिविद्योऽहं दीपः। तेन
 १६४। मणी जगत्तपमयका। कथं वयमोर्ध्वं निवेदितुमुपुषा यदेन उपपत्त्य-

समागमो यद्यपि सिद्धान्तविद्वाद्भासीत्, परमज्जनजनरिक्ताय, रज्ज्वकारवत्ते सिद्धमानेभ्यो लोकाभावात्तदधिकारिभावनस्य ज्ञानं समागमनसिद्धित्वं न तद्विहितगनयास्तस्यावासं गताः ।

पामलोभि कस्यापि समानशीलस्य धनिनो विशालं भवनं तेन स्थापयति नृपः ।
 तस्य विशाले समास्थले कुसुमपुष्पमालाधारेषु पुष्परीकसितेषु सहस्रशः काचनज्यै
 उत्प्रमाः प्रदीपाः प्रयोजन्ते स्म । अमितं चरविष्टमिदं दशदशानामभिरसरोमिरविष्टं
 मिन्द्रपुरीमनुकुर्वति समारपले मगरस्यानजितवना धनिनः कृषकोपाजितण्या समन्ता
 उत्कौचिनो राज्याधिकारिष्वथ कौशेयास्तेषु नृहनुस्वर्हपृष्ठाः मयं श्विन्तस्ताम्बूलं चर्वन्तः
 पतद्ग्रहे निष्ठो वन्तो धूममाकर्षन्त आसन् । मध्ये च विलासलीनः सलीमः ।

*

★

1

गृहीतमुद्रेण द्वापल्लेन बहिरेवात्सृजि यदुपस्थाता महोदयो गानसुनासिसनक-
नेवान्तःपुरं प्रवेक्षति, आलापेच्छा चेत् प्रतीक्षितम्यमेव । वरं कोणे कथयन्मनी
प्रातस्थाना हृदये शोकचस्येन विद्धा अपि गानमखे उपविष्टाः ।

अथैकाऽऽनसशिखान्तं रजसविता नर्तकी निःसरदन्तचन्द्रा पौर्णमासी विरेह मल्ल
अनन्ताचयत्तारसमायुक्तं पारावताम्बरं शिरसा बहन्ती स्यूतरजननीतकैशेनचन्द्रा
विद्युत्तेजो मयमुपेता । सा जानुभ्यामवनि यत्वा बृहत् कमलकुङ्कुमं हस्तयो
विकास्य अजलावादाय स्मितेन स्मितयन्ती सभास्थलं जनसाधुवादेन सार्द्धमुत्प
शरण्यापौराण्यत् । पार्श्ववर्तिनो ज्ञातं यदुपस्थाता महान् कलाकारोऽस्मादुदये
शुरुवन्दना ।

अथ सा प्रतिस्पदिमिलनैकैषैषविक्रमादंज्रिकैरनुस्वरं प्रकण्ठमिलगता हस्तैः
 भ्रमयन्ती विरक्षितपदन्यासा इन्वयः सिरसि मध्ये च हस्तं न्यस्यन्ती अङ्गुष्ठपद्मं
 परस्परं योजयन्ती मण्डलितचञ्चलतातका अलच्छन्नचित्तहस्ततला विद्युदिव च-
 चान्वया अङ्गुष्ठानूपुरा कदाचन चूर्णकुन्तलान् स्पृशन्ती कदाचन भ्रमभागायमार्गं रत्नं
 प्रकण्ठयन्ती कदाचन मुद्रया हस्तौ संयोज्य विभजन्ती उत्तरीयं हस्तयोरुदय वातकेन
 रतिष्वत्रमिव प्रसारयन्ती पादतलेनापि ताळं रचयन्ती चन्द्रमुद्रया विश्वं विमोहयन्ती
 पद्मविलासविभासिसौन्दर्या मुद्राभिरेव गान्धार्यमुद्बोधयन्ती सप्रभमुत्ती ओद्भुता

भार्य मानवमानसे उद्दिश्यन्ती प्रीतिं मय्यपि कल्पयन्ती कमलकुङ्कुमलयागितासुरोजौ
दी कञ्जलाङ्गी प्रलम्बकृष्णकुन्तला दीपशिखातिक्का सप्तविशेषं नृत्यन्ती
रभतः—

मम मनो व्याकुलम्

रात्रिन्दिवमलि ! मिलनं चिन्तन् । (स्थायी)

शीतः सान्द्रो धामुर्वाति

विद्युन् पत्या सह चाभाति

श्रोणितपतिका मुख्या तरुणी

घनघोरघटां पश्यन्ती

भृरामेतद् ! उद्विजते ।

मम मनो व्याकुलम् (१)

प्रेयसादीपं हृष्टा

अङ्गनमप्यमहो वपविष्टा

सज्जा भूपावेपाद्यै रलि !

द्रष्टुं स्वाममुग्नं धूराश्रुक्ता

सुबिलम्यो मां तुहते ।

मम मनो व्याकुलम् (२)

शङ्खोक्षयमधुरालापन-

हस्तस्पर्शः प्रेमोत्पाद्य

चक्षुर्मेलं निद्रां हृत्वा

वराय न ताराः गणितुम्

प्रियतम ! त्वरनेहि ।

मम मनो व्याकुलम् (३)

उभयतो हस्ताभ्यां वदन्तीतबन्दातश्चमुखाय छनच्छन्नराज्यन्नुपग प्रवृत्तिकेन
कामकोटिं वरायन्ती विपुलैरेव दागस्थिरा आगततो अनरकन् कोमलप्रतन्वमिलत्मु
लिभिर्गन्धे मध्येऽपसरयन्ती अणुशुण्णशृङ्गादत्येन शिरसि मङ्कटमूर्तां रचयन्ती
अपाङ्गे कर्णमूले नेत्रयोश्च हस्तं विन्यस्य विविधभावं प्रकाशयन्ती मणी मध्ये स्फुर-
द्युत्तमयन्ती मोहिनीय राज्ञ ।

मध्ये भावोद्घोषनाय द्रुतविलम्बिता गतिमाश्रित्य आरात्तिचमुद्रां वा प्रकल्पयन्ती
तदा भित्तिरिष्टकाद्यापि धन्यवादान् व्यतरन् ।

मदोन्मत्त उररपाता सर्वेषां समग्रमेव प्रदर्शितानुरागस्तस्याः कम्बुकननीये उद्यतवज्रो
कन्धरे सप्तावलिदारं स्वहरतेनाबध्य हस्तमावोभ्यान्तःपुगाभिमुखं गन्तुमना भगवद् ।
एतत्ताडकेतेन सर्व एवोत्थाय अपसरन्तः । अहं कथमपि जनव्यूहं प्रतीयं समुपेत
अनभ्यस्तादैर्म्योऽपि तं प्रसादयन्नबोधम् “स्वामिना समयो दत्तः” इति । परं मैरेयमता
कभीकृतकामिनीसमुपाहृतगर्भो विगलितहन्तःस्थवदोष्टोऽस्तुष्टवाक् भर्तायन्नह—“अनेरे
नायमनेह” ।

अथाहं बहिरुपेत सहयोगिनः सूचयित्वाऽचलम्, द्वास्थ्यः पुनरुपहाराय हस्तं प्रसारयत्
“एतादृशस्य धनिनो द्वास्थ्यस्त्वं किमु अस्मान् खेदयसि ? समुद्रे क्व निन्दे
स्थानम्” ? अहमबोधम् ।

“क्वात्र धनम् । स्वामी प्रतिमासं पञ्चविंशतिमुद्राः प्राप्नोति साधनतः, व्यव-
प्रतिदिनं पण्यतम् । वर्षद्वयं श्यतीतम्, मासिकं मुद्रात्रयमेव न लभ्यते । तिर्य-
पालनं भवादृशानां दययैव सम्पाद्यते” स उदतरत् ।

*

*

*

*

वर्षं समयात् पूर्वमेव न्यायालयमुपेताः । वाक्कीलस्यान्वेषणमारब्धम् । तत्र जन-
समुद्रेऽन्वेषणमेव दुष्करं नवीनेन । परं तस्य लेखक उपलब्धः । सोऽत्रूत यदयं
गानवाद्यरक्षिको वाक्कील उपवनभोजने कस्या अपि गायिकायाः सम्मानभोजने
सम्मिलित इति । पञ्चसहस्रमुद्राः गृहीत्वापि देशसेवकानां प्राणैः कीर्डां विचार्य
मनो घृणया पूर्णम् ।

न्यायालयो जनसमुदयेन परिपूर्णः । अप्राप्तस्याना बहिरंगिरे वृक्षाणामाश्रये

[illegible]

विशेषतः तु स्यात् कृतमिति, अपुनः प्रकृतः प्रकृतैव हेतुः प्रतिदिनमिति ।
अतो विशिष्टमिति एव धर्तव्यम् । प्रमाणमुक्तिरप्यसिद्धः सः साधकमिति ।
अपराधितो, अथवा अद्वयमिति विशिष्टो भवति ।

[illegible][illegible]

ବିଷୟ: ଶିକ୍ଷାବଳୀର ପ୍ରସାର ଓ ଶିକ୍ଷକଙ୍କ ଶିକ୍ଷଣ

अथ समस्मिन् नगरे सर्वेषु कर्मसु हरितालं प्रसृतम् । नगरस्योद्भूतयो न्याय्य-
मुपेताः । कारावासिनः सैनिकसुरक्षिताः समये समागताः । कारावासिनां सङ्ख्या
अधिकाऽऽसीदतो दशैवागन्तुमाह्वयः । आगतमात्रा एव ते “वन्दे मातरम्” “वन्दे
स्वतन्त्रं भारतम्” “उत्क्रान्तिजीवताम्”—इत्युद्घोषैर्विष्णुपदमेव व्याकुल्यामसु ।
असह्येयजनरालनादिना ध्वानेन न्यायसमितेरासनमेव शोलायितमभूत् ।

कारावासिनः पुष्पमालाभिराच्छन्ना आयत्तं सहमानीताः । सृतमुष्ण्णीकम्
सैनिकानां पञ्क्तिरभितः सज्जाऽऽसीदेव ।

शासकीयप्राङ्गविकाकोऽभियुक्तानामपराधं पुनः श्रावयामास ।

(१) अभियुक्तैर्मृग्या जन्ता महाप्रतापं राजानं दुहन्ती कारिता । राजशोहः ।

(२) सभायां बहवो वधा जप्ताः । नरहत्या ।

(३) दुर्बलमनसां मनसु दुर्मावर्णां सङ्घर्षभायनायोत्पाद्य तेषां दुर्गतिप्रत्ये-
प्रजानां दौःख्यम् । आदिरादिः ।

प्रतिदिनं होराष्टकमेतत्कार्यं प्रचलदासीत् । शतशः साक्षिणो भारतीया र्भ-
स्वतन्त्रतासङ्घर्षिणां विरुद्धं मुद्रालोभेनानृतं वक्तुं सज्जाः स्थिरीकृता असन् । अर्ध-
योगोऽयमादशभ्यो वर्षेभ्यश्चलन्नासीत् । अपराधिषु बहवो राजपुरषैः परधं तर्जि-
देहमत्यजन्, केचन रुग्णादिदिरसास्त्रेषु न्यवसन् । शासनस्य विशास्त्रशुश्रूषा अर्धवत्
व्यथिता आसत् । परं कार्यं निर्गम्यानिमुरां नासीत् । अतः शासनेनेका विशेषा सर्व-
धेयिताऽऽसीत् । अतः सर्वं बलं सर्वैः समबोऽस्मिन् कार्ये समं आसीत् । पण्डितपुर-
प्राप्तकानिषोगे जीवन् समेतम् । अन्ततोऽन्तिमं प्रक्षिपरीधनदिनमभ्युपेत्तम् । न्याय-
घालां मण्डलं सर्वरायिनामिदं राजभूमिर्मण्डलं पञ्चदशैः प्रत्यवेन आक्रमणं प्रीतिव्यनेदं
चक्रदण्डनेत्रेभ्यो मणिकवचपटीं पश्यन् सम्मानिते उरधैर्नये कश्चिदपाममण-
वृत्तिम् । सम्मुख एव शार्ङ्गजानामसन्तः सज्ज आसन् । पुनश्च पुन उद्गरणगीरिणां
दण्डवत्तयाः सदपौरैर्मिसाङ्गं प्रदृष्टव्योक्तः । पराशक्तदण्डवत्तयाः वृद्धेभ्यः

१ संश्लेषेन बोद्धव्यं इति तल्लयावोऽयं सूचयन्ति तस्य “हरमप्यवस्य”
एतेन सत्ये कर्मवदेवे । नाहं इदं शक्यवन्नप्रशंसः । तस्यैव च तस्य
सन्तुष्टवचनमेवमाह । २ नृपतिः ।

मुपेताः । अस्माच्छास्त्रात्तद्वत्सुदोऽपि कथमपि सम्भावकायाः । स्तलदुष्प्रेतः
द्वेदस्मात् पुस्तकीकृतचतुरागतः । होराचतुष्टयं दावदन्तिर्न प्रतिपरीक्ष्यं ज्ञातम् ।
निर्मोहमोचिनस्तर्का न्यायाभ्यामिदं मोदयामासुः । सेवेऽस्माकं त्रिविक्रमश्रुत
सीत् । जनकरतलप्यनिना वदितवाणीप्रवाहः प्रचुरोत्साहः कृतसंवाहः स न्यायाधीश-
ण्ड्यभिमुखोभूत्वावहत् । सर्वे धोतारविप्रलिखिता इवामवह । यदा कदा जनकरतल-
निस्तानवापापयात् । तस्य भावयस्य सारमिदमस्ति ।

यदि कथम् स्वभारतं शिष्ययितुमुच्यते साक्षलम्बनाय खोमत्यै वा प्रयतते स किं
पराधः । देशं स्वतन्त्रयितुं सेवकसंघटने तेषां कर्मश्रमलोत्पादनश्च तेषां वैतक्यमुत्पानं
राजद्वीहः । शासनस्य प्रणालीं समालोचयन् स्वयन्वेताः किं श्रेयसाः । उत्कीर्णतां
कर्णसाधनाय परान् पीडयमानानामधिकारिणां समालोचने किं राजद्वीहः ।

असंख्यशतमरा भार्यश्च कारासु विगृहिताः, बहवो वधन्ता वीतास्तेऽथ ताभियोगा एव
कारासु सोदन्ति, राष्ट्रं वेपामत्यै विनितम् । भारतं स्वतन्त्रयितुं कष्टं सङ्गमानेभ्यो यदि दण्डं
राक्षस्ये, ययति तेऽधुना दण्डमेव मुञ्चन्ति बहुभिर्गोपैः कारासु कष्टं सहन्ते, सेनास्यधिका
वैरोहिनी भवन्ता भारतीयेषु जगदिष्वस्ति, येन शासकस्य महती हानिः सम्भाष्यते ।

खोन्नतिः शासनस्य सर्वतः प्रथमो धर्मः । देशभक्तो देशेतरस्यार्थं यदि मनसि
तरा न कोऽप्यपराधः । अयं नागरिकाचारोऽतः सदान्वयो गम्यते । अत एते निर्दोषाः ।
अपराधोऽप्यकारणतदुत्पत्तिश्च निःसृतोऽपि शिवरात्रौ राजकीतो न ज्ञापि अपराधो
यजितः । खोन्नत्यै कदाचन स्वधर्मसिद्धान्तप्रतिवृत्त्यपि समाधदन् न हेयो गम्यते ।

शासनस्य सर्वेषां कर्मविद् ईश्वरप्रदत्तोऽधिकारः । स नरहत्यापराधी यः स्वैरुज्या
परात् लक्ष्मीरूपं मारुतरूपेण ग्रहन् सपत्नीं भवति । आचर्यम् । शासनविहिता
हिंसा मोक्षविशेषकारीमते । सर्वा हिंसाः शासनीयराजपुरुषैः कृताः । अतो नास्त्ये-
कमनीयत्वमिदं दोषः । न्यायस्य अर्थादन्वयेते सर्वेवाऽदोषः । न्यायस्य परिपाटयः
पालनं न्यायत्वस्य प्रधानं कर्म इति ।

न्यायधीशानां हृते सङ्कटमुपस्थितसीत् । परीक्षकप्रतिरोधेन तेऽभियोगतस्य
संवादसंगच्छन् । तेन कठोरचिन्तनसाधः प्रयत्नितो नभूत् । परं कथमिदमपि ते
रक्ष्यमस्मां दुरेव । द्वितीयेषां निरस्योद्घोषेन मुञ्च्यः । त्रितीये दण्डसंस्कार-

वासेन पचयती पचयन्वावासेन दग्धता । कत्रमु निवसतां दग्धः सनतम्
असीत्, अतः सर्वे तत्क्षणमेव मोचिताः पौरप्रतिष्ठानस्य विद्यालं भवन्नुपेतुः जनकान्ते
सोद्भासं सत्कृता राजादेव चित्रपुरमायाताः ।

कातिहृत्पणपङ्कः । दीपावलीनहोत्सवो बहुभिर्वर्षे रूढ आसीत् । मृत्युमुखं विदग्धा
कोऽदपर उत्सवस्य ? सर्वे दीनवदना अल्पिताद्या हतोत्साहा हीनहासा दृश्यन्ते स्म, दे
महोत्सववातेकातिहरी । सर्वेषु कारावासिषु मुलेषु राजाज्ञयोत्सववक्त्रे । मुकु
कारिणां कारुणां महर्षता सम्पन्ना । तैरहोरात्रं गृहापि घटलयन्निर्भोजनवेलेन न खन्ना ।
इतः पटरागिणां काष्टरागिणामप्यमात्रः । सर्वेषां मुखे मनसि चेतनः । सर्वे
करी पादौ च परिमार्जने लभौ । गृहा अवकरनिकरव्याप्ता विपणयव्याप्त सङ्कट-
मुदगिरन् । पौरप्रतिष्ठानस्य मूल्याः सरणिसङ्करास्मिर्जनार्थं प्राशुष्येण व्यग्रा क्षणवत्
महिषैर्गर्दभैर्वहन्तो ध्यायुला आसन् । नगरे नवीनं जीवनं समेतम् । मुष्णितैर्देहै-
रागरक्तैश्चित्रचित्रितैस्तैलस्निग्धैः कवटैश्च नगरं विचक्रात् । मलिनं मार्ग्यं ईडा
गर्तगतमभूत् । संसरणानि जननिरीक्षतां भेषुः ।

महात्म्यमीरात्री प्रदोष एव गृहेषु विचक्रुर्दीपावल्याः । विविधं भ्यस्ता रीप-
पङ्क्तयो संसरणं दीप्यमानासुः । विलक्षणरागः प्रकाशः प्रकाशते स्म । हान्दर्विष्ट
प्रसादयद्गिरालालामाधुरीतयद्भिः स्वर्णरत्नपत्रलिप्तैः स्वैचित्र्यं न्यस्तैः काचमञ्जरीषां ।
मार्गैर्मिष्टान्नैर्विशणि पूर्णमामासुः सीन्दर्येण । इतः फलविकेतारोऽपि दाडिमजन्मीपङ्क-
स्तरजितपिठः पुरयानामर्षयामासुः । कस्त्रापणिकानां विपणयोऽयं प्रोज्ज्वलामासैर्वर्णै-
र्दीप्यन्ते स्म, येषु पटप्रमां दिगुणयन्तः प्रकाशा अवलम्बन्ते स्म । मनोहरमञ्जूरपु वि-
स्वर्णरत्नभूषणा भूषणविकेतारश्च चतुर्विधयन्ति स्म । ताम्बूलिकानां विपणिष्वयं मेला
इव दृश्यते स्म । तेषां वाताविद्याश्च एव दुर्लभः । परिणामे परिदेविनो धृष्टदेविनश्च
राज्याशयाऽदीप्यन् । युगपद्वचनोद्गस्त्येषां केसदल आकाशमपि व्यापृत्यति स्म
तेषु केचनादसन्, परे उदासत ।

अभिती वेदप्यनयः धूयन्ते स्म । विमर्शिता भवन्ते गान्ध्या गायन्ति स्म
रमणीभूषणशिखितानि निश्रयन्ते स्म । पटवासस्यसितवसनाः परस्परलापनदृष्टितरेमा
पुराः प्रैष्यन्ते स्म । मधारीति सम्पन्नोऽभूत्सकः ।

अपरदिने समामवने समासीनेष्वित्येषु सामन्तेषु, प्रतिष्ठितेषु नामरिकेषु च, वारिव-
स्तारक्यन्त्रेषु च सत्रेषु एकस्मिन् स्वर्णासने स्थिते मयि सज्जार्वा च समज्जार्वा राजा
राजसिंहासनादुत्थाय सभान् सम्बोध्याम्बुतः—

प्रियाः ! सभ्याः ! विदितमेवेतद् यज्ञमखनमनःसरसिजविष्वासकराय बीरवरविरो-
चनस्य श्रीचन्द्रकुमारस्य स्वागतचिकीर्षया आमारप्रदर्शनमिदमेतत् महत उपकारस्य
कृते किमपि देयमसनीक्षमाणाः केवलान् साधुवादान् दित्वा महे, इत्येव महोत्सवस्य
विषयः । महत ध्यानदस्यत्वसरो वत् श्रीचन्द्रकुमारो वीर्यविभ्रितेन्द्रस्य श्रीनवेन्दुपादस्य
पुत्रो विमलपुरनन्दनशरेशयोध आमाता विद्यते ।

प्राणप्रदाने प्राणदानमपि स्वल्पदानम्, परन्तु 'अदावान्मन्ददानं श्रेय, इति कृत्वा
कामपि दुष्टां सत्कृतिं कुमानवरशरेषोरासादाधाम्ये । धीमन्तो जानन्ति यदस्माकं
पूर्वं महाराजो मह्यं देजोऽतिशायित्वेन पालयत्वाच्च राज्यं दत्तवान्, ते गुणा अद्य मयि
हीनाः, उपगवतिषया अहं प्रजाः पालयितुं सर्वथाऽसमर्थः । अतोऽहं राज्यं लोकस्य न्यासं
भोग्ये सर्वपुत्रीये समर्पयन्ममैकमाग्रसन्तत्या राजकुमार्याधम्पायाः पाणिपल्लवमप्युपहरामि ।
अनेन कर्मणास्माकं पूर्वस्य राष्ट्रं प्रजास्त्री पालिता भवति या नितरमुपबुद्ध इति ।

प्राशंसतां जनानां साधुवादेन सदैव मन्दिरसि सत्रं चामरदुण्डे च संलभे । ततः
सलभे व्यूहा देयं चन्द्रिकाचयानितेव, नवनीतनिमितेव, मृणालसमुद्रा, सपलवटपट्टायेव
नवकिशक्यकलितपुमावलीव सीतला, मन्दमुग्धस्मिता, शस्यश्यामला वनुषेव सजीवतो,
लषण्यस्त्रीकाविस्वारिणी, भीमाश्वप्रवीणा, मुकुरविमलकपोला, हिमशुभ्रवदना, रुक्मिणी,
सत्यभामाऽसुराया त्वमिवापरा चम्पा । ततश्चैतद्दुर्गे प्राचीनं, वीर्योद्यारेण नवनिमि-
नानिवर्ता नीतम् । देवात्त्वमपि लब्धचराभ्यश्च लब्धा, पुत्रावपि ।

अप्रति हुत्वा समुद्रया यशसा राज्येन लोपुद्राभ्यज्येत्येव भवोदन्तः ।

श्रीविद्रुचिरं नितान्तमधुरं वागीशवन्द्यं तस-
शास्त्रं सन्त्रकृतस्त्रि विद्रसिकपाणावाहितोऽग्राद्भुवि ।
रम्यं मानिमनसं चिरं रमयतां तस्याष्टमोऽयं वचन्
द्रष्टैतस्य भवेन् मयूखमहितोऽहीनो गुणैः सत्कृपः ॥१॥

नवमो निःश्वासः

विद्वज्जनसम्पर्को नष्टेष्ट्यातिदर्शनाभ्युदयः ।

फरय न सुखाय भवने मयति महारज्जलाभश्च ॥

मीनयती नयनाभ्यां चरणाभ्यामपि प्रफुल्लकमलवती ।

शैवालिनी च केतौः सुरसेयं सुन्दरो सरसी ॥

अद्यापि तां कमलघम्पकदामगौरीं

पुद्गारचिन्दनयनां तनुरोभराजिम् ।

सुप्तोत्थितां मदनविह्वलसालसाङ्गीं

विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ॥

सर्वे भयन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

रथता निरच्यमानाऽनुपदं क्लेशवति नम्यवमेव ।

कालेन परिणिता सा मुक्ता गलभूषणीकृतम् । अतः तस्मैहराम्येताम् ।

शक्तिधरो भनोभोदिन्या कुम्भदिन्या प्रचितपलया चपलया साहसन्मकृतराजन्मया
सरोजिन्या च सहितः सम्प्राप्तो राजनगरम्, स्वर्गीयं चन्द्रस्य च इत्तं राज्ञः पुरो
न्यवेदयत् । सरोजिनीं बात्कदम्बं विना प्रभातमिव मन्दमलयसमीरं विना कुमुदितवसन्त
॥ त्रैलोक्यं विना नाधिकमराजत, किन्तु किष्कुर्वादनत एकाकिन्येव दध्नाशौ स्पृष्टा प्रासादं
प्रविष्टा । चन्द्रविलम्बे शक्तिपरस्य सरोजिन्याश्च विशेषतः काङ्क्षितमभूत्चेतः, परं परमविनो-
दिनोऽस्य सम्भाव्यते विनोदविलम्ब इति विवाय किञ्चिदसंख्येयं बभूव मनः । मास ऋतुरयनम्,
ऊनवशौ वर्षः, प्रतीक्षामेव व्यतीतयुः । अतः साः स्वर्गं दृष्ट्वा निमग्नः, सुदीर्घाणि अहन्दाद्ययुः
श्वामानि बभूवुः । निराश्रयं निजा राज्यं तेनुंशुदय, विट्पति विचक्रुः कण्टमात्रयावत-
स्थिरे च । परं चन्द्रो न समावृत्तः । महाराजो विचित्रप्रज्ञैरशक्तिपरं प्रतिदिनं खेदयति ।

पुनः पटवः प्रेरिताः, पुनर्विवोधवारां निधेः शोकछागरस्य च प्रवाहोद्गाराः प्रावृत्यं प्रापुः।
मालिन्यं पुनर्मनुजमुखमण्डलान्यभजत। महाराजे मन्त्रिणा मन्त्रयति द्वाप्यो गुह्य-
विभागाभ्युपगमनमसूचयत्। इति तज्ज्ञातः ॥ तं प्रैषयत्। स च त्रिः प्रणम्यासूचयत्—

‘देव, महत्या सेनया राजनगरमधिगन्तुकामश्चित्रपुरेशः समेति। शतं शिबिचक्रम्,
प्रतिशिविकं निष्कोपनिस्त्रिशानां बलवद्गुण्यां पदातीनां शतम्, भीशुण्डकानां सार्धशत-
त्रिशती, मदमत्तमातङ्गस्यायिनां द्विशती, भल्लकराणां नराणां चतुःशती। विह्वलका-
असंख्यातयन्त्रा परा सेना, तस्या रक्षायै चाध्वारोहिणां पदातीनाम् दशसाहस्री।
परा च महत्तराकृता वस्तुजतरायै पञ्चसाहस्री। सहस्रशब्द कर्मकराः सेवकाः पावका-
निवेशकाः। प्रतिदिनं गन्धूतिपथकं प्रषलन् वनचूर्नं कृतनिवेशः समाप्याति।’

राजा०—तुर्द्वेऽविचारितामना विपदः स्फोता भवन्ति। मन्त्रिन्, कीं विचारः।

मन्त्री—सुदराजे गते सर्वत्र शिथिलता विद्यते विभागेषु, अस्मां स्थितौ उन्धिते
गरीयान्।

राजा०—नहि नहि, एतन्न भविष्यं शक्नोति।

महाराजो नवेन्दुवीर आसीत्। शक्तिधरप्रस्तावयि गणनीयगुणावताम्।
एतेषां साहसगिरा निर्जीवानां मानसेऽपि साहसविद्यमान्यां समचारि। राजनयसेना
जगद्विदितपौरुषासीत्, चन्द्र गते शिथिलता तामजूगृहत्, तथापि समुद्रः दुन्दुभेऽपि
मानसं गरलिरसद्वर्त्तुं प्रभवयेद्।

विभागान्त्वगन्धेन, विप्लवघनेन तेष्वेव नवीना स्फुटिः समाजगाम। जन-
सेना जले विपद्गङ्गिनी च विपति, महत्तरयगूष स्वजे शक्तिना। ‘उदयधर्तिविह-
सन्त्यामं बर्द्धयामासुः। नगरमन्धतमयेन’ परिचिन्तं चारितम्। समुद्रे प्रचण्ड-
सम्मानां प्रवण्डा न्युपुष्टः। जलनिर्मज्जिन्यो’ विस्त्रीकृतारण्येताः सुराश्रय’ समुद्रे
प्रवर्तिताः। परं पश्योदकस्तारणीयः’ परीक्षायै प्रेरिताः। अट्टरुका’ लेख-
चक्रा दुन्दुभुर्गा भोग्यगन्धेन जगद्विदितपौरुषासीत्। सहस्रान्यो दलमन्त्रिणा भव-

सैलनिग्राहः बभूवुः । जगतीं सन्देहसिन्धौ जुहुयितुं विप्रोद्गमका बभाः
 विस्फोटकबभाः नगरभस्मकर्मणोऽप्रिवभाः शीघ्रविस्फुटनशीलाः, समयापेक्षिणः^१ बभाः
 प्रचुरमात्रया निर्मिताः । मोलिकोट्टामिनीनां^२ शक्तिः परीक्षिता । नरसंहारणा विदाका^३
 अभ्रुसारिणः^४ क्षात्रिणः^५ सोदोतपादिनो^६ विस्फेसम्पादिनश्च गोपाः^७ प्रभाव-
 प्रचारेदैव भुवं भीययाभ्यगिरे । परप्रयुक्तान् गोपान् व्यर्थयितुं दुष्टवातोपरोधिका^८ ।
 सङ्ग्रहः समाग्रन्धः । परमसुन्दरौ गानवाद्यप्रणयलीलाप्रवीणा बीणाकण्ठ्यधरतामानवेहः ।
 "बभौवन्म्राणि सैनिकबाससां कृते निदग्नितानि । सारविभागे,"^९ दूरात्तापयन्प्रविभागे,^{१०}
 "मत्तारवृत्तोऽपेक्षविभागे च राजनिवृत्तप्रणानि स्थानवन्तुः । राजभवनानां धनिभवन-
 नामुपदि पार्श्वेऽथ सिक्तासंग्रहः समजनि । विक्षित्तासयेषु विद्योपविहान्यद्वितानि । शिशूनां
 स्त्रीणाञ्च कृते दृढगृह्यवस्था प्रारभ्यत । भूखाग्राहणि"^{११} प्रचुरमात्रया सत्त्वरसत्त्वरं
 निर्मितानि । बाधुदानविषसक्तोपाः^{१२} मक्षि^{१३} रक्षदंशकयन्त्रेण^{१४} उच्चतानिर्देशकयन्त्रेण^{१५}
 च संयुक्ता आभ्यर्षकरं कृत्यं बभूवुः । बाधुयानदर्शनाय प्रशस्तीनि प्रकाशयन्म्राणि^{१६}
 भाविपृतानि । समरिन्न् राजनमरे यानान्तनवालाः^{१७} प्रसारिताः । गुप्तमाद्यप्रयोगाः

१ बभौवुः बभाः "दुष्टम् उद्दिश्ये" शब्दः । विस्फोटकस्तीति विस्फोटकस्तस्य
 पश्याय बभा इत्यर्थः । (High explosive bombs) २ राहकबम (Incendiary
 bombs.) ३ दूरीपर गिरते ही पटनेवाले Immediate bombs. ४ टाइन
 पर पटनेवाले बम (Delayed Action Bombs) । ५ मशीनगन Machineguns,
 ६ जहरीली गैस (Poisonous gases) : ७ कृत्यने वाली गैस Tear gas ।
 ८ छिड़ने वाली गैस Nose irritant gas । ९ कुत्तुबुनदपैदा करने वाली
 गैस Lung irritant gas । १० फुकोले उत्पन्न करनेवाली गैस Blister gas ।
 अथ सर्वत्र गैस अन्विष्टाऽनित्यरमाञ्च यमि गैस शब्दः । अन्विष्टा = अन्वेष्ट-
 मन्विष्टाप्रतिविष्टाश्च । ११ गैस के बखर को न होने देने वाली टोरी Gas masks ।
 १२ फाटनमित्र । १३ टार । १४ टेक्नीकन । १५ रैडियो । १६ समरदोष रणायुध ।
 १७ हवाईयान को नष्ट करनेवाली टोरी Anti Aircraft Gun । १८ जिससे यह
 स्पष्ट होता है कि मोल्ल जब वहाँ पहुँचेगा, वहाँ जहाज भी होगा । १९ जहाज की
 लम्बाई मील, फीट, इन्चोंमें स्पष्ट करने का इन्च । २० अधिक परावर्ती लहर ।
 २१ बैलून बैरिज (Balloon Barrage) एकतरफ़ का जाल, जिससे रणद लड़ने
 ही जहाज में आये तम जल्ते हैं ।

सङ्केतलिप्यध्याप्येनापणे नवां रीतिमनुस्यूः । पक्षिणोऽपि श्वनोऽपि शिरान्मतेकु
सुप्तमुदय इन्द्रियज्ञाननिपुणा विविधभाषाप्रवीणाः, स्त्रियज्जलमुषा तत्त्वबोधमने
नियुक्ताः ।

सप्तवो युद्धपोताः* रक्षकपोताः* सहायकपोताः* औपचारिकपोताध* विविध-
सम्भारेः सम्भृताः ।

अथ राजनगरस्य चत्वरन् चतुःपथसमुद्रानमितोऽभिनव आद्वकौलाहृतलगाभये ।
सोऽयं वारणार्थानामोषितः कालो वर्तते । अलङ्कर्मणिषु नवमुषकेषु हिमु प्रौढेष्वपि नवैव
उत्साहो सुपरीभवति । सर्वेषां करौ इन्द्रमुखाधने समौ स्वधनुषोश्चारुणिमा प्रेषते ।
परितो वीरतावरवचांसुच्यन्ते ध्यन्ते च । भयनां वीरभावो भेरीमङ्कारेण हुन्नु-
ष्वानेन चतुर्गुणितो भवति । युद्धबाधेन योद्धृणां पादाः स्वयमम्रतश्चलन्ति ।
पूर्णजसोऽत्यन्तीना अथा अपि रणकण्डूमपनेतुं सर्वप्रथमं त्रिगमिपया कूट्येण सार्ध-
भिर्वार्यन्ते । मदमत्ताः करुटिनो घण्टापोषेविश्वं वाचस्पन्तः प्रादुष्यन्ताः सर्विधुतो वारि-
भ्रमन्ति । सङ्क्रान्तां सङ्क्रमारेण कुन्तानां प्रभया मुशुम्भिकानां तोभनां
सुमुलेन शब्देन शङ्खानां ध्वनिना सर्वां दिशोऽय परस्परमास्तान्त्य इव प्रतिभान्तः ।
सर्षोच्चदुर्गशिखरेऽभिमानलालिता जगन्मानिता कीर्तित्वेह विजयपताका कर्परवर्तः ।
मुकुटमनोहरे, निर्मलनिर्मले, प्रोत्तचप्रोत्तचे आकाशे हर्म्याणां कनककलयाः, विरोधनिल-
कुलेन धौता इव विश्वं विद्वसन्ति । तत्र तत्र वातायनेषु स्थिताः सौमान्यमुन्मर्ग-
कमनीयाः कन्याश्च पुण्याणि पुण्यमाळाश्च निदिरन्ति । यत्र तत्र बन्दिगन्देन बोधवर्णा
वर्णना वर्ण्यन्ते । भगिनीभिर्प्रातुमात्रा भूष्यन्ते । कश्चन संवर्मयति, इतरोऽनुलोमयति
परोऽभिधेययति ।

मन्त्रणामन्दिरे मन्त्रिणो मन्त्रस्यापःशीथतामशीणयितुं सप्रयत्नाः प्रतीयन्ते ।
अमितः सतर्काः वृत्तद्विचलिकाः सैनिकप्रहरिणः सदर्पे भ्रमन्ति । एको दत्तविश्वपुरतःमा-
द्वितपदकप्रतिष्ठ आगत्य प्रहरिणमसूचयद् यत् "स चित्रपुरेसस्य पत्रवाहकोऽस्ति

महाराजं दिशते" इति । प्रहरी च तं प्रहसितव्यमप्येव न्याय, तद्दानं सभास्यं
राजानमप्यवदत् । ॥ च तत्प्राप्तमनं वृत्तमनविधिननुमुमुदे । अश्लिषद्-
पट्टकः स परित आसन्नसभायां पविर्द समन्यस्य महाराजं वदन् यन् वृष्टुमेनादि-
तोऽप्योऽनुष्ठितः घातत्रेषु शुम्भितो गुणरत्नैः, अनुभारस्य यदि पातवर्ण इव
होदहस्यो राज्ञा राजने । तस्य प्रियः प्रत्यस्य जननेद्वैदिकमभाजमप्युपा र्थमपानः यत्र
प्रहान् । महाराजः यत्र वृष्टोऽवलेख्य मन्त्रिणं पञ्चादादिदत् । अनन्तधीरूपस्य
प्रहान् इत्येव राजानमप्यवदत् ।

[illegible]

विद्युत्तुल्यम्

अवली सुविधिद्वयः द्वयः ।

॥६ अत्राय यद्विहसति क्षुरितिलेखनितः शोभयत्यर्थमिति विवक्ष्यते
वीर्यमान्देः प्रदम्बो वा शब्दो यत्र बहुवेक एव स्यात् तदा भूतस्य—

“પ્રણામી હૃદયથી મદનરાજ !”

“ਮਾਧੀ ਦੇਵ ॥”

“कृते : प्रियोऽयम् ।”

"सिंह"।

“ਭਾਈਰੋਧ ਸਾਹਿਬੇ ॥ ਪੁਰਖਾਨਾ ॥”

[ਸਦੀ ਦੇ ਪ੍ਰਮੁੱਖ ਲੇਖਕਾਂ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ] - ਅੰਤ ਵਿੱਚ ।

“हे माता हे महा विद्याधैर्येण वदन्तास्य एव ।”

॥३॥

“विद्यया ऽपि न विमुक्तः”

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

“तदा दिनस्तस्मिन्कियामपेक्षते सः ?”

“आं देव !”

“तर्हि सूचय वयमायास्यामः ।”

“आं देव !”

“किं चन्द्रेण ‘आं देव’—इत्येव कथयितुं नियुक्तः ।”

“आं देव !”

मातैव परिचलिता । ईदृक्पद्मादणयोराग्ननिम्बयोः, दीनारकपर्दयोः, सुमिश्रभुमिशयोः युद्धसङ्घोरिष भेदो बभूव । शम्भोरभिमुखं प्रयात्री महती सेना चन्द्रमागच्छ-
चिकीर्षया प्रोज्ज्वलमानसा बभूव । कर्णाकणिक्षया क्षणेनैवैव समाचारः सर्वत्र प्रकृतः ।
मलिनमुखे नगानरे विलक्षणा दीप्तिरागता । सर्वे सम्मिल्य पताकाभिः संवरणक्षेत्रैः
परिमलविटपन्द्यमैर्मांसाज्जालाभिर्द्वारचनेषु पुरं पुरन्दपुण्यमासुः ।

*

*

*

ह्रीरकपञ्जरस्थकोरुगिरा विपूजिते प्रासादे रम्यासन्ध्यामासीना राजमाता । भित्तौ
मञ्जमानानां आश्रमानानां विटपानां पुष्पलतानां सौन्दर्यं भवनमौत्तमादय धीरवीरा
समीरो विपश्चिन्तन् विनिरिमुम्निव वाति । सरोजिनी च सख्यपि सुखोद्यमे दण्डप्रत्ये
परमेष्ठेयप्रवृद्धप्रगदा न्ययमेव लघुना व्यञ्जनेन व्यञ्जयति । ‘करकल्पितकोशं शुभुरितै
च सिरिजिनो मैपुण्यवीक्षणे निमग्नविता अधनादुगतिशालं पार्श्वतश्च हर्म्यस्य रचनां सौन्दर्यं
दीर्घस्य द्वारणि अश्रमधनरोक्षते । सैव हर्म्यस्यमै अधिरुता । सातसो दारदण्ड
अङ्गना पत्नीः अर्चन्ति । एका दण्डी तस्याः कर्णान्तिर्हं शरीरदीपकम् । ए च
सरोजिनीम् ।

सरोजिनीः—सर्वं कथयस्व वा व्यञ्जयः ?

शुभुरितैः—व्यञ्जयः ? महाराजमुखात् श्रुत्वा ।

सरोजिनीः—किं श्रुत्वा ?

शुभुरितैः—दक्षिणपुरेऽग्रेव तत्र सौमन्यमिन्दुः समयति ।

सरोजिनीः—हृदयं हृदयम् ।

शुभुरितैः—(प्रवृत्त) अङ्गना महारज !

सरोजिनी—आपता राजसभासंवादः ।

*

*

*

योजनदीर्घः समारोहोऽयं नगरसंस्तराणि ध्यापत् । हर्षवर्षप्रसन्ना भूमिदृष्टीय
कारामपि विदितवृत्तं चकार । तोषर्भा निन्देव दिशोऽपि विह्वलिता ।

समये राजनवनं प्रविश्य अध्वर्युपितद्विषादः पितरं मोहमुग्धभूयसीं मातरय
नाम चन्द्रः । प्रणमनुध हर्षभुवनेशौ ।

अथ सरोजिनी कविकाशिनीव कृत्वा प्रोत्पद्यिचारा कमलां प्रणम्य प्रश्नशतेन
शतेनवृष्टत् । कमला च कमनीयाकशुल्या चम्पा निर्दिशन्ती सर्वमसूचयत् ।
क्षणमात्रा सरोजिनी च प्राणप्रियाणामेतां विपत्तिं संश्रुत्य नाशकरोद्धं वाप्सामि ।

*

*

*

“देव, महती दुःखस्य विषयः महामात्यो विद्याधरः संन्यासाक्रान्तोऽकरमाजगज्जहौ”
-कृष्णवस्त्रेण भूयेन महाराजो नवेन्दुर्न्यवेदि ।

“थाः विद्याधरो दिवं गतः, अकुर्वन् मया सह बहुशो राष्ट्रिययोजनासालस्य गतौ
तथ हन्तः । कीदृक् क्षणभङ्गुरमिदं शरीरम्, कीदृशो व्यामोहः, अशीतिर्मासक्रीनं वयः,
ततः पामसुन्दरीऽप्यसौ इव एतुः सोदयां इवाकलहाः भृशस्तथाबाधः, प्रियतिसा
मध्वभमणविपुलप्रतिभधन्ः सुभगौ पौत्रौ, सुव्यवस्थप्रपन्न राज्यम्, तथापि नाहं
रक्षुमुत्तरे, अतन्वेयं मोहनिद्रा हन्तः ।

“शूल ! इवमायोजनं योत्रं मां गृहकसीपं प्रापय—’नवेन्दुना प्रोक्तम् ।

*

*

*

“गुरो ! कीरगये संसारः कथमस्मादावर्ताद् बहिर्गन्तुं शक्यते” ।

राजनः, अज्ञानमेव बन्धनम् । अज्ञानं दया पुमान् नवनगरे भ्रममनुभवति
इति दुःखं तथा न जानन् । ज्ञानमेव मोक्षः, अज्ञानमेव बन्धनम् । सुष्टिरियं
राजात्मिका । मात्र सुखम् । पुमान्तीवमुत्तमया भ्रम्यन् दुःखमेवाप्नोति ।
मुखं तु केवलं भगवत्तत्त्वानुसन्धानम् । स्वयंवेदान्ते निवृत्तं मनुष्यविधिना व्याप्रिय-
माणो न विरेष प्राप्स्यमधिगमिष्यसीति मे विद्वत्तः

*

*

*

“वन्द्यं पण्डित, किं नाम मयः” ।

“महाशय ! मां जनाः के, के, शास्त्रीति भाषन्ते” ।

“के, के, शास्त्रीत्यस्य कोऽर्थः” ?

के, के, ०—अर्थन्तु भाषद्वा एव जानन्ति, परं लोके भाष्यते मन्त्रमैतत् सैनिक !

सैनिकः ०—(सहस्रम्) एतदेव पृच्छयतेऽनर्थकं सार्थकं नैतत् ?

के, के, ०—को जानाति ।

सैनिकः ०—कः—प्रज्ञा व जानाति ?

के, के, ०—(अनपेक्ष इव) सम्भाष्यते ।

सैनिकः ०—(सादरम्) मर्पत्सार्यः । उत्कण्ठाकलितदेतसा पृष्टम् ।

के, के, ०—केचन कविताकामिनोकान्तः, परे च कमलाकान्त इति खलुं प्रकाशयन्ति ।

सैनिकः ०—आ एवम् । आह्वल्यलिप्यनुसृष्टम् (रुचिद्विरम्य) किं क्रियतेऽत्र महानुभावेन !

के, के, ०—किं क्रियते, अस्मिन् काले किमपि कर्तुं शक्यते ? कः पृच्छति पण्डितानय, कोऽयं पिरठियति संस्कृतां वाचम् । दोहासदैवारथयितुणामस्पृशानां केवलं कण्ठमधुरिण्या मोहवितुणां लघारुयितानां नवीनानां कविम्मन्यानामय सम्मानः । साद्य जगन्नायाजनन्यपि विश्वेनोच्यमानापि विभिन्नरूपेषु, सूतभाषेति शक्यते स्लेष-भाषाविद्विर्नैवीनैः । संस्कृतज्ञानां सुदुस्तरतरा दक्षिद्रयापया प्रतिदिनमेघते । यया प्रदीप्तमाना मानमहोदधिचराधकवृत्तिभिरपि प्रत्यहमर्च्यमानधरणयुगलधराः सम्प्रति भविगणस्य अम्भरमण्यगणितगमस्तीन् खेदज्ञाताः प्रतोलोतः प्रतोली पर्यटन्ति वचनज्ञाः । येऽल्लिखलमात्रतुष्टास्तगोधना राज्ञोऽपि वाहीकृत्य रेलुः सकोपेषु येषु लोकाखानानपि त्यक्त्यैर्यैर्य मनः, स एते प्रशीणतगोवैभवा अज्ञतजातीनां धनिनां गृहेष्वनाहूता मान्ती विना प्रणाममाशिषं वदन्त उद्गारे जृम्भणे च ‘चिरञ्जीव’ इत्यादि मृषन्तो सिध्याचरण्वाङ्क्षयन्ते ।

असरपोट्कोचयुतविगलधनाधरिप्राचारविरहिता धनिनश्च समुद्रफेनमुपावरकारणदण्डशृङ्खलापितसितादितशीतवसनविमूर्षिताः कुन्तलतैलपरिमलेन भवनममो-

पद्मदालमोदीराः शीततपनियन्त्रकेण सेव्यमाना रात्रतपात्येषु मध्येषु स्थिताः

बैधर्म्यस्य तद्वन्तः स्वस्योत्पादकान् कर्तव्यं च अकृपान् मत्संदिग्धः । धर्मरक्षकाः प्राधान्ये-
काण्यु धर्मिणः, परं तेषुना मयि मये च सर्वैर्बन्धितवन्ती निजा अटम्वलनिर्वाप्य
पश्यन् धन्तोऽनुनीता आत्माः कन्याद्वनपतकिनः परस्वामिरोपविनाशितपरा दिशा
स्वार्थादिभ्यां कर्तव्यस्यैवां पुत्रोत्सवे साम्प्रतं स्थन्ते ।

राज्ञानश्च विल्लसत्कारेषावच्छाद्यमेव न समन्तं दुराचरा बन्दाभक्तः ।

सैनिक, विविधपरिग्रोऽर्थं वास्तव्यवसोऽर्थात्मकपण्यधून् राक्षोऽर्थं मिश्रयन् वदोत्त,
धर्मगृहीन् हरिधन्नादोन् गृह्यच्छेदवर्जोऽयमः सम्यागवसेविभो मिश्रयन् वृत्ततमुज्ज्वलति
सौहार्दायै च वरभोजिन्यं प्रायवति ।

[illegible][illegible]

पूर्वं पुराणानामाद्या स्थियोऽनुता च ता एव वभं दक्षिणयन्ति । प्रचीनानां वामि
मया तथैवाधुनिकानां धूर्तता ।

नवीनाः सम्प्रदायाः प्रतिदिनं प्रेक्ष्यन्ते । जगति जामरुक्दम्भारम्भा जना जठरं
पूरणाय अविवेकिवनवचनाय मुतरां स्वपरितारपूत्य मिथ्यायसाप्रचाराय च ना
सम्प्रदायं प्रचारयन्ति । नवीनत्वञ्च प्रचलितविपरीतत्वम् । जगत्प्रचलितस्य सम्प्रदाय
व्यवस्थापका जटिला मुष्टिनो वा, अतो नवीनैः केशा लुप्यन्ते, प्राचीनाः स्नान्ति जन
परोपकाराय प्रेरयन्ति च, नवीनाद्यान्तान्तो मत्तापिगोरपि सेवां कर्षयन्ति । चन्द्रनृ
कमलिनीकमनीयतनुलताः कदलोकोमला बालिकाः परलोकतारिण्यादिपदैवाद्भुतैः प्रका
शयोभिः प्रलोभ्य दौष्टने पदमर्पयन्त्यः प्रार्थिता अनेकैर्वरैः प्रथिताः प्रयुगुणैः केश
विलुच्य यासमष्टिकां मुक्ते आवध्य ज्ञानज्ञानाचारसंस्कारान् सर्वथा परित्यज्य केश
विद्यनिरतैः (केवलिभिः) छद्मधर्मगतैः पतयन्ते ।

के० के०—अक्षरताः सत्यं कथयन्ति ।

सैनिकः—मगधन्, जगतः स्वाभाविक एष धर्मः । नद्याः प्रवाहोऽपि नैक
स्यापयितुं शक्यते, किं पुनर्मानवानां चञ्चला प्रवृत्तिः । विचाराः प्रतिक्षणं परिवर्तन्ते ।
अस्तु, अहं देवस्य परिचयं धोतुकामः ।

के० के०—खल्पीयान् कविरुमतिम्, सोऽहमधुनाऽस्वस्थ इति गृहीतवकाशो एते
निवसामि ।

सैनिकः—तर्हि धीमन्तः क्वचित्मपि तन्वन्ति ॥

के० के०—माम्, कदाचित्कुतूहलप्रवसाः ।

सैनिकः—किंविदयिषी देव ।

के० के०—को विदयः, यस्यावसरः समाप्तेत्, स एव विदयः ।

सैनिकः—गुरो ! जगज्जालोद्भिम् चेतः साहित्यचर्चाधरितुमेष्यते । यदि नस्ति मगधो
चेताविलम्बः, यदि चेम् साहित्यमुखयाऽनुज्ञपृच्छन्ति, तर्हि पृत्यन्तु ममाभिलाषम् ।

के० के०—क्षत्रिय ! कः संसारविहारी एतस्माज्जगज्जालोद्भुतोऽस्ति । मरणा
ध्वयमिमन्तो मुमुक्षं बद्धाः, परं साहित्यचर्चां चलिमोहास्ति चेद् मूढि कं विदयमपित्य
स्वां प्रसादयामः । स्वमत्माकमराभिनवः साहित्यार्तिथिः ।

सैनिकः—शूरो । सार्य समयमेवाधिष्ठय काचि सरसा मनेमोहिनी स्नान्तः-
प्रसादनी रचना भवेत् ।

के० के०—यतिष्ये । वयं रोचते उत पद्यम् ।

सैनिकः—भगवन् । पद्यम् ।

के० के०—धीतव्यं तत् । अहमस्म समयस्य सन्धिविषं भवतः पुर एकावतापामि—

सुखदशारदपौर्णिमचन्द्रमःसुविशदप्रभमास्तरविप्रहाम् ।

अवदुदुर्येनुरक्तहस्तौ द्वौ विपुलविभ्रमचिन्त्यगुणां नुमः (१) ।

सुखं ददातीति सुखदो यः शारदः भवः शारदः “कृत्वण्” शारदः पौर्णिमचन्द्रलक्ष्म-
विशदप्रभः—उज्ज्वलकान्तिः, आस्तरस्य विप्रदो यस्याः सा ताम् अवदुदुरि भक्षय हृतौ -
रचनार्था विभ्रममूढम् अत्रावयन्तीं अनिर्वाप्यगुणां कामपि नुमः ।

जिगमिपुर्विशि पाशभृतः पपीरपद्मन् कमलधियमोक्षितः

परिचितैरिय लज्जितमानसः समभवत् परिरक्तसिद्धाकृतिः (२) ।

पाशभृतः—वदयस्य, दिशि—पश्चिमायां, जिगमिपुः—गन्तुमिच्छुः पपीः सूर्यः, परितो
रक्तपासी, सिद्धा आकृतिर्यस्य च समभवत् । कमलध्यां धियः—ज्ञोर्भा अपद्मन्,
परिचितैः—लोक-लोकैः ईक्षितः—लक्ष्म, अतएव लज्जितमानस इव । अपद्मरसमये
इतः सद्योऽपि लज्जते । अथवा सदसर्गस्मिन्मित्रं क्षुद्रगच्छे कर्मणि प्रवृत्त इति
महज्जापदम् । लज्जितस्य सुखं रक्तं सिद्धं च भवतीत्यनुभूतम् ।

सकलयासरतिग्मदगातपथ्ययितकाय श्योऽञ्जलितोऽग्निना ।

जलनिधायिय मृक्षुमभीहृते कमलजातविशोकिविभाकरः (३) ।

कमलजातविशोकी चासीत्यस्य सूर्यः । अग्निना
उज्ज्वलितः ॥ वक्षिदग्धः प्राकृतो नर इव,
व्ययितकायः—दुःखितकारी
तिमरुचा आतपेन
इव ।

शनः—सूर्यः । भ्रमणे बोधितं—दृष्टं, पापकृदम्बकम्—अनाचारसमृद्धं, गमयितुं—बोधयितुं, मुनितां—मुनिभावं, मयिनुं—प्राप्नुं, विरिगुहाम्—अस्तावत्कालीम्, उपविश्य—अभ्युत्थितं परिकल्प्य तितिक्षति—तनुमिच्छति ।

स्वस्मान् (जातं) कुलं—स्वकुलं—सूर्यवंशजत्वेन वदितो यो वार्धि—सन्तुः (पश्चिमदृश्यसगरमुत्तरेण मृगयमाणैरेव खनितः—इति वैयाख्यिकाः) तं वा उपेत ।

उपतटोद्गतपादपमञ्जुले किसलयारुणिते नववञ्जुले

विशदधारिणि वार्धितटे शुचावयि ! विधित्सति सान्त्वयिधि रविः (१)

रविः, तटस्य समीपं उद्गतैः—उत्पन्नैः पादपैः मञ्जुले—सुन्दरे । किसलं—नवपत्रैरुणिते, स्वाः—नूतनाः मञ्जुलाः—वेतसा यत्र, शुचौ—विशुद्धे चन्द्रमहोत्सवे स्वादितिभावः । विशदं धारि यत्र तथाभूत्वे वार्धितटे—समृद्धकुले, सान्त्वयिधि विधातुं—कर्तुमिच्छति इव ।

क्षितितले कमला भवता प्रिया युवकराजकवाम्बितमुस्मिता ।

इति निवेदयितुं जलशायिने त्वरितमस्तमगादिष भास्करः (६)

क्षिति—“युवैव युवकः, राजा समूहो राजकं “शोभेते तं युम” तेन वन्दितं अभिलषितं मुस्मित यस्याः सा भवता प्रिया—भवता प्रियेव सुन्दरी कमला, क्षितितले मर्त्यलोकेऽस्ति—इति जलशायिने भगवते विष्णवे निवेदयितुं इव भास्करः—सूर्यः त्वरितं यथा स्वात्तया अस्तमगात् ।

सैनिक० । शशिप्रभु ! केव कमला ।

के० के० । कवयो हि नाम केवलकीर्तनपरा वस्तुनः सौन्दर्यमुद्दिशन्तो निर्दयान् ।

दोषभयोमवन्ति, अम्मोज्ज्वलिवाम्मसः । कपि भवेन् कमला ।

सैनिक० । तदैव निस्तारः । अस्तु, प्रकृतमनुसरन्तु ।

उपगतेऽपगतं जगदक्षणि विपुलगर्वसद्वर्षवियूननान्

गगनमंसरणात्परिमार्जितं निपतितं पततीन्दुसमं रजः (७)

जगतोऽक्षणि = चराचरस्य नेत्रे भगवति सूर्ये, अपमर्ति = अस्तं प्राप्ते, विपुलमर्ब-
सौ सदर्वा = श्रेष्ठाधस्तस्य विभूनात् = कम्पनात् निर्गतम्, इन्दुधमं = कर्पूरतुल्यं
; गगनमेव संसरणं = राजपथस्तरमात् परिमार्जितं सत् पतति । आन्तोऽधः
तेरं विभूनयति ।

वद्वर्षविनाशकृतभ्रमाः शुक्रकपोतमयूरपिकादयः ।

कथयितुं दिनच्छमिवाद्भुतं विविशुरेत्य कुलायचर्यास्तस्मिन् ॥८॥

उदात्त "नाहं केनापि पूजनीयं भवामि" इति यो महान् दर्पस्तस्य विनाशो-
प्राप्ते कृतः भ्रमो यैस्ते शुक्रादयः पक्षिणः, तस्मिन् = स्वाध्यायान् वृक्षान्, एतन्
नरद्वन्द्वतम् = आश्चर्यं परस्परं बाळेभ्यो वा कथयितुमिव कुलत्रयवयान् विविशुः ।

अगदतः शिरावोऽशानयान्विताः सकणचक्षुपुटानय वीक्ष्य तान् ।

विदधते विरुतम्, नवपत्रिताः शकुनिभिर्विटपाः सुपमामिथ ॥९॥

न गच्छन् येषां सेऽपहृतः = अपहृताः, अतएव शिरावः = बाणाः पक्षिणावकाः । अशानया =
मुसया, अन्विताः = युक्ताः, सकणं = अन्नकणसहितं चक्षुपुटं येषां ये, तान् पक्षिणः,
वीक्ष्य दृष्ट्वा, विरुतं = कलत्रं विदधते = कुर्वन्ति । अथ विटपाः शकुनिभिः = पक्षिभिः
कहिभिः, नवपत्रिताः = सजातनवपत्रा इव सुपमा = परमां शोभां धारयन्ति ।

सैनिकाः = साधु । पण्डित । साधु । वस्तुतः कविताकामिनीकान्तोऽप्यसि । कवीन्द्र ।
तुभ्योऽस्त्येकस्मिन् विषये, पुनरिमां पूरयित्वा । अनुगृह्णान् विलक्षणार्थां सपत्न्या "दिनकरे
रजनीकरतां गते ।"

के० = (क्षणं यमो विलोक्य) शब्दः —

प्रचलितेऽहि, समोलिहि मास्करे कमलिनीवल्गनादिव संस्थिते ।

मुखरितं विहितं विभिरावनं दिनकरे रजनोकरतां गते ॥१०॥

अहि = दिने प्रचलिते, समोलिहि = समोहन्तरि मास्करे = सूर्ये च, कमलिनीवल्गनात् =
विनोदश्लोकात् 'वल्ग' संवरणे स्फुटं संस्थिते इव = मृते इव दृश्यमाने, अत एव दिनकरे
एव, रजनोकरतां गते प्राप्ते, विभिः = पक्षिभिः, वा = समन्ताद्भवमानं मुखरितं =

साचालितम् । निशाकरणे सूर्यस्यापि अस्तमयनेन साहाय्यम्, ६तो दिनकरस्त-
रजनीकरत्वं युक्तम् ।

लघुपु पुष्यरथेषु कृतस्थिति भ्रमति वृन्दमिदं रमणीजुषाम् ।

विमलमाल्ययुजां सुहृदामितो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥११॥

दिनकरे रजनीकरतां गते लघुपु-सत्येषु, पुष्यरथेषु=सुखप्रमयायेषु रथेषु “राय-
“वशी” इत्याख्यातेषु “असौ पुष्यरथश्चक्रान्नं न समराय तत्” इत्यमरः । वृता स्थिति-
तत्, रमणीजुषां-स्त्रीपरिग्रहाख्यां वृन्दं=समूहो भ्रमति । इत्यथ विमलमाल्ययुजां-
निर्मलशर्णां सुहृदां-मित्राणां वृन्दं भ्रमति ।

अरुणिते सुरवर्त्मनि तारकाः वृहद्विकाङ्क्षितशुभ्रकुशेशयाः ।

वसुरिवातनुभास इन्द्रिपो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१२॥

दिनकरे-सूर्ये, रजनीकरतां-अस्ततामिति यावत्, गते प्राप्ते, इन्द्रिपोः-सूर्य-
विरोधिन्मस्तारकाः, सूर्ये उदिते एता निष्प्रभा भवन्ति अत एताः सूर्ये द्विवन्तीति भावः ।
अत एवातनुभासः-प्रोज्झलाः । अरुणिते-लोहिते, सुरवर्त्मनि-वियति, वृहद्विका-
उपमाच्छादनवस्त्रे, अङ्कितः रजतसर्पसूत्रैर्धृष्टिताः, शुभ्रकुशेशयाः-सितकमलानीव शुभ्रः ।

वियति मौक्तिकवृन्दमिवाततं रवितुरङ्गमकण्ठतलाच्युतम् ।

विपुलभं भमलं प्रतिभात्यदो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१३॥

सूर्येऽस्ते विशिष्टप्रभं नक्षत्रवृन्दं रवितुरङ्गमार्णां-सूर्याधानां कण्ठतलाच्युतं विभक्तं-
आकाशे, आततं=वितृतं मुष्णवृन्दमिव अलं प्रतिभाति ।

कमलिनी मलिनी सममूर्धरं कुमुदिनी मुदिनी भ्रमरैः समम् ।

सरसिका रसिकाचितभूमयो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१४॥

दिनकरेऽस्ते कमलिनी-नलिनी, अरम्-शीघ्रं मलिनी सममूर्ध-सरस-
रसिकैः-भावकैः, रसिका-व्याप्ता भूमयो यासां ता भूमवत् ।

अहनि कार्यकदम्बमृशाकुलं जनकुलं शयनीयगृहं गतम् ।

नभस आविरमूसुमहत्तमो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१५॥

स्येऽस्ते, अहनि = दिने, कार्यकदम्बेन = कार्यसमूहेन, गृध्राणाकुलम्, मखुलम् शयनीय-
 २४म् = स्वावासं गतः । नमसः सकाशात् सुमहत्तममनाविरभूत् ।

क्षणदया विततं स्वशिरोऽश्रुकं रजतपुष्पयुतं कृमिकोराजम् ।

गगनमृक्षराणेन विभाल्यदो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१६॥

स्येऽस्ते, अदो गगनम् = आकाशम्, मृक्षराणेन तारकसमूहेन क्षणदया = रात्र्या,
 रजतपुष्पयुतं कृमिकोराजं = कौशेयं स्वशिरोऽश्रुकम् = उपरिवस्त्रं विततमितीव विभाति ।
 मन्वदेते स्त्रियः कौशेयं रजतपुष्पादित “ओदना” पदार्थं उपरिवासो दधति इति ।

कनकदामहिमांशुसुचन्दनैर्विहितकरुपन एव महेश्वरम् ।

अभयदं भजते क्षितिनिर्जरो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१७॥

दिनकरे रजनीकरतां गते = प्रदोषे, एषः क्षितिनिर्जरो = भूदेवः, कनकदाम =
 पतुरसक् हिमांशुः = कर्पूरः सुचन्दनः कात्मीरगुल्लुकस्तैः विहिता = कृता कल्पना
 पूजनसामग्री येन सः अभयदं महेश्वरम् = शिवं भजते ।

यमदमैर्विमलं गतवासनं नियतशान्तिशुपो विदुषो मनः ।

मृटिति संभ्रयते विभुमव्ययं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१८॥

नियतशान्तिशुभः = निर्भीषां शान्तिं दधानस्य विदुषः = ज्ञानविज्ञानसम्पन्नस्य यमदमै-
 र्विमलम्, यमदमाभ्यां मनसो विमलकराणि सर्वाणि बाधनान्वुपलक्ष्यन्ते । वासनारहितं
 मनः प्रदोषे मृटिति अभयं विभुं भजते ।

अपति मन्त्रपयित्रकुशासने बटुजने हरिणाजिनधारिणि ।

समुदगात् कुमतेरपि सन्मनिर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१९॥

सूर्यस्तसमये मन्त्रैः पवित्रे कुशासने हरिणामाजिनैः = धर्मं धारयति तच्छीले
 बटुजने = गणधारिजने अपति सति = अयं कुर्वति सति, कुमतेरपि = नास्तिकस्यापि
 शोभना बुद्धिः समुदगात् ।

स्मरति योगिजने विघ्नशेखरं मलिनकर्मशुषामपि मानसम् ।

द्रुतमहो ! परमृत्तमनि सद्गतं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२०॥

स्येऽस्ते योगिजने विधुसेखरम्—शिवं स्मरति सति, मलिनधर्मजुषां—निन्दितानां
सेविनां मानसमपि बहो । आश्चर्यम्, इतम्—शीघ्रं परमात्मनि वृत्तम् ।

नदति वाद्यवरं सुरमन्दिरे कनककुम्भविभूषितसानुनि ।

प्रविदधत् किल दुष्टजनव्यथां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२१॥

कनकस्य = सुवर्णस्य, कुम्भैः—कलशैर्मूर्तिं सानु यस्य तस्मिन् सुरमन्दिरे, दुष्टजनव्यथा
व्यथां प्रविदधत्—प्रकुर्वन्त, वाद्यवरं नदति ।

पिपठिपुर्निजपाठ्यसुपुस्तिका ज्वलयितुं किल दीपमयोमयम् ।

विराति सत्वरमग्निगृहं बटुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२२॥

स्येऽस्ते निजपाठ्यसुपुस्तिकाः—पठनीयपुस्तकानि पिपठिषु, अयोमयं दीपं ज्वलन्मयं
बटुः—महाचारी सत्वरमग्निगृहं विराति ।

किरणकर्मकरैः परिशोधिते क्षणदया वितते तिमिरे घने ।

विपुलमं प्रतिभाति वियद्वपुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२३॥

दिनकरे—स्ये रजनीकरतां—चन्द्रतां प्राप्ते सति, प्रकाशश्चेन चन्द्रस्य तेजो-
दानात् । क्षणदया—रुच्या वितते—मिस्तारिते, घनतिमिरे किरणकर्मकरैः किरणधर्म-
धारिभिः शोधिते वियतः—आकाशस्य वपुः विपुला भा यस्य तयामृतं प्रतिभाति ।

विरहिणां प्रचुरार्त्तिकरः शरः विहितसालसचौरजनाकरः ।

वितनुतेऽतनुतेजसि सत्वरं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२४॥

अतनुतेजसि—विपुलतेजसि दिनकरे गते सति, विरहिणां—स्त्रीवियुक्तानां प्रवृत्ति-
करः—विपुलव्ययाग्रदः शर इव । विहितः—कृतः सालसः चौरजनाकरो देव,
श्रीराधन्दित्रायां सालसा मवन्ति, तयामृत एव चन्द्रो रजनीकरतां सत्वरं यथा स्वतया
वितनुते विस्तारयति । दिनकरमयादिति भावः ।

मदनमोदकरो वनितावतां धवलरश्मिमिरन्धमघो नयम् ।

द्रव्यतेजुलकान्तिविधुर्निजां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२५॥

दिनकरे गते—स्येऽस्ते, अनुलाद्यन्तिर्यस्य तादृशो विधुः, वनितावतां—स्त्रीमतां,

मदनमोदकः—स्मरकरः, हर्षकरश्च, भवकरदिग्भिः—शुभ्रकिरणः, अन्यं—तमः, अधो
नयन् निजां रजनीकरतां—निज्ञापयितां दृढयते ।

अलकमञ्जुनिकुञ्जतिरोहितद्विजपतिः प्रथिताभसुविग्रहा ।

भटिति सज्जति विश्वजिगीषया दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२६॥

दिनकरे रजनीकरतां गते—सूर्योऽस्ते ललकानां मञ्जुनिकुञ्जे तिरोहितो द्विजपतिर्यथा
सा, प्रथिता आभाऽत एव तु चोभनो विग्रहो यस्याः सा कापि भटिति—क्षणमपि
नातिवाह्य विश्वं जेतुमिव सज्जति ।

सैनिकः—अत्यन्तपिथयधिपण । गुल्बर । वाधु,

भवति यच्छ्रविमत्कमलाकरे नयति यत्कमलापतिरर्चते ।

ग्रहपतेर्विरहे मलिनं हि तत् कमलजं कमलं कमलाकरे ॥२७॥

कम्—जलम् भलयति—भूषयति तत् कमलम्, कमलजं—पयोजं, कमलाकरे—स्थली-
हस्ते, छविमद् भवति । यत्कमलं कमलापतिरर्चते—पूजने वयति, तदेव कमलं ग्रहपतेः—
सूर्यस्य विरहे मलिनं कमलाकरे—इदं वर्तते । नारं स्थानं विधित्सति ।

अथ वियोगजनिर्वृत ! कोकयोः प्रियवियोगमहोत्कटशोकयोः ।

अमुलमेति मुखात्परतः सदा नियतिसिद्धमिदं जगति भ्रूषम् ॥२८॥

प्रियवियोगेन महोत्कटशोकयोः कोकयोः—शक्रशोकयोः, वियोगप्रतिः—वियोगोऽ-
भूत् । मुखात्परं सदा दुःखमुपेतीति नियतनियमः ।

गणिकया गणिका सुपमान्विता गृहगवाक्षनिधापितकूर्परा ।

पथिचराभयनेन विधुर्यती घवलिते विबुधायन इन्दुना ॥२९॥

विबुधायने—आकाशे, इन्दुना घवलिते—प्रकाशिते, गृहगवाक्षे निधापितः—कूर्परो
यथा सा, गणिकया—“जह्नी”पदवाच्यपुष्पेण सुपमा—परमाशोमा तथाऽन्विता गणिका,
पथिवतान् पथिघ्नन्, नयनेन विधुर्यती—विह्वलि भयन्ती विचरे ।

सुललनामणिनूपुरशिञ्चितं बलयमङ्कृतयोऽहमुल्लोदताः ।

कुमुदबान्धवशोभितदिग्गजे न पुरुषस्य हि कस्य हरन्ति हन् ॥३०॥

कुमुदबान्धवेन—चन्द्रेण शोभितयासौ दिग्भ्रजस्तस्मिन्, सुललनानां मणिसंचितम्
पुराणां सिद्धितम्, अट्टानां—शिरोरुहाणां, मुखेन—द्वारेण, उद्भूताः—निष्पन्ना, बल-
कङ्क तयश्च कस्य पुरुषस्य हृद्—मानसं न हरन्ति ? अवश्यमेव हरन्तीति भावः ।

सैनिकः—साहित्यामलसरोराजराजहंस । कबोन्द्र । धन्या भवन्तो य एवमहर्षि-
मकरन्दमोहिभिः पीयूषमयैः काव्यात्तापविनोदयन्ति मनः । नानावास भवार्ता साहित्य-
वतारणां समागमाः सागमानां सम्पद्यन्ते ।

के० के०—सेनापते । बहवो जगति काव्यकलाकलापकलापिनः क्लृप्तः । येषां काव्य-
मूर्तीनां माहेशास्तु छात्रत्वेऽपि न मत्ताः । परन्तु सरणिरियं प्रत्यहं प्रक्षीयमाना ।

सैनिकः—गुरो । विभ्रालङ्कारपूर्णां कवितामपि तन्वन्ति भवन्तः ।

के० के०—तस्याः काव्ये गदुभूतत्वं मतमाचार्यैः ।

सैनिकः—भगवन्, तेषां रचने वैदुष्यं तु परीक्ष्यते एव भवेत्तान् गदुभूतत्वं ।
सोऽपि रस आस्वादकः ।

के० के०—आकर्ण्य—

सैनिकः—आमवहितोऽस्मि । देव । साम्ब्यविष्णुचितोऽयं कालः । तथा यतनीयं
यथा देवानां स्तुतिरपि सहैव भवेत् ।

के० के०—अस्तु, एवमेव भविष्ये । अयं सर्वतोमयः शिवस्तवः—

देवं कुशं शङ्खु चन्दे रंहतां कफतां हरम् ।

कुनाम्बरं रम्बनाङ्कुशं सरं व्यध्यरं सशम् ॥३१॥

कुत्सितान्—कुशान्, स्वति—तन्करोति यस्तादृशं देवं—भगवन्तनुमापतिं, शङ्ख-
दण्डवद् चन्दे । छिन्मभूतं—रंहतां—वेगवताम्, अविचार्यं कुर्वतामितियावद्, कफतां
गर्भं कुर्वतां “कफ लौल्ये” लौल्यं गर्वधापत्यम् । अनुदात्तेत्यलक्ष्यमात्मनेपदमन्ति-
वक्षिणे विस्तरणात् । हरम्—नाशकम् । सशम्—कात्यायनसहितम् । कुत्सितं न अन्तरं
यस्य सम्, रमन्ते—कीदृन्ति ते रमः—वितापिनः “रमतेर्विच्” तेषां वनस्य—समुरस्य
अञ्जुशमिष । सशम्—संसारं प्रति, अशम्—शीघ्रं भक्तस्य विपत्समकालमेव भवती—
विचिष्टोऽपि, रसकः ।

अम्बा नुमो भासमानां वान्धवादनुमादिमा ।

नुपायमा नाल्यभासमोदमानाननाऽऽनुभा ॥३२॥

रसासाररसामन्दकासारी समसामनाम् ।

तां मसामगुसाहित्यां शंसाररसाहिताम् ॥३३॥

शुभम् । पूर्ववदभयम्, द्वितीयो सुरासकः । तां भासमानां-संज्ञा-
जन्तोम्, अम्बा-देवी नुमः । बन्धो बन्धनं कृतमन्धी बान्धः स एव वादः दृष्ट्या-
भयदो वाहः तस्मै शुभा-धेय, आदिमा-य । नुपां-प्रथमतां अना-
सहस्रिनी, नालभासं-विपुलज्जलं मोदनामवाक्यं वरसाः सा आनुभा । अनु-सदः-
प्रवापशीला भा वस्याः सा ।

रसानां-शृङ्गारदीनां य आसता-धरासम्पत्तः स एव रसो जलम्, तस्य भयन्द-
कासारी-महाकासरायक्यम्, समसा-अप्यनेन, अमनुम्-अस्वीकृता । सा स्थली
रसप्रीति मम्-शोभासम्पन्नम् "अने अचय" स्याभूतं वताम तदेव तु-शोभनं,
आहितं यस्याः सा तम्, सो-सुरां पिबते एभिर्भिः सम्पत्तः-रासः, "चरोरु"
सावामदतीति "अम रोगे, विपु" सम्पत्तम्-विपु, तैरान्वि-अदरे, इति शंसारीः-
साधस्तेषां रसेन-केनऽऽहिता-व्याजम् ।

मारतो विपमा पाग्नपामादसकादिमा ।

मालिका देष्पुमा गेवा पागेऽमागगतो रमा ॥३४॥

महेराषामनयनां नमामो अगदम्बिकाम् ।

महेराषाधनयनां समाप्यां अगदम्बिकाम् ॥३५॥

शुभम् । एवं वदन्तः, अत्रय श्रेष्ठविद्वान् । वरं महेराष वदे-
सुरो वदे रसाः-स एव तां वतामः । अगद अगदति-श्रेष्ठं स्याभूतम्
महेरा-सुवं, वदेते वदे स्याः स तम्, अम्बिका-वदे, अम्बा-अम्बम्
"महेराषो वतामः" इत्यर्थः । अगदेव अगदः-विपुलसम्पत्तम्-वतामम्बिकाम्,
सा वपयो विपला-विपला । वरराषो महेराषां मध्ये अगद-रसः स्या-
एवैव अगदः अगदितेव स, वदेते स । स अगदः अगदितेव स्या-
एवैव अगदः अगदितेव स, वदेते स । स अगदः अगदितेव स्या-

इति मेदिनीकोशः । मालिका-जगद्धारिणी “मलधारणे” देवी-देवनशोका जगत्-
संहारस्य, अमा-सहस्रतिनी शक्तिरूपेण, योगे-पूजार्था मेया-‘सर्व’वाक्यं सारधारण
प्रथमं गणनीया, रमा-उत्कृष्टरूपा एवं भूता या उमा तां नमामः ।

पालिका जीवहृन्दस्य लये महति कालिका ।

कापि माता सतां मान्या भवे जयति विधवा ॥३६॥

पाकरासनसम्मान्याऽनन्तदेयमहाधिपा ।

पारावद्रपापिपूरा पाथोजाह्मिमुपादुका ॥३७॥

सप्तवन्धः । जीवहृन्दस्य-प्राणिमात्रस्य पालिका-रक्षिका । महति लये-मा-
प्रलये कालिका-क्षयकत्री । पाकरासनस्य-हृन्दस्य सम्मान्या, अनन्तदेवानां-अनन्त-
तानां गुराणां महाधिप-अधीश्वरी, पाथेन आबद्धः पारिनां दूरः-समुद्रो वया हा ।
पाथीर्यं-कर्मतः तद्वद्विप्र-योः सु-सौमने पादुके वरणाः ता, विधुं पाति रक्षति ता, क्ता
मान्या-पूज्या कति-विलगुणा माता भवे जयति-सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

श्रीर्या नित्यं कुञ्जवासं भेजे चन्द्रसमानना ।

मनोरमकलापारां तां तुमो धीतरसंवितः ॥३८॥

सततभ्रान्तकमलो हस्तः शान्त्यै भवेद् भ्रुवम् ।

दैत्यहृन्दशिरोद्वयीं श्रोत्ररा नो दिरोद्वितम् ॥३९॥

पञ्चवन्धः । तुम्यहम् । वा चन्द्रसममाननं वन्धाः ता धीः-शायद्वर्तनी कुत्र ।
कालो माय तं कुञ्जं भेजे-सिखे । तां मनोरमानी-इत्यनां कदम्ब-वृक्षजन्म-राम,
महामरुद्विहारी वीर्यमविनी वर्यं तुमः । सततं भ्रान्तं कर्मसं येन तथाभूतो हस्तः श्रुं
शान्त्यै भवेद् । महामरुद्विहारी इति शब्दः । श्रोत्रु वरा-धेष्टा दैत्यहृन्दस्य शिरोद्वयीं
महामरुद्विहारी वीर्यमविनी इति शब्दः-इत्यम् ।

रमा या मादमायामा कमा रयामा दमान्विता ।

रमा रेमाममा कमा हे मातः ! मानमाचर ॥४०॥

रक्तनेत्रम् । हे मातः ! वा त्वं मायया-इत्यम्, “मातः भवे” इत्यम् ।

मायायाश्च अमा = सहवर्तिनी । “अमा सह समीपे च” । रमा = लक्ष्मीरूपा । दमा = तद्रूपा, श्यामा = सदैव युवतिः । दमान्विता, प्रेम्भि = प्रेमविवशे असमा वामा, नास्ति समस्तुभ्यो यस्याः सा वामा उमा = पार्श्वोदपिणी त्वं मानमावर = विवेदि ।

मुक्तिवयं ! मुरारिस्त्रि ! मुक्तोपेतमुह्याम्बुजे !

यामाययंऽथ कृष्णास्त्रिप्रिये ! पूतपदाम्बुजे ॥४१॥

खड्गवन्धः । हे मुक्तिवयं ! मुक्तिदाने धेष्टे । मुरारे त्रि ! मुक्तैस्त्वेतं मुह्याम्बुजं मत्स्याः सा तथाभूते ! वामासु वयं । कृष्णधात्री अस्त्री = अश्वकुशलस्तस्य प्रिये । पूतं = पवित्रं पदाम्बुजं यथास्तथाभूते । मां = तव शरणागतं अव = रक्ष ।

सततं नम्यते या श्रीरस्तु सा नितरं पवा ।

धारेण योगिनीनां सहिता मा नितराममा ॥४२॥

पुनर्वन्धोऽयम् । या श्रीः सततं नम्यते, सा योगिनीनां धारेण = समूहेन सहिता, मा = माता, नितरं पवा = अत्यन्तं पावनी, नितराममा च = अत्यन्तं समीपवर्तिनी यास्तु । सैनिकः ० — एकदा देव । देशभ्रमणोत्कीर्णं विद्वन्महाविद्याक्रान्तकर्षा भगवत्सारक-
तारयिदुनिःस्वार्थमुक्तिप्रदस्य विद्वन्नाथस्य पुरी गतः पूर्णपुरीमन्नपूर्णा शिरसाभि-
नन्द, अगदपीपनाशनसङ्कल्पार्था त्रिभुवनवन्द्यायां महेशोत्तमप्रसन्नार्था गङ्गाया-
मखिलं मूलं विशोष्य, भैरवदण्डं कालभैरवज्ञानम्, भवं विधाय, इन्दारकदाशी-
मुधासतृष्णः कबितोदकः कस्यापि कवीन्द्रस्य भवनमयमम् । दृष्ट्वाथ पदमद-
रुहकारं यदभितोऽष्टदलाग्रेषु कर्तुं नामपि न्यस्तपासीत् ।

के० के० — आम्, आम्, भवन्ति तादृशा अपि वन्धाः । तावपि शृणु —

श्रीर्यस्य चञ्चलमुखचन्द्रदैत्यशा नितान्तरम्या मुदभाजिनी स्त्री ।

वामेतरः स्यान्मुरदैत्यधातुकः स श्रीपतिर्मे मुदमावहच्छविः ॥४३॥

पञ्च कमलवन्धाः । यस्य विष्णोः चञ्चलं = विलसत् मुखचन्द्रलोत दैन्यम् = शोकं सन्ति = तन्करोति सा, अत एव नितान्तरम्या, मुदभाजिनी = हर्षप्रिया । रम्यापि यदि हर्षं वापस तदा तया चिम् ! श्रीः = लक्ष्मीः, स्त्री = पत्नी । ॥ मुदमावहन्ती छविर्देस्य स

तथाभूतः, एतेन सौन्दर्यं ध्यज्यते, सुरदैत्यघातुकः—भुवन्ता, एतेन वीरत्वं गम्यते।
स थीपतिः—विष्णुर्मे—मम वामेतरः—दक्षिणः—अलुक्कलः स्यात्—भूषात्।

श्रीशङ्करः कामरिपुः शुभस्पृशा नितान्तमव्यान्मखनाशकोऽस्मी।

वामेतरः स्यान्मददो कदम्बकसमृद्ध ईड्यो मदमत्तशीर्षिः ॥४३॥

कामरिपुः—श्रीशङ्करः, मखनाशकः—दण्डयुद्धविष्वक्कः, अस्मी—अत्रवतुरः, शुभस्पृश
नेत्रेण मां नितान्तमव्यात्। मदं—इयं ददतां कदम्बके—समूहे समृद्धः, मदेन मत्तानां—
हस्तानां शीर्षिः—हिंसक ईड्यश्च अस्माकं वामेतरः—दक्षिणः स्यात्।

श्रीद्रोहिणामाशु विनाशकर्करा निशरोपदेशोऽशुभनाशिनी स्त्री।

वामाभिरामाऽऽशु निहन्ति दैत्यकसङ्घं नुमस्तां शुचिना हतो रविः ॥४४॥

या वामाशु—छोष, अभिरामा—सुन्दरी, श्रीद्रोहिणी—समृद्धिद्वेषिणी अशु
विनाशे कर्करा, या च निशरोपदेशे—सर्वत्र, आशु—शीघ्रमुपद्रवसमकालमेव, अशुभ-
नाशिनी—अकल्याणहर्त्री, अथ च दैत्यकसङ्घं निहन्ति। यया च शुचिना—श्वारेण
“श्वारः शुचिहज्जलः” रविः—सूर्योऽपि हतः—अपतेजः कृतः। तां नुमः।

श्रीभास्करो दीप्ततनुः समस्पृशा निश्राङ्कमव्यात्ततकान्तिरस्मी।

वारेण रश्मेस्तमसां व्यपोहकः समः समेषां तरुणारुणो रविः ॥४५॥

श्रीतुल्यां भासं करोति अतएव दीप्ततनुः तता—विस्तृता कान्तिर्यस्य तरुण-
अर्जु, रश्मेः—किरणस्य, वारेण—समूहेन, तमसां व्यपोहकः—नाशकः तरुणारुण-
समेषां—सर्वेषां समः—तुल्यः, रविर्मां निश्राङ्कम्—अतंसयम्, अव्यात्—रस्यात्।

श्रीर्यस्य हस्तीशमुखस्य दुःखशा नित्यं गतास्ते शरणं शुभा स्त्री।

वामः खलानां शरणं नु मेचकसर्गो नुतोऽय्याशाययिघ्नजागृविः ॥४६॥

यस्य हस्तीशमुखस्य—गजाननस्य, दुःखं शयति, तादृशी धगद्दुःखहन्त्री, शुभा-
पतिव्रता स्त्री, धोः—अद्विषिद्विरूपिणी, नित्यम्—सततं शरणं—सेविकात्वं गता—प्रता-
भास्ते। स खलानां—दुष्टानां वामः, मेचकसर्गः—चित्रविचित्रावयवः अपस्तान्तरत्व-
गम्यत्वात्। अत्याशयाः ये विघ्नस्तत्र जागृविः—धागरूढः। ये शरणमस्तु।

सैनिकः—आचर्यम् । शास्त्रिन् । मद्रक्षि तस्य चित्रमेव पुरः स्थापयति । विद्याजो भवतोऽभ्यासः । देव । किमार्थं वृत्तमिदम् ।

के० के०—इदमुपश्रितः । मयागीन्द्रब्रह्मोपेन्द्रब्रह्ममृतयोः समानाश्रयोदयशक्तिः प्रयुक्त प्रविष्टा च, परं समत्येवेवोच्चार्यमाणानां वंशस्थादीनामिषं मवीनोरशक्तिः । “एवं विद्यान्यासविधिधितानु०—इत्यादिना तस्या विधानम् ।

सैनिकः—आ एवम् । पुरो । इमवन्धे नाम समानच्छेदनाम्, तदा सुशोभनं स्यात्, यथा कस्याश्चन नायिकाया गतेऽस्तिमिव । यदि सम्भाव्यते तर्हि मयैव मीतपुत्रायाः सुन्दर्याः कमलाया एव गतेऽर्प्यन्तम् ।

के० के०—उक्तं इदमन्धे तु नाम न समेयति, परं परस्मिन् बहुगुण्ये इदमन्धे समेयति । अतः, आध्यात्मस्यायम्—

मिथ्यारम्येऽतिकान्तिप्रतिमसमसमष्टौ मुने मुद्रमुद्रा,

लेद्राविद्रावद्वारे ! हतद्वयद्वारे ! दसु कचां कलौ कः ।

मन्येऽमन्दं मलेनं विनशानृतिहृन्धे कृतेरां प्रशान्धा ।

रामभावे ! भारभासे ! मणिमयमपुरे ! पुर्णपुर्णे ! रयीमि ॥४८॥

कति कमलां विद्रिन्ति इदमन्धे । अवि । रामभावे । मित्रादित्वा भावन्दरादिभिः । कमले । मिथ्यैव तत्त्ववद्भासमानेऽस्तिवत् जयति, अतिदान्ता-विशुद्धमनः, प्रतिभा—मुक्तः, समा—सर्व, समहिंसक सः, तस्मिन् मुने । एकाः कौन्तेयं सर्वं जगत्, एकास्त्वन्मुखमेवम्, उभयं सम्यक्निष्ठं मयः । तस्यैव मुने त्वं मुद्रं—इदं गच्छति तस्मिन् मुद्रा मयि । अहं त्वन्मुखं कीर्त्तयिष्यामि । अवि । लेद्राविद्रावद्वारे । अन्ति—शेयन्ति वंशारे य के—वेदः, “मित्रादित्वा” तं दर्शितुं वीतिवर्त्तनी मयि । सा लेद्रा—मुद्रिन्ति सर्ववर्त्तनी । तस्या विद्रावद्वारे । मनोमते । इत्ये—यदिः इत्यत्र इत्ये इत्यं यथा तस्मात् । दसु तित्ते कलौ मुने कौ दस कलां सम्मर्त्तयिष्यामि । मयि । रयीमि । अवि । भारभासे । उभयभावे । “मयः त्वन्मुखमेवम्” “मुद्रा विद्रावद्वारे” इत्यमरः । मयः त्वन्मुखमेवम् भागः मुद्रावद्वारे मयः, त्वं विद्रावद्वारे-

निर्माणादिति भावः । तथा मणिमयैः—मणिस्त्रचितैराभूषणैर्मधुरैः । ते सुष
ममन्दं—विपुलं मलेनं—तमोराजं प्रति, विनयनकृतिः—विनाशनम्, तत्र हृत्यै धर्मै
कृतेशम्—विहितैरा मन्त्रै—जने । चन्द्रनाक्षं तमोऽपि त्वन्मुखं नाशयति । तं
प्रकृष्टं रां—कस्यायं दधाति तादृशी । अयि । ध्रुवाणां—सौन्दर्ये अप्रगल्भानां पुनै ।
प्रपमगणनीये । अहं त्वामेव रवीमि ।

सैनिकः—अहह ! पण्डितसर्वमौम । कविकथयति । (स्वकीयां मुक्तामलां
हारिश्रृंगो गले पातयन्) धन्योऽसि । शोभनं विरचितवानसि । रामचरितं
सद्गुणानपि वर्णयन् देविभ्यमाध्यय्य कृतवानसि । (परितो वीक्ष्य) अनुमीयतेऽहो वाम
॥ गतो मामिम्याः ।

के०के० । आम्, इयानेव प्रतीयते । चन्द्रचन्द्रिका पुनर्दिवाभूता दायिः ।

सैनिकः—आम् । अन्यदिक्मपि ध्वनिष्यते ।

के०के०—(वञ्चयि दृष्टिं जिह्म) अवे । इयं कुतो प्रथितद्वयचन्द्रा देरीष्वमात्रमन-
वर्णलमुक्ताऽगृह्या मदहं माता ।

सैनिकः—(गर्दिनुमनोदमानोऽपि) गुह्यतर । एषा तुच्छोदयति धीवताया
मातृदाराद्विना धीमन्तरात्पारागच्छावितमनोबुद्धा दृष्टेन, कविप्राग्वचने निर्मात्रे
प्यनविषयीकृता ।

के०के०—आम्, ध्रुवता धेदम्यच्छ्रवणामः । त्वमस्मादमय कपोऽर्भकोऽस्तिष्ठि ।

सैनिकः—आं दण्डवतोऽस्मि देव । मदनीश्वर ।

के०के०—आम्,

नुमः प्रदात्री गुणभूषणां मां नुमः प्रदात्री गुणभूषणां मान् ।

नुमः प्रदात्री गुणभूषणां मां नुमः प्रदात्री गुणभूषणां माम् । ॥४६॥

सर्वदमम् । प्रदात्री—प्रदनेन दानदीपिका, गुणा एव भूषणानि दायका वा ही मां—
कल्पते नुमः । मयदन्तर् प्रदात्री कः न अन्तः—हिनु, तस्य ही—अन्तर् ही
विपुलार्थवर्धकः । वा दन्त—प्रदनेन ही—कल्पतेन ही—मां ता त्वन्मुखं हिनुर्मा
कल्पते । गुणभूषणम्—धीद्वन्द्वेनां भूषणनिर्माणं ता वसति, दाना, धीवता—ही
तत्त्वमन्त्रे वा कः कुर्वन्ता ही मां नुमः । "४६ कहे ।" नुमः मां नुमः—

क्याप्रेमिणस्तथाः, तेभ्यः सन्वन्ति-ज्ञानं ददति ते गुणभूषणो निद्रायाः "समेतेविष्"
 तेषां गुणभूषणो-विदुषां इवे प्रदानीं मां-मातरं युगः। गुणभूषणोऽस्ति ते
 गुणभूषणः 'उप दद्यात्' इति तेषां गुणभूषणो-गुणभूषणोऽस्ति प्रदानीं-
 प्रदानीं वाऽप्युपदद्यात् मां देवीं युगः।

चिन्तामणिप्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गा स्तुम ईशायामाम्।

चिन्तामणिप्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गा स्तुम ईशायामाम् ॥६०॥

समुज्ज्वलम्। चिन्तामणिः-अमिर्तितवस्तु ईशम्। तस्य प्रातेन-समुद्रेन
 चितः-निमित्तो यः प्रसादः-प्रसन्नता तेन समुज्ज्वलान्मङ्गलं दद्यात्। एतत् तम्,
 ईशायामाम्-चिन्तामणिं स्तुमः। अगते-इत्यर्थः। बाहुल्यप्रपञ्चः, यः येषाम्
 तेऽस्ति-चादिभ्यः, तेषां प्रातेन, अर्धं प्रतिष्ठा-प्राप्त्यप्यनन्तरं तदेव प्रातः, तेन चितः-
 यत्तत् यः प्रसादो ज्ञेयः तेन समुज्ज्वला, चिन्ता-स्मृतिराम्, मां-इति,
 ईम्-इति इति ते ईशः प्रदानीं वाऽप्युपदद्यात् मां देवीं युगः।

सासिः सिसा सासिसासा सामुमुः सेः ससासमोः।

सासासी सामुसा साऽऽम ससेऽसासिः ससाससा ॥६१॥ (कुट्टम्)

एतत्तत्। ससि-चिन्तामणिं ससि-अमिर्तितवस्तु ईशम्। तस्य प्रातेन-समुद्रेन
 चितः-निमित्तो यः प्रसादः-प्रसन्नता तेन समुज्ज्वलान्मङ्गलं दद्यात्। एतत् तम्,
 ईशायामाम्-चिन्तामणिं स्तुमः। अगते-इत्यर्थः। बाहुल्यप्रपञ्चः, यः येषाम्
 तेऽस्ति-चादिभ्यः, तेषां प्रातेन, अर्धं प्रतिष्ठा-प्राप्त्यप्यनन्तरं तदेव प्रातः, तेन चितः-
 यत्तत् यः प्रसादो ज्ञेयः तेन समुज्ज्वला, चिन्ता-स्मृतिराम्, मां-इति,
 ईम्-इति इति ते ईशः प्रदानीं वाऽप्युपदद्यात् मां देवीं युगः।

सामुसा—असुभिः सह वर्तन्ते ते सासवः—विपुलौजसो दैत्याः, तान् स्यति सा । अस्ति—
 रक्तधे असिर्यस्याः सा । ससावसा—समानास्यन्ति ते ससः—दैत्याः, एकमित्त्वदेशान्
 दैत्याः समानाः । “समानस्येति”सभावः । तान् अस्यति स्यति च सा, पवादच्—उत्तर
 कान्ताट्टाप् । सा—गौरी “सा च लक्ष्मीः सुधैःश्रोका गौरी सा स च ईश्वरः”—
 इत्येकाक्षरकोशः । आस—असुप्रविक्षेप । सामुर्मां नमाम इति परेणान्वयः । कुलम् ।

रजोर्जर्जजजज्जूराऽजी जजज्जरेजाऽजरा ।

रराजोजोऽजिरे राजेर्जर्जराजे रुजोरुजा ॥५२॥

द्वपक्षः । रजसा—रजोगुणेन, जर्जन्ति—मर्त्सयन्ति “जर्जं मर्त्सनादौ, तुदादिः” ।
 तयामृता ये जजन्तो दैत्ययोद्धारः “जज हिंसादौ” भ्वादिः । तान् जूर्यति सा ‘जूरी
 हिंसायाम्’ अजन्ताट्टाप् । अजी, अजस्य—अजन्मनो भगवतः स्त्री । अजज्जमे—
 जजतो—युष्यमानान् “जज युद्धे” जिणाति—वयो हापयति सा “जि वयोहानौ विच्” ।
 उरजा, उरुतो—महत्तो जातापि अजा । अजरा—नियतावस्था । राजे—समूहस्य,
 दैत्यानामितिभावः रुजा—पीडा जर्जरय—क्षीणतां गतस्य, साजेर्जुं दस्य ।
 ओजोऽजिरे—ओजस्विनि रणाङ्गने रराज—शुश्रुमे ।

योयायियाययीयायाऽरीरं रो रेरेरेरम् ।

ददाददा ददादुदेलालेला लोललीलला ॥५३॥

एकाक्षरपादः । यौति—मिथयति स्वमीकनेऽपमं स योः—नीचवृत्तौ राक्षसादिः ।
 “यु मिथनादौ, विच्” तं यातीति यायी—तादृग्विधो रक्षस्समूहः यासेणिनिः, युक् च, तं दति
 एवम्भूतो यो ययीः—मर्मस्तस्मिन् यानं यस्याः सा, तेषां विन्यशायेतिभावः । वा प्राप्ते
 धन् । अरीरं रोः । अरि—घनमोक्षिवा इति अरोरम्, ईरं रोपे । रात्रं प्रक्षियेत्यर्थः ।
 रोः—रात्रापमाना । अट्टहासादिनेतिभावः । अरेः—रात्रोः समीपे अरं—रात्रं रोः—
 गमनशाला । “रि गती” विच् । ददाददा—ददते इति ददः, समारदते सा ददारदा—
 ददुर्वा दद्री । ददादुद—ददान्—दातुन् आदुनोति इति ददादुन् तं दति—साम्पत्ति
 सा दददुदा । इत्यादाः—पृथिव्याः, लेला—दीप्तिः । लोलां लीलां लति—आरणे
 ना लपामृता ।

छातातल्ललां तालोन्नतां नीतोन्नतिं नुताम् ।

हंहो ! हंसासिसंहंसां नमामो मामुमाममा ॥५३॥

द्वयश्रयादः । छातः = आदत्तो गृहीतो यः अस्य = विष्णोः तल्लः पादतलमिति भावः ।
हरिम् न लला = ईप्सा मस्याः सा ताम् । तालगदुषताम् । नुताम् = नमस्कारिणां, नीता
उन्नतिर्पेमा सा ताम् । हंसाः असिद्ध ताभ्यां समः संहंसो यस्याः सा ताम् । अमा = निकटं
वर्तमानाम्, उमा मां = भगवतीं नमामः ।

तमामहे हेममानभासितां जजतां सिमा ।

शिवाचाररवावाशि राजिताजिर्जिताजिरा ॥५४॥

प्रतिलोमानुलोमयादः । हेम्ना = सुवर्णेन यो मानः = चित्तसमुन्नतिः, मत्समो नास्तीति
निवारः, तेन भासिताम् = उपज्वलां नमामहे । किम्भूता सा = शिवानाम् = अगालीनां वारस्य
रेषा वागते हरिम् न = युद्धं, जजताम् = बुध्यमानानां सिमा = मारवित्री । दिक्षु द्विसर्गाः,
पञ्चाचि टाप् । जितमजिर = रणक्षेत्रं यया सा । राजिता आजिर्यया सा ।

याचते मनसा वाण्या भक्त्यायाद्भद्राणि ।

नोपिदाऽभ्रदयाऽऽक्तभण्यावासा नमतेऽचया ॥५५॥

गतप्रश्रयात् । मनसा वाण्या वा याचते भक्त्या, अद्भ्रं = प्रचुरं दापयति
तच्छ्रोत्रा । नोपम् = कदम्बं तदस्यास्तीति बीपी = कदम्बप्रेमी भगवान् कृष्णः, तं ददाति
सेव्यत्वेन सा । अभ्रदयाया = अभ्रवन्नेपथ्यदयाऽऽप्ता = धर्मा कोमलमानसा ।
मनिनी = मित्रास्तेषु आवासी मस्याः सा । अचया = नास्ति चयः = रुद्रिदंस्याः सा ।
हृदिर्विहारमायस्योपलक्षणम् । तामसौ नमते ।

जलजातलसद्गस्तहृद्यायाः शरणं गतः ।

साराङ्कानां शरण्यायास्तस्याश्चरणनीरजे ॥५६॥

निरोधः । जलजातेन = कमलेन लसन् शोभमानो हस्तो यस्याः सा हया च
वस्याः । साराङ्कानां शरण्यायाः चरणनीरजे = पादपद्मे शरणं गतोऽस्मि ।

ततश्चाग्रे विवशति धो के० के० शार्ङ्गणि जगन्नि “धात्रिन् । धात्रिन् ।
रिदं” = इति षनिः ।

के० के०—आयनि भगवन् ! (सैनिकमिसुगम्) आं श्य—

नुमो मां सद्वुधान् दृष्ट्वा मूढमानससूतलान् ।

ददद्यागनुकम्पातो मोदमानां त्वरं मुनान् ॥१८॥

अन्वयः । सद्वुधान्—धैर्यवान् । मूढन्—विचारयन् मानससूतलं देशं । यथाभूतान् मुनान्—पुत्रनिविष्टान् कवीन् । दृष्ट्वा ददद्यागनुकम्पातः—ईदमयं विवेकपूर्णवाणीरूपया दयया, त्वरम्—घोषं मोदमानम्—हृष्यन्तीं मां मुनः ।

पुनरप्रापि, “शारिप्रन् शारिप्रन्” इति श्वनिः ।

के० के०—एभि प्रियवर ! क्वमीवन्द । एमीत्युत्तोर्यं यावद् विपत्तिं तावदेव प्रत्युत्पन्नमहोत्कृष्टोऽपृच्छद् विचारचतुरः सैनिकः—देव ! किमद्वयसा महीं महिता देवेन ।

के० के०—चोता शरदां विराटिरागत ! मोदेन वयसि सातोपम् ।

अधुना धारासारैरविमलकेशां भजामो माम् ॥१९॥

असंयोगः । हे आगत ! वयसि—अवस्थार्या, सातोपं—हानन्दं, शरदां विपत्तिं बीता—गता । अधुना मोदेन—परमप्रेम्णा धारासारैः, अविमलकेशां—कृष्णकेशां मां—भगवतीं भजामः ।

पुनः ध्रुतः “शारिप्रन् एहि सत्वरम्, श्येत्येति भोजनवेला, शीघ्रतया श्रेयसि विपथितः”—इति श्वनिः ।

के० के०—महोदय, अतुच्छहृदीया गुरुजनपदा, भवदृशां समागमोऽप्यनन्दः । परं समाह्वाननिबन्धो मां विवशयति । समयो लभ्येत चेत्पुनरपि ताक्षत्कारेण सम्मथ्या । मन्ये भवन्निवेशोऽप्यकारणविलम्बेन शोत्कृष्टा भविष्यन्ति भवदनुचराः । आम्, भवतं किं नाम ?

सैनिकः—(प्रथमम्) देव, चन्द्र इति ।

के० के०—कुशलम्, अस्तु यामः

प्रयाते क्वौ तरपामनिधुरं प्रदेशं मूर्ध्ना सम्भाव्य चन्द्रोऽपि निजमर्षन्तमादरोह ।

अगताई निन्तरं धारासम्पातः । यद्ने तन्निवि स्तुती सुशान्दमयी दृश्यते
 मपरश्याम् । वरुः, अन्यनमस्य, इन्तःपट्टं शीतम्, तीक्ष्णरो वयुः, दृष्टेः नामि
 मगरतः, दृष्टं द्विजम्, अरुण्य अरुः, शीतलताया शीतला, कथरीद्विजम् कथ-
 मारुतम्, दृष्टायां निम्नवर्धनिवृत्तः दृष्टवर्धनिवर्धनी मयनवर्धनी केन्द्रतः ।

पश्यन् हाहाकारः प्रभुः । सनातनदर्शनं होषयन्ने 'अलङ्काराय दुर्मिश्रणाय च
 दुःखार्थं हृतं प्रतिदिनं प्रकल्पयन्नायुः । जनपदेभ्यो नगरेभ्यो नगरप्रतिनिधिर्यः पौर-
 प्रतिष्ठनेभ्यः स्यादुक्तं न्युक्तव्यमिति । 'विदूरातायतः सञ्जः पृथिव्यादेष्टाद् इति
 गमन् पश्यन्तो व्यस्यो बभूव ।

[illegible]

एवमागत्य विद्यापीठं पुनः प्रत्यक्षं दीक्षितव्यमिति दत्तः । अत्रैकीकृत्य
 १५०० वर्षाभ्यन्तरे विभिन्नः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षः एव उपर्युक्तः । अत्रापि पुनरागत्य दत्तः दीक्षितव्यमिति
 एवम् । अत्रापि पुनरागत्य दत्तः दीक्षितव्यमिति ।

[illegible]

१. बाल, २. हार से सज्जित, ३. दुष्ट बाल, ४. कलाश (Casket) । ५. मन्दार
(Gulzar) पुष्पों का बगीचा (Garden) ।

सर्वत्र पृथ्वी जलप्लुताऽऽसीत् । उन्नतभूमौष्वभितो जलाः पश्यो ग्रामाः प्रेष-
स्म, येषामुदजेषु कूजता मानवानामार्तनाशः सहृदयानां हृदयं व्यथयति । न
नार्यः शिशवः जलजीर्णशरीरा नन्या बुभुक्षिता अदमृता मृताश्च वृक्षेऽश्वदाः सन्ति
जलप्लावे महता वेगेन शुष्कतृणौघा स्रष्टा गावो महिष्योऽश्वा दृष्टाद्योद्यमाना अलुप्तचे-
कणसखरेण रक्षितुमाह्वयन्तः पतयः क्षियः, क्षियः पतन्, मातरः शिशून् परितः
काष्ठेषुपविष्टाः सहेव हिंसैः सर्पादिभिद्योपेता अदृष्टमाणाः परिरिपत्या मित्रतामापन्न
क्रन्दन्तः प्रवहन्ति । उल्लोकाः पार्श्वभूमि मञ्जन्तो मृर्धाधारमसारुर्बन्तः राक्षसमन-
वधिरयन्तो भीषयमाणाः प्रवन्ति । पुर्ल्लेपे प्रजा एकत्रीभूयापि जलशतपु-
साधनहीना दीना मृत्युमेवापेक्षन्ते । काश्चन पशुपु मुलं व्यादाय अक्षिणी विस्कार्य
विस्मृत्य च क्षून्यदृष्टयोऽविधान्तभावेनानुरेक्ष्य प्रवन्त्योऽवलोकयन्ते ।

चन्द्रस्य मानसमदो विलोक्य नितरां दुःखितम् । स शीघ्रं प्रत्यावर्त्य वपुर्ग-
सिद्धं भोजनं वासांसि काष्ठं दीपशलाकाः शुष्कमज्जं पात्राणि निगलितुं
प्रायच्चात् । जले सहस्रसो नम उडुगश्च मुष्काः । 'अस्तरपारिवहनां सर्वत्र
प्रबन्धो विहितः । सर्वतो 'भारवादिमरुतरै'र्बाणशकटीभिर्वायुवानैघाताः समस्त-
प्रारब्धाः । आरोग्यशालायाः' कृतयोऽप्यधिकित्सद्य मनोयोगेन तेषां सेवायै श्रमाः ।
आरोग्यशालायां केवलं साध्यासहस्रमासीत् । श्रमनां सख्यया चासख्येया । कत्रेव
अन्तःपुरं रोगिणीनां कृते दत्तम् । कमला च रोगितरपार्थे नियोजिताऽऽसीत् ।
आरोग्यशालाया अन्तःपुरस्य च कोर्ण कोर्ण दग्नेष्वीतम् । 'विरामरेषु साध्याभियोजिता ।

कमला अमप्यश्रमरोग्यशालायाम्, अतस्तत् आरूरात्रय मदिलारोग्यशालायां
म्यतिरास्यति स्म । निशीथे च 'निमर्त्यकाशिकामत्याय पूर्णमारोग्यशालां पश्यन्ती
अवतत् । विदित्वा च भाग्यः परिचारकाः सर्व एव तां स्व कार्ये दीक्षयेन्मरु-
प्रतिदिनं सा ममिनां मज्जन्तं सर्वं विदित्वा देव योग्यस्य सर्वं परिशेष्य निवस्य च
तेषां सन्ध्याय भोजनय विधमय निशीथे च कुण्ठन्ती पेषंमुदिसन्ती रोहमा-
रु-

१ अमृतेश्वर, २ दृष्ट, ३ देवता, ४ योग्य-साध्यकार्याव्याप्त, ५ मरुत-
विजयो विजयोऽवतत् वा । मृद्विष्यो विधम्य दृष्ट्य अवतत् वा दृष्टं वा ।
६ एवं दृष्टम् ।

स्तब्धस्थानध्वान् नष्टध्वान् गतध्वान् सान्त्वयन्ती सुप्रस्थितैव स्मर्य सञ्चारयन्ती रोगिण्य आहृदयत् ।

श्रीविमले काश्यपपूर्णं हृदयमासीत् । स्तमातृकायां शिशुनामपरितङ्क्येयाः शय्या आसन् । प्रत्येकस्य कृते एका धात्री क्रीडसाधनानि चामन् । अन्तःपुरस्य सर्वा द्वाष्टः शिशुवेषायां शृङ्गोताः । कमला स्वर्णं मातृहृदयेन तान् स्मरन्त्येति स्म । यदा सा विमले प्रविशन्त्यसीत्, सर्वे शिशवः “अम्मा आगता” इत्युच्चैर्ब्रूयन्तस्मां प्रवृत्तान्ति स्म ।

स्तमातामिवृत्तिपुत्राः त्रयोऽङ्गरतमार्त्तं कस्त्यो जीवनं हानुं कृतसङ्कल्पा औपधं पर्यं भोजनमनदनस्य उच्छूननयनाः कमलां व्यथयन्त्य आसन् । सा तासां परिचय-मधिगत्य कमसेवाविभागतः^१ प्रतिक्षणं दूरात्लाप्तो लुप्तसम्बन्धना कृते शिशुसमाना सान्त्वयन्ती स्वहस्तेनौषधं पथ्य भोजनं ददती धैर्यमुपविशन्ती भवर्त्तत । स्वत्यै-रदोभिह्वा तां देवीत्याहुः । परं कमलाया भगिनीनिर्विशेषं प्रेक्षणाय प्रेरिताः सौहादेन भगिनीशब्देनोत्कासयामासुः । सर्वे एव रोगिणो व्यपासमये तां समीपमेव ददशुः ।

उत्काषायां पुरुषाणां महिलानां च कृते निविधाः कुटीरोयोगाः स्थापिताः । शिक्षायै श्विमन्वीक्ष्य शिक्षका नियुक्ताः । शिशवः शिशुवाक्यानां प्रेषिताः । सर्वेषां नामानि विप्राणि परिवयेन सह वृत्तपत्रेषु प्रकाशितानि ।

यत्रः प्रतिदिनं जलाप्लुत क्षेत्रं “कङ्कविमानेन क्षयमपश्यत् । एकदा च जलप्लुतं प्रदेशमवेक्ष्य प्रत्यावर्त्तमान एकस्मिन् पुद्गले शिबिरसन्निवेशमपश्यत् । स्थानमिदं पावनगरतो मातिविद्वग्मासीत् । सन्निवेशस्य सुमगः सुदक्षैः सैनिकैः कृतरक्षो व्यवस्थितो बलकावेनाप्रभाविताः शान्तयासीत् ।

एका हीरकमालेश्च भास्वरा खण्डरागा इमयो मशालादे सान्ध्यतिथये अभिसुर्मसु-विश्रान्तीत् । शोणितशोणितौ तस्याः करौ बद्धास्त्री आसन् । सान्धिवेलोऽद्विमा-लया वत् लोचनकपोलदोर्भिह्वा तां सेवयति तस्यादूर्ध्वे क्षिपुणवति । सुग्धा यदा कदा श्पोलशोरापततः केशान् मृदुलमृदुलमिहस्तुतुभिः कण्ठ्यवीभिरपसारयति, एवं सुप्तं चन्द्रमिदं निशदयति ।

पत्रेयं विनीता वज्रिता स्विताऽऽसीत्तस्मादनतिदूरे एवपरं पुद्गिमशोभवत् ।

१ पुद्गिम् । २ आहृद-पुनराप चल्नेवात्मा हृदये बद्धा ।

पुलिने जलशाल्मप्रसङ्गप्रपुनैः क्षुरैः पूर्वमासीत् । उत्साहः, शान्तिः, सौन्दर्यम्, प्रभुं सुन्दरतमं रूपं तत्रासीत् । जगत्यन्ता, तृणा, मत्स्यस्यमभिराजः, आक्रोशः जनसङ्घस्य सर्वेषां नासीत् । विविधरागाः पतङ्गिका अलितपट्ट रत्नार्चक धोषवन्तः कीदृन्त आसन् ।

अभितः शुभ्र नयो मण्यकृष्या मुग्धा प्रवहन्त्य आसन् । प्रचण्डधारासम्पत्तः द्विरसा प्रकृतिः सम्प्रति शान्ता भवन्ती नीरवतां शनैश्शनैः प्रसरयन्ती मलयानिलेन निर्जनशांतिं सात्ययन्त्यासीत् । सर्वतो जलशाल्मविगतमला मयनहारिणी विभिन्न-विभूतिर्मानसं हरति स्म ।

सम्प्राप्तमय आसीत् । प्रदेशशान्ततां विचार्य तत्रैव सन्धोपासनां विधितुमशक्यं सन्निवेशपुलिने स्थानात्पतया अवतरणाद्यौर्ध्वेन पार्श्वपुलिने फल्गुविमानमवतरणायादिशब्द-नदीशिलातले उपविश्य सुखं प्रशाल्याचम्य प्राणनायम्य साङ्ख्यविधिप्रवणोऽभूत् ।

आकाशविम्बं स्वच्छनदीजले दृश्यते स्म । चन्द्रो विचारयामास, महद्विशालं वर्तते एतदाकाशम् । अहह ! हिमगिरिसदृशा दशमनवधयोऽयुतघो कारिधराः सूर्यसदृशा प्रहाधारिणः सावकाशं चक्रस्रति । विज्ञायते सूर्यः 'सपादनवकोटिकोशमितं दूरमस्ति । अस्माकं पादाङ्गुल्यां कण्टकेन विद्रायां यावता शौघरेण मस्तिङ्के ज्ञानं भवति ; तथैव कल्पितां यद्यस्माकमङ्गुली सूर्यसामोपमेत्य ततापाद्देहः, तदा तद्गहनं पञ्चदशवैर-स्माभिर्ज्ञातं भवेत्, इयान् सूर्योऽस्मत्तो विदुरोऽस्ति । अहह ! एतादृशा भवन्त-संख्याः प्रहा आकाशाजिरे चरन्ति, ये विदुरत्वादस्माभिर्युल्लङ्घ्यः प्रतीयन्ते ।

अकल्पमानकल्पना नीहारिकाधारास्मिन्नन्तप्रक्षाल्येऽवन्ता असङ्ख्येयाश्च सन्ति, विदुराश्च यत्नो यत्—यः प्रकाशः प्रतिपन्नः यदशीतिषट्श्लोकाधिकैकलक्षकोशमितमजानमति-कामति स प्रकाशस्तत्र त्रिशल्लक्षवैर्भजेत् । विज्ञायते एषा भूमिरपि यस्यां सचराचरं जगदिदं वसति कदापि सूर्यस्य भागो ज्वलद्ग्न्याप्रतिम आसीत् । परं प्रकृत्या बहिः शीतलीभूय घटन काले सूर्यगोलकान्नि-सृता, अद्यापि तमभितो भ्रमति । एष चन्द्रोऽपि 'एकान्नकर्षपूर्वं' पृथिव्याः सृज्याकृतिर्माय आसीत् । सोऽयमेकदा पृथ्वी-तो भिन्नः । तेन भूमौ 'सावित्रिकोशनिम्नः सातः समवन्ति । स एव समुद्र उच्यते ।

१ सत्रा नो करोह मील । २ प्रकाश का वेग १ मिनट में १८६००० मील है ।
३ गण - मिनट । ३ एक अरब । ४, २७ मील गहरा । समी जगद् कोशसे मीलही प्राय है ।

मासीत् । नीरसं शुष्कं वायुमण्डलं क्षान्तिहेनोन्मादकेन सौरभेण पुनरागमनेन
प्रकम्पितम् । प्राग्मोहूर्तकं तमोऽपहन्नुपपन्नमवा विभेव सा शनैश्चनैः पुलिन-
मारीहत् । तस्याः मुनं पौजिमबन्दादाहादकं सामघासीत् । यं प्रसिक्तना
सपिणोव वेणी—यस्यां कुन्दमुमनसधन्द्रं रक्षितुं वेगीसर्पिणोमात्रमणेच्छयाऽऽश्लिष्टास्तदा
इवेक्षन्त—आपार्णि लम्बमानाऽऽसीत् । सायत्नमीरिव मासमन्त्रा सा सम्मुखीभूय
चन्द्रं प्राणमत् ।

चन्द्रेणैतादृशी साधनसम्पन्ना सम्पन्नसौन्दर्यां रमणी अद्यावधि नैक्षितासीत् । तस्या
मुलमण्डलेन सा परिवितेव कदाचिद् दृष्टेयं च प्रतीयते स्म । विस्मितः स स्मिताबलोऽनेन
तामुदतरत् ।

अथ सा “देव । प्रमदाजनस्य घाट्यमशम्भम्, परं विपुलं क्षिप्तं घाट्यं” इत्यं
भवति गुणज्ञानम् । अतोऽहं काप्यपरिचिता कश्चिदपृष्टपूर्वान् प्रदानं पिष्टिष्ठयामि,
ययनीमाहं दीनवत्सलैर्दीना” इति सप्रथममवादीत् ।

तस्याः स्तरे सतीतवत् सुकोमलता माधुर्यमासीत् सौन्दर्यं च कवित्वम् । उल्लेख-
वशात्तस्या नेत्राभ्यां विचित्रं ज्योतिषीतमावम्, ओष्ठौ स्फुरन्तौ शरीरश्च रोमाञ्चितमासीत् ।
तस्याः स्फुटं विकसितयोम्बुगोमादकता, अरुणरूपोलयोबोलास आसीत् । सौन्दर्यं
तस्याः शरीरसौधेऽट्टहासं कुर्वन्मासीत् । साधनायास्तेजोमय्याऽऽभया सा तपस्विनीव
प्रतीयते स्म ।

अथ चन्द्रस्तस्याः निःसीमं साहसम्, उत्कृष्टां वीरतां साधनाय, अनितरसाधारणीं
प्रतिभाम्, अलौकिकं सौन्दर्यम्, पार्थिवशक्तिः सुचिह्नान् कलबलमितान् कृष्णोऽम्बुज-
केशान्, सुभगान्यङ्गानि विलोक्यंश्चकितस्तर्कतर्काकुलो नेयं लज्जावन्ता भयविह्वला सुर-
सुन्दरीव भव्यदर्शना दुश्चरित्रा भवितुं शक्नोतीति विचारयन्नेवोचत्—

चन्द्रः—आम्, स्तैरं स्वैरमभिधीयताम् । अभिपास्ये अभिषेयम् ।

रमणी०—कदापि देवः स्वयन्निद्रपादविक्षेपणेन किमपि पाषाणभूतं पुरमलञ्कारः ?

चन्द्रः—आम्, एकदा - -

रमणी०—कतीनां वर्षाणां यातां - -

चन्द्रः—गुणदधिकम्भवेत् -

किमपि कष्टं नामूत् । अथ भगवानयममृतमरीचिर्विजीवनेऽपि सुवातिप्रदो न्यसेन
यदहं पवित्रचरित्रेण मनसा प्रेयमाणाऽऽरुण्यदेवनाथ्यगमम् । भवदधिगते मम ।
चिन्ता व्यगताः । यात्रायामसङ्ख्येयैः कष्टैरादाह्नामिथ व्याकुलमानसाऽऽ-
परमपुना आदाह्ना, चिन्ता, व्याकुलता च युगपदेव व्यगता । अमुनाऽऽसि-
कुटिलकालक्षिप्तमानासै दास्ये कथनादेशः, सम्यक्ताव प्रकृष्टं क्षिप्तस्य प्रमदान्
प्राप्नोद्देगचरी प्रपमा पृच्छा” इति ।

सर्वतः प्रसरति प्रापेण्ये सौख्ये, ईपकम्पने मलप्रविष्टम्पने, उज्ज्वलायां चन्द्रिकाय-
स्मयमानायां तारावयाम्, विजने प्रवेशे, नैर्वा स्वस्थतायाम्, निर्मायिगिरा विषयवच-
प्रकृति प्रसादयता प्रसन्नो न मुलेन, मना प्रसादयन्त्यामनुमेयमुन्दर्यां सौपञ्चमं विभु-
विजयाजित इव स्वलज्ज् चरन्नेवाधिक इव समदमचारीत्—

विकसितयौवनारमे । रामे ! भवादसीमिदं शोत्पादितमानसोन्मायिमन्मर्ष-
रणप्रियाभिः प्रतिष्ठतानि वैपश्यमानुवन्ति कार्याणि माम् । परमहं विभ-
परिस्थितिविज्ञानमम तिस्रः श्रिकः । अहं पृष्ठे बहुप्रीतिर्यं व्यापाकृतुं” सञ्जः, कपनेतर-
स्वयमेव कर्तुं” सञ्जोमि । पातुष्व मम श्रियो लोककल्याणे कृताः । सांसारिकभोग-
विदम्य मरुतना कर्माणि कुर्वन्तीनां तासां कामिनीमुखमा भोगाः तर्पयाऽप्यगताः ।
प्रसादः सापनास्यकम्, न भोगभूमिः । त्वच्च प्रेतेक्यमुन्दरी कथमपि न तत्र मवोऽभि-
पिञ्जन् भोगवकास्यसर्पित्तेन विचर्यो विभः, अहं विचर्ये करविन्दमि ।

रमणी० । सत्यम्, विचार्य जलं पाययितुर्जलस्य दानेऽदाने वा मानस्य-
परं निगम्यप्रमग्नस्य जीवनमरुचयोः प्रजः । अथ च दोषा देव । भजनप्र-
बहुप्रीतिर्यं दोषोऽपि सद्ममनसात्ताद् गुणः । साधनाकृते बहवः श्रियाः मना-
दुरी युगपदेव साधनां कर्तुं” शक्याः । सम्पद्ये भोगभूमांश्च मरुति, न साधनाकृते ।

चन्द्र० । अनुगणामिकाविकी विरक्षेन सहचर्यो ह्यो न मुवाचरः । मे-
निरपिचः सहचर्यो भोजिन एव युजः ।

रमणी० । मैकम्, श्रियो हि श्रवणमुदमः, परिश्रवणमुदमं भविषुं” शक्याः ।
श्रिवन्मेव भविष्योती दण्डवाचर्यो धीमन्तुमदपविन्दन्, मो धेरेतेमार्थं नि-
विन्दन्

“विचर्ये, कथा कथं प्रदीप्ये” देव ।।

चन्द्रशया रघुनेतुस्य साहसं धीन्दस्य शक्तिम् मानसार्थवारीसंश्रुतिश्च विधाने
नृपस्योत्तमैव यानकालकोऽसुखस्य दमननगरस्य समीपे सेतुमग्राद् बाण्यराष्ट्री
दुर्गस्थितेति विचारस्तोदोषेषास्तुति—इति ।

“इत्थं । दौर्भाग्यं शत्रुस्य, मरु, यानं लभ्यते । (अग्निरमयि) मरु, यानं लभ्यते ।
आग्नेयनेत्रं प्रेषणीतां दुःखम् । पुष्टिर्न न मुखावहम् । मरुती प्रणारे विधम्यन्,
मरुतरनु मरुतरान् दुर्गमगान्मुम् । आरोह मरुम्, मरुतेति चेत् । (किं मरु ईयते ?)
“इत्था नाम सुदप्रसा” ।

चन्द्रो विचारस्तोदोषकेण सैनिकभीरुपरिचयुषः चन्द्रनरपदं मनुमदित्य सप्तमस्य
सुप्रमत्ता एव मरुम् । सेतुमेवीन आसीत्, यत्तं च मरु इत्येष तस्य विषय आसीत् ।

राजपराध्या प्रतिहोर् वाचार्थिककोसावेनेक धनददां सेतुमेवैवराभी” अद्यम्
मिहा । वाचार्थिकपदं” एव मरुभिः” वाचार्थिकपदं” अद्यम् । अद्यम् । अद्यम् । अद्यम् ।
मिहा । एव विपुलेन धनेन मरुतां निवासः देशं विहरेष वाचलोकायै स्म । देशं दत्तावता
मरुता” अन्योऽन्यं प्रविष्टाः । मरुताः विचित्राः अद्यं मरुताः, दुर्गमगान् । अद्यम्
मरुताः साधारणमाहताः । मरुताः विचित्राः इत्येव वाचार्थः” मिहताः, धनमन्त्राहताः
मरु प्रविष्टमनुवरं इत्या अमरुतराहनेन आरोहताहताः मरुताः मिहताः ।
मरुताः विचित्राः मरुताः प्रविष्टाः । चन्द्रनरपदे सैनिक आद्योऽद्यः । मरुताः विचित्राः
दुर्गमगान् इत्येव वाचार्थः ।

“मरुताः, मरु प्रविष्टेषु मरुताः प्रतिहोर्वाचार्थः मरुताः” इति चोप चन्द्रो मरुताः ।
मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः
मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः

मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः
१ मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः
मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः
मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः मरुताः

विकर्षिणी नीरवता प्रमृताऽऽसीत्, यस्यां तन्वीरषरणका उत्प्लसं स्फूर्तिं चेतनां वनन
 आसन् । क्वचन क्वचन ब्राह्मे मुहूर्ते विदुषां विस्मया बाधो मग्नवद्भजनं सारत्वेन वर्ण्यन्
 धूयन्ते स्म । अकस्माद् वितारवृत्तमधोभयद् यद् राजनगरस्य पश्चिमोत्तरार्धां सि-
 गव्यूतिदशकान्तराले वातहंसः^१ सतिप्रसन्नः । चन्द्र उत्थितमात्र एवैतच्छ्रुत्वा
 प्रबलोऽमुना वायुयानेन आकाशप्लुतं क्षेत्रं प्रेक्षितुं प्रेषित आसीत् । चन्द्रश्चिन्तयावत्
 कथमहं कुमुदिन्या अधो स्थास्यामि । इन्तः । इता कुमुदिनी ! दुर्भिक्षप्रस्ते प्रदेशे
 सौत्साहं जनान् सेवमाना सा यदेहं शोष्यति - इन्तः । घातः । किं विकर्षिणि !
 प्रबल ! सत्यं सफलं ते जीवनम् ।

घटनास्थलं प्रेक्षितुकामो भक्षारेण सत्वरं गतवान् सः । औपचारिका आसन्ने ।
 योजनविद्याले क्षेत्रे वायुयानस्य सतिमन् स्थितानाञ्च अवयवा अपरिचीयमानाः प्रक्षिप्ता
 आसन् । एकतश्च शिष्टितं पञ्चालाभजितं वायुयानम् । अप्रिमभागो वायुयाने बाधो ।

अप्राप्तसन्तोषो वायुयानावतरणभूमिं^२ गतोऽजिज्ञासुः सतिप्रसन्नः “वातहंसे आकाश-
 द्रवम्, द्वौ च सैनिकवाहकम्, प्रबलो व्यवस्थाये सत्र स्थितः” ।

सन्तोषस्य निन्दासो निरागत् । मनुष्याः प्रकृतिं जेतुं कृतप्रयत्नाः । जले स्थले
 ममसि निर्बाधगमनः स कृतकृत्यमारमानं मनुते । परं प्रकृतिस्तस्याल्पज्ञतां विचिन्त्य-
 हासं कुरुते । किमेव एव प्रकृतिजयः ? मानवः कथं भ्रान्तः ! अल्पेऽपि इवे
 कीदृशी तस्य मशगधता ? इति स विचारयामास ।

*

*

*

मालनीया महाराज्ञी सरोजिनी पत्रं लिखितुमादिशति

—कुमुदिनी

विजयतां भारतीया संस्कृतिः ।

अहं ज्विना^३ धीपेन व्यवस्थां सम्पादयन्तो प्रान्तममुं पर्यटामि । प्रान्ते प्रतिष्ठं
 नवनवतिप्रमाः । सर्वत्र दुर्भिक्षम् । ग्रामेषु बहवो मृताः, केचन शमीपत्राणि शमीत्ववच
 पश्या जीवनं प्राप्स्यन्ति । अक्षरहिता अपि नान्नं याचितुं पारयन्ति मनस्विनो ग्राम्याः ।

१ वायुयान का नावः । २ एरोडम् । ३ जीवयति=मुदादिषु शीघ्रं मुदं प्रारब्धेन

४ स स धीपः “श्रीदीपरास्त्रात्प्रायः” (धीप गाडी) ।

इन्द्रदीप्तोतोभिरहितेऽस्मिन् प्रदेशे कृषेण बलमेव नास्ति । द्वित्रयोऽनतो बलमानीय
मिन्दुमात्रया पीयते । मामान्तेषु पशूनां कटुताः प्रयुताः । सर्वतः सिक्तार्पणेषु
इतिरत्रस्य दर्शनमेव नास्ति । कटुलच्छेवराः श्यामाः, वमाः, नराः, परेता इव परितः
प्रेक्ष्यन्ते । सर्वत्र दीर्घाकामा साक्षरेव दीनता हरिता शुभुश रिषोदश दन्तानिष्कादय
निक्षतनेप्राभ्यामभूणि सास्यन्ती मानवोचितं सम्मानं सम्मानं इत्तं प्रसारयन्ती इह इहमह-
महम्, नगरं नगरम्, ग्रामं ग्रामम्, ग्रहं ग्रहम्, कुटी कुटी अमन्ती अमनोदरा मानवमाता-
मोक्षमा ममेव मृत्युदूती सतोपं धोपं तालं रचयन्तीवासंस्पृश्यान्वतारान् दृष्टीषेव धमति ।

अवहाया निहाया हर्षैः साक्षं सतोपं सधर्मं पोषिताः कमलकोमलाः मृत्योर्मुक्षे
मघोभूता ईष्टपातमिबान्तिमं धर्षं प्रतीधमाणाः शुचया शुष्यमाणा माणवका दुःखं
छोदुमपायन्ताः कृष्णोभूय पीतीभूय पादपात् पत्राणीव निपतन्ति गतजीवनाः । विध्वस्याति-
मोदनी अथ शुश्रूस्तानां विपद्मस्तानामस्तवतानां कटुलैः पूर्णाः ।

इभिरुशतानां शुभुशितानां मानवानां समूहो भाजनानि वासांसि आभूषणानि भूमि
बालान् युवतीष्व विक्रीय पैतामहं ग्रहं परिव्रज्य, प्रवर्षणासां हिमात्म्यच्छन्दसां शाययित्वा
शुभिश्विष्टास्य महासागरस्वामाये सते निमज्ज्य कृष्येषु वस्तुवातमायोज्य व्रमन्ति ।
एवमपनद्यायाधु चक्रसतां विधूयमानानां क्षेत्राणां नवबन्धनप्रसादो विभूतिरयं ह्यहा ।
वसपद्यासु वनेषु प्रान्तरेषु विविचदुमैः सज्जिता पुण्यकल्प्यजैस्तद्वरैः समृद्धाः सर्वतः
सोवसो निर्भरस्य च पादौ मित्रामुर्वरा मुहासिनी जगद्वन्द्यवैभवा ! विध्वमणो धरणी
व्यस ! इन्त ! सेयम्, कण्डदण्डदुमा शस्त्रहीना दीना मखिना क्षीबा अनन्तं जगरदपरिच
ह्वा जगद् प्रसिद्धं सज्जा । प्रता भगिनीम्, माता सानन्पवन, वृद्धो युवज
वायुनिव सज्जः ।

एव पत्रो योवनं सौन्दर्यं विक्रयं इहान् भावान् प्रेय च विस्तृत्य पशुः, शिख
स्तुर्गणितान् शुभ्रसज्जुचितचर्मावरोधेन वा स्तनान् निनीज्य अर्द्धचतुर्पदोद्यान् छोप्ति-
शतान् निरीय मानुः, हिमदेशाः कटुलच्छेवराः मन्त्रवक् श्रवन्तो वृद्धाः पुद्गेभ्योऽन्न-
कान् वस्नेहं उच्यतवमभिदधन्ति, तदैव सस्य सान्पटमतेमेव देवस्य सम्राजस्य
रविमवान्तो विदेशेषु विरोधिषु अन्नेप्रेक्षन्तोऽधिकृत्यमलोमेन निरूपयन्तो वा अन्तरितो-
ऽन्तिमज्जं सभातान् विपद्यामान् दृष्ट्वा ददमवदवदन्तो रजसा इव सस्य मनसो

रक्षणाय हारयन्निर्मरैः सुराचारैर्गुह्यतलेभ्यः प्रीत्यरक्षन्तुं पुराणि श्रुतिः स इति
प्रतानां पार्श्वस्थं कुमारीयां बीमरं निर्दयं निर्गुणं निर्लेख्यं दण्डतन्त्राद्युत्तमैः सादृश्यं
सृष्टन्तो विदमन्ति । येषां विशालादृष्टिद्वयं भोगा विलसन्ति स इति रत्नप्रदितस्त्रयचक्रैः
सुरा निरोधं गृह्यन्ति । यत्र कुलप्रनतां फलं बोध्यं यत्किमुत्पद्यति हरिर्निजैर्जने
विमोदिनगपनाः सुलोचना मन्देदयो वसवश्चः स्वयमाणा मोदनमा नमा इत्यन्त्येभ्यः
विधरागैरम्बरैर्भूषिताः पराक्रिया इव मनो रत्नयन्ति । यत्र मृत्याः क्षान्द्याप्यभोगप्रत्या
वस्यति सारान् भवन्त्यधिकित्वाद्येव प्रसम्भां पशुंति 'विरचयन्ति ।

प्रजाः स्वभावं धिदुर्वृत्यः स्वाधिचारं स्वभावं स्वावितं इत्थं परैरनुत्पन्नं विदमन्-
मानसं बोधयति न किमपि कुर्वन्त्यो वराजयोऽङ्गभ्याः कायराः कथानि बोधं सृहन्ते ।

धनिनो मृत्यानुदिसन्ति—मगवता पत्रघ्रावजारेण कुण्ठोदयोपि यद्
'कर्तुं कर्मण्येवाधिकारो न फले' अतोऽहर्निशं धाम्यद्भिः फलभूतस्य घटनस्याकाङ्क्षैव
महत् पातघ्नम् । अस्माभिरास्ति चेन्नैवंविधं किमपि कर्तव्यं येन मगवद्भिर्यैव विरोधः
समापतेद् इति । इन्तः ? कीदृशः स्वार्थान्धः संसारः ?

शासनेन 'आशानस्य प्रवन्धो विहितः । अशरोऽस्य सामराधो घोषितः । कोऽपि
पशुपवहायादिधिग्मघं शृहे विषण्णो वा रक्षितुं नाधिकृतः । जनद्वेपिगो व्यापारिचोऽपर-
मघं निदग्धानाः सन्ति व्यसन्नोपमोविनः कव्यादाः । ये परिवारसदृशः सर्वेषां सदस्यानां
नाम्ना पार्यन्त्येन परिवारान् प्रकल्प्यान् न्यरुक्न् कूटनिपुणाः । 'पुष्टविपणिः सर्वविधानेन
परिपूर्णाऽस्ति, अग्रविषण्णो चोद्गतात्लासनः' मक्षिका मारदन्नेच्छः पणो । घाइकान् स
कषयति, "भवतां दुःखं पश्यन्नहं नितरां दुःखो, परं विवशोऽस्मि, विव्रेतु' मनं समीपे
किमपि नास्ति, शिशुभ्यो हिमणमितमन्नं मुदाशतेनानीतवानस्मि तदर्द्धमगृहीतलाभो
वातुं शक्नोमि ।"

आचारे व्यवहारे च सर्वत्र निषेधतो नगरेषु चञ्चलं दोषः समीक्ष्यते । पीडितमानवानां
कृते पौरैः समितयो योजिताः । शतशो युवान् आर्त्तत्राणाय सज्जा अभूवन् । ते रथ्यसु
दुभिः पीडितानां सेवायै रक्षायै अन्नं वासादि धनघायाचन् । जनता मुखहस्तेन ददौ ।

१ ययू । २ काये रमन्ते ते, औष्णादिको दः । ३ आ—इषद् अशनम्—आशनम् ।
स्वल्पं परिमितआशनम्—राशन । ४ चोरवाजरा । ५ गद्दी उल्टाकर ।

एवाहिभिर्मदतरः संप्रहः कार्यालये प्रेषयितुमारब्धः । शरीरान्तं एषिमेकमिदं हृष्टं
 दुर्गतां जिह्वा चोत्तिनुमारब्धः । तैः सर्वं घनमपिहीर्षुभिर्विपुलं यत् दानपत्रे लिखितं
 अष्टकं चतुरं भागिनेयमस्मै कार्याय योष्यतम विचार्य परामृष्टं यदस्माकं विश्वस्तो
 तः कार्यमदः प्रेषिष्यते । कण्ठावुल्लिखितो विचरिष्वविश्वतो दग्धरिदितो मसुर्कादिषो
 ज्ञानमदितो मराकाशितो विममलज्जरपोलितः कृष्णकलेवरोऽपरोऽलब्धमूर्तिमिव
 ज्ञानाणोऽप्रायः काणो विश्वस्तो मामवो मुद्राणां पञ्चमती मासिकं वेतनं यातायशम्ययं
 नव्यवस्थायां प्रकल्प्य पीठितमानवतां सेवार्थं नियुक्तः । विश्वस्तमानवाङ्मया
 नान्युत्तमानि बासांति पुरातनेभ्यो शौर्णभ्यः पृथक्कृत्वा “क उपदेय एतेषां वराहेषु”
 कृत्वा विक्रीतानि, तेषां वितरणाय प्राप्तमनान्युल्लिख्य प्रसारितम् । अष्टविंश-
 त्पञ्चशो भ्ययः पुस्तकेष्वङ्कितः । एवं संशुद्धोत्पन्नान्तर्गतं परिचितपुस्तकान्धव-
 भ्यो वित्तीयं तेभ्यो पृष्टानि स्वयं यज्ञो यन्त्र निर्माय निर्मायो विश्वस्तो मानवः ।
 प्राणपरिपदो विचार्य प्रकाश्य अभिनन्दनपत्राणां प्रकाशयन्नुभवति । अधुना स नगराद्
 पालटे सामन्तोपवनं ग्रीत्वा बुभिक्षपीठितामां साहस्यमायुः विशालं भवनं कारयति ।
 ॥ बानीते किमर्थमेवां पापात्मनां छद्भिर्भूतानुमोदिता वा समयेन । परं माधुनैवा-
 पन्तां प्रेक्षे । यां नीतिं प्रणालीं वाऽऽधित्यैय कलङ्कः शिरोऽस्तिस्मृपदयति स त्वमनेय
 एषा विपमता पुस्तकप्रापः । भवत्यमेवापनेदा । एष कलङ्को भारतस्य प्रसारतो-
 काटादपहर्ष्य एव । प्रकाया अदृशोऽर्थविभीषिषायां तिरोहितः । अम्यवोधि-
 तलमेवोच्यते । रूप्यकं मूल्यं कथयित्वा चतुराणक्या विक्रीयत्प्रापयिष्यः । सरता
 म्बन्धते । सदाचारो हस्तलम्बिषेपगतः प्रतीयते । अन्धमनप्रवराष्टमा अरि-
 राः । संन्यादिनोऽपि संप्रदिष्टः । कार्यं सर्वतितारादी । लोको विविपम्याजेन
 छद्मपट्टिमुपयुक्तः । न्यायो मुद्राभिविकीयते । उत्कोची अष्टचारो सौम्यवास्तां गतः
 ॥ देवमन्दिनाणि लोकादिताय निमित्तः संस्थाप्य भूतवैद्या अन्तराभूमयः ।
 ॥ पत्रादीदेव* स्त्रीश, वीर्यं धौत्यं वचनय कला । —सरोजिनो ।

गुणधनगडलं विरोद्धैर्द्वारेषु सन्त्यं सम्बन्धितस्यमेव गत्वा सन्ते स्थिति
 २४ । २ नीडती । ३ तस्य कायेत ।

व्यवारीत्—राज्यस्य दशकोटिमुद्राणां वर्षचतुष्टयस्य च व्ययेन निर्मित 'आनन्द-
भग्नः। तद्वन्धविघातेनैव सर्वो जनपदो जलप्लावे निमग्नः। बन्धनिमणि नि-
'मृत्तनास्थाने सिद्धतामुपयोज्य मृत्तनाय विक्रीय पुत्राय 'पत्रनिर्माणशालां दश
'वधनिर्माणशालां यच्छस्यत्। स एव जनपदस्य योगक्षेमाय रचित आनन्द-
जलबलेन भग्नो जनपदं जलेनाप्लावयत्। वाप्यशक्यः सेतौ च राज्यतो दत्त
लोहवलयभीनां स्थाने जीर्णां लोहवलयभ्यो रागेण रक्षाः प्रयुक्ताः नवीनाश्चान्यत्र विक्रीताः
जीर्णाश्च निरन्तरप्रवर्पणेनः काटवुञ्जो भग्नाः, इति।

“आश्चर्यम् ॥” चन्द्रश्चिन्तयामास “जनः स्वस्य लाभलोभेन विश्वं विहन्तुमुद्युक्त
लोहवलयभीविक्रयेण सहस्रं द्विसहस्रं तस्य लाभो भूतो भवेत्, विनाशाय कोटिमुद्रा-
सहस्राणां मानवानाम्। अयमर्पविकारः, संप्रहविकारः, स्वार्पविकारो जीर्णां लोहवलय-
मुपयुनक्ति मृत्तनास्थाने सिद्धतायः। हन्त ॥ विलक्षणोऽयं विकारः। विलक्षणैव वा-
चिक्रित्तया भवितव्यम्।” चन्द्रोऽपि कोपमाप्तापयामास यद्गूरा धनमगुप्तभातम्
अनुसन्धानं यावत् बन्धसेतुनियुक्ताः सप्तम्बन्धिनो ‘राज्याभिरक्षायां रुहीताः सुः’ इति।

*

*

*

आग्नेयद्विरेणैव तापितनिरपराधसंसारं परितप्तपत्नेनेव पाथोभी पतितं दिनद्युम-
नीत्य नैसो एमणिः समस्तदिनायुल्लयाणिनः सान्त्वयन्निव, मधप्रमुक्तानां विचारविम-
विद्यालमुग्गवर्ल हारं परिषाय कुमुदव्याजेन विहसन् चरितताम्पूलमिवात्तामं गन्धनेव
रश्मिजालेन विरोष्य गुण प्रकटितोऽग्न्यलदन्तपञ्चिर्गमनाश्रने शाह्नो धावति।

उन्मुक्तवृत्ता निरक्षता तरोषवत्ता मुक्ता तपस्विनीवोदेत् कस्ययाऽलक्ष्ययेव
निशान्दरीवत्तटा प्रगाढां शान्तिं दधाना प्रवहणस्य प्रशान्तमादृच्छलकलेन बाधन्ति-
मनुमत्तमोदिमशुद्धरेणेव मन्दं विनादिता नदी मन्दं मन्दं प्रवहति।

अद्यान्तनपि प्रयत्नं समयन् शान्तं वातावरणम्, शुभमवस्थितः सौरमण्ड, उदेर-
भीतनां समुद्रतलां द्वयदलमुमनवां गौरमण्ड, मधुमरीचिमात्रिधन्त्रमणो जगद्वि-
चन्द्रः, तारकाणां शान्दनदृश्यम्, ग्रहति सौन्दर्यान्न्दरशीं निर्मग्नं उपजा भगवत्।

१ चन्द्र D. २ सौमन्ट। ३ पेरार्थिज। ४ जोष मिल। ५ जग शरीं।

६ चन्द्रमण्डोः। ७ बेंड। ८ काटरी Custody By Government.

क्षीपाण्यधान्यविशुचीय भवन्त्यज्ञानि

हानिर्यलस्य शरदोष नदीजलस्य ।

दुःखान्यसत्परिमया इय दुःसहानि

हा ! निःसहोऽस्मि कुरु निररारणेऽनुकम्पाम् ॥ (अगस्तरमट्टस्य)

तं विरतवाच क्षनेह्यमुद्यानन्य दुषोवे—

अर्थवादस्य दुर्दम्भविज्ञाचेन कारावासं वक्षितुं बाधितां दुराचारकर्मशलौहपुच्छं निषङ्गां भारतीयां भुषे प्रब्राम्य प्राचीनार्यभारतीयसंस्कृत्या भूषयितुमुन्मुक्तवातावरणे निःशक्तिं नरेन्द्रमण्डलं समाह्वयति युवराजचन्द्रः । तस्मिन्नरसरे ततस्य वाममागौरव्यां स्वयं सरोः परमोत्सुकः । इति ।

“शब्दे ! विरायुषचन्द्रस्य साधनायां व्यवस्थायां मम महान् विश्वासः । मूकतावकलं राममनुलक्ष्मण ह्वासेषं निर्वहसि । मया बहव उत्सवा दृष्टा उपदिष्टाः कृताः सञ्चालिताः । अधुनाहमुपरतः कालात्ययितो न कापि जिगमिषामि गुरुणाऽऽज्ञतः । चन्द्रः प्रब्रामि सहयुयुभिर्नयै राजभिस्त्वया च परामृत्युयश्चिहीर्यति, तदेव वरम् । “गुणार्जोच्छ्रित-विह्वलबुद्धयः प्रकृत्यमिश्राणि सत्तामसाधवः” अतः सर्वैः परामर्शो वरीयान्, देवो रिक्तो युष्मभ्यं साफल्यम् । अथ च किमुत्सवैः ? अलं प्रजापनदुःखयोगेन । विश्ववामाज्यमि-प्सवः सहस्रशः सुन्दरीणां प्रियतमाः, लक्षशः कलावतां कोटिषाः कर्मकराणामाज्य-भगवदनुजन्मान् । मनुजन्मानो दुर्गान् प्रासादानारावान् निर्माप्य संसारसाधनास्मै-ऽदभ्यारम्भा रमणीयतमानुत्सवानकार्षुः, परं काय ते ? एषे भभावशेषा मूकभाक्कन्दक्यौ जगन्मानमहिर्निर्वारैरप्यारःस्पर्द्धितौन्दर्याभिः सुन्दरीभिरप्युपतिवरा अपि निर्वर-मुदूषोषयन्ति यद् वयमदयमदिता मदिता निष्ठुरनियत्याः क्रूरकरैः । विश्वलिन-स्त्रविचारान् स्वस्वचि प्रसारयितुं सयज्ञा हन्त । अथ कः ? तेषां नामकालानुसन्धनमपि पुरातत्त्वविभागरक्षायां क्षिरोऽतिरुद्धम् । एष वायुः, एषा भूमिः, एतदाकाशम्, एतदि-वनानि तान् सद्गुजिगमिषूँश्च निःशब्दं विद्वत्सन्तीव । वनवृक्षेषु निपतति सान्ध्यर्ष-लोके क्षणं विविधरागाणां प्रतीतिरिवास्मिन् संसारे सुखानां प्रतीतिः । प्रज्ञावतां प्रवृ-त्तदेव सुकर्म येनानाङ्गवरमप्रदर्शनं जगतो विराभो भगवतोऽफल्यभिलाषमर्चनं सवेदितम् ।

“तदेव देव । सर्वं कर्तुं कृतसङ्कल्पाः ।”

*

*

*

पौलोमोऽतिपत्तनोपवनपरिमलेनेव परिपूर्णस्य प्रासादस्य विबुधाबलितलपिते सारस्वत-
श्रोतोधरैः सुधोवरैरूदेशरत्नैराकुटे ख्यात इव प्रेक्षमाणे दिशाले हाते सुखमासीनानां
‘स’मयिकोमावश्यं ध्यातुं भूय विचाराय समवेतानां विभिन्नमण्डलनपाठानामेका विचार-
परिणामाश्च । सङ्गस्य पद्यानां विज्ञानं ज्ञानस्य प्रतिमितिनिधिस्ततः परिपक्वतिप-
मलक्षर । स्वस्तिवाचनान्तरं अनुसुद्धेषु सुखीभूय प्रतीक्षमानेषु सर्वेषु चन्द्र
भगवत्पदस्य प्रयोजनं विशदयन्नुदतिष्ठत् । चन्द्रस्य विद्यालं चालोत्तमं सुषटितं विमलं
रघुः परिणतप्राज्ञेभ्यश्चलपरयामातः विनम्योत्सवता आकृतं रम्यां काम्यां कामां
कृतं रङ्गविशेषिणः प्रतन्वितः कृष्णः केशाः शालस्य मयादेव तपस्विनः
साधनेव मांसलोन्नाता प्रत्यक्षा प्रीतिः, निमेषनीलाम्बरे सहस्रोदितस्य सूर्यस्य मण्डलमिव
तेजसि मोहकमाकर्षकमिन्द्रिराजन्दिनं मुक्तमञ्जलं सर्वेषु सम्पन्नं सकारयामास ।
रमयमानः स प्राबोचत्—

शितज्योत्स्नमृणालकमनोयक्षीतयो दुर्दिभाम्यरैभवा भवभूतयो विद्यामिदमगुणगण-
शुभिता भूयस्त्वमज्जनैकतिलका मान्याः । अत्र त्वयैतिहासिकेऽभिषेकाने वैद्यजनैककर्मणे
वरिष्ठया समवेताः सम इति महत् आनन्दस्य विषयः । विरचितः परमिदा भवन्तो ज्ञाननि-
रु सौदारमकले नात्मा एकस्वरमतः अतः स विरचया बहुकरी ध्यायन्त । एतद्
मन्त्रपञ्चीकम्, सर्वस्यभेदमावोद्भूततम्, परमं सारविद्याचक्रम् । मानवस्यैव
अथो मय आदिहालादुपाधि ब्रह्मरूपेण विद्यते, तद्भावेनैव मानवे कामविद्यता ।
अत्र ॥ महर्षयो जीवनमिरं “ईशावास्यम्” ईश्वरमवैश्वतमः । अत्र एव जीवने
वैश्वर्यमवस्थितिः । एतामेव मानवां सर्वदेवे सर्वचोष्टे च । ‘सौन्दर्य’,
‘तामस’ इत्यदिमहाकाव्यैः सोऽभेदमावोद्भूतभावचोद्दिष्टः । परमपुत्रा प्रन्ता विरु-
तमयोऽप्रमभिः प्रकृतवस्थायां समाहृतः । “स काटेनेह महता योगो यतः पाततः ।”

पुरेण सर्वभूमिपती, न केवलं धनेन वैश्वर्येणैव । अत्यन्तं विदितं

१ इत्येते — विदित्येते — विद्यते च वस्तुतस्तु पुनस्तु स हतः — विद्यालं ध्यायन्त-
रन्तः । इति विदित्येते च । २ सनदत्तस्य प्रथम् ५१११०४ इति हन् ।

आर्यता व्याप्तिरासीत् । अस्माकं वचस्ताम्रवत्रलेखायते स्म, पगध सूर्योदयवस्यति
 आसीत् । राष्ट्रान्तराणि यदा तमसावृतान्यनाहतानि बिन्देय क्षयानानि चासन्, अस्म
 राष्ट्रं जगद्गुरुचैनवलकलाविवेकविज्ञानेष्वपास्तुलमासीत् । अत्रैव विश्वस्य प्राचीन
 ग्रन्थ ऋग्वेदः, अस्मादेव विश्वसिन् शान्तिस्तुप्रसन्नकं दर्शनरत्नकं ज्ञानज्योतिरदृश
 अस्मादेव आग्नेयपाशुस्तवावृणवायव्यवज्रास्त्रप्रसृतोर्ना विश्वमयद्वाराणामन्नायतु
 प्रथमथ । ज्ञानज्योतिरीप्सया लोकान्तरीया अत्रैवाग्निमिश्रन्ति एव । अत्रैव को
 कड्याणैकमनसो मनस्विनस्तारसिनो विविधा रीतिनीतोः प्रसारयामासुः । सर्वत्र प्रे
 वारण्यम्, छौहार्दम्, सहयोगिता, अभेदभावः, सहभावः, सद्भावध्यायोत् । परमप
 भूमिः सूर्यवज्रो वायुराद्यस्तं तु त एव सन्ति परं मानवभावनाः परिवर्तिताः । अत एव
 परित्री च्छस्तेषु दृश्यते । हा ! वित्तश्रमो देवतुविपादः । केन भावेनारमाकं पूर्वा न्यस्य
 वदथ केन निवृत्तमयः ।

पुरा सरसि मानसे विषयसारसालिस्तलन्-

परागसुरमीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।

स पल्वलजलेऽधुना मितद्वनेकभेकाकुले

मरालकृटनायकः कथय रे ! कथं वर्तताम् ॥ पण्डितराज ।

प्रतिवेशिनि कुमुदिते रीते दग्धे च भीजनं गदितमगोत् । करिर्मविजरीने मानमन्ते
 एवं ग्रामीकात्तमै सादृश्य प्रहाव स्रुप्यमकुर्वन् । तस्मिन् दुर्दग्धेऽप्रधन्ने म्लोभो
 ग्रामीकानामवरात्वं प्रतिष्ठिमधीत् । कामार्थं तमदो हेप आसीत् ।

यदधोऽपःक्षितौ यितं निषस्थान मितम्यथः ।

तदधो निष्ठयं गन्तुं चक्रे पन्थानमधनः ॥

कथं तस्मिन् विवर्तिषु यववद्वर्धे वन्धुप्रयोगस्य विधीयते स्म । देवाज्जात केदमर्च्य
 विप्रतो चवन्धवशकत्प्रायश्चित्त व्यापारविचः कर्तव्यम्, तदेव कामो गन्तव्यं स्म । सर्वं
 वापरेर्दं वर्तन् । सर्वे कथयतामने वाग्वर्धे यवोर्विनेव यद्वेगेन सौदरेर्द्विती
 रध्वव्यता निषजन्ति स्म । विद्वन्धवमर्चिर्वर्धे मृदमाज्जमीधरमावेकमवदत्त दृष्टी । ईने
 वाग्वर्धने च स्ववयस्युक्तः प्रदिशेर्दं प्रदिशेर्दं स्ववित्तवर्धे स्वव्ययमाज्जम्य भोजनप्रार्थ

प्रकाशात्तानाथ । परमस्य सा म्यवस्था स्वगुणैर्युष्येन हीनतां गतेवाभाति ।
तद्व्यतिरेकस्यैव भावोऽस्माभिरभावतां नीतः । सख्यम्,

प्रचलतमसामेवंप्रायाः क्षुभेषु हि वृत्तयः

सज्जमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया । कालिदासः ।

परमप्राप्त्यनिश्चितेभ्यः शिक्षास्त्रयाः, अन्वयधारेभ्यः स्त्रीभ्यश्च पृथक् शिक्षाप्रबन्धः,
गिभ्यः पशुभ्य उन्मत्तेभ्यधिक्रिस्तालम्याश्च—स्वस्वसङ्ख्यायामेव स्युः—क्रियन्ते । विनैव
एषं दुःखमपनेतुम्, रोदनकारणं ज्ञातुं नरः सज्जते, वैद्व्यमनुभवन्तं ध्यानम्, अतिभार-
द्विषं स्वामिना ताड्यमानं बलीवर्षं महिषं वा शीघ्राभ्युद्गमः । गौः श्वा च स्वामिन-
ताम्बमार्गं दृष्ट्वा सङ्घर्षाय सज्जते दुःखायते च । एषा अमेदस्य—अद्वैतस्याद्या-
तावता, सन्निहितस्य दुःखतानवलोकेनेच्छा च । सर्वे सर्वं शिक्षितुं स्वस्वमनुःखमसमर्थं
निर्पेयितुषाभिलषति यद्यक्षीणमानवस्वभावः । एष परस्परोदयस्य पर्यायतः सर्वाभ्युदयरय-
त्रोहित आद्यो ह्यर्हो भावः, स एवास्माभिः प्रकाशो मन्त्रापनयनादादर्श इव ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ । वस्तुतोऽहिंसा प्रेम च मानवस्वभावः ।

हिंसा—स्वेतरस्य दुःखापादनं द्रोहश्च द्वैते भवति, यत्राभेदोऽद्वैतभावस्तत्र न
चेतराभावात् । हन्तैर्जिह्वायास्तुषहतायां न कश्चन कुप्यति कपोलमाहते वा । अमेदस्या-
ग्भोऽज्ञभावे भवति पर्यवसानञ्च तावदग्नये ।

पादादामपगतार्था स्वभाव उपतिष्ठते, सङ्घजलस्याग्नेरवतार इव । वैहङ्गापादने
नेमित्तस्यावश्यकता न स्वहङ्गापादने । स्वस्थस्य रोगोत्पादने निमित्तं भवेन्न तु स्वस्थस्य
तत्स्थे । सा मर्धैवास्माभिर्निशस्य, तत्स्वान्नपगतयामेव प्राकृतावस्था ।

सर्वः प्रेम्णानन्दमनुभवति न द्वेषे, संवादे सुखमनुभवति न विषादे, मतेष्वप्ये-
षमनुभवति न वैमत्ये । जीवने जनः परैः सह योक्नुमभिलषति । स्वानन्दे परिक्रान्तेः
प्रमिष्य स्वानन्दमेषयति, दुःखस्य हतयति । युद्धम्, विनाशः, सङ्घर्षः, वैमनस्यं च न
मानवस्वभावः, अपि ॥ मानवविकारः । एतेषु भित्तिदायो मानवप्रतिकूलानां विनाशकानां
रुग्णानां प्रदर्शनं लोकोद्बोधनाय । मानव ईश्वरस्य प्रतिकृतिः प्रतिनिधिश्च षोडशपति,
अतः स्वभावतः सत्यप्रवृत्तः । दुष्प्रवृत्तिविकारः पुञ्चवादिदृष्टः ।

अगुणकणो गुणराशिर्द्वयमिह देवात् खलानने पतितम् ।

प्रसरति तैलमिवैकः सलिले घृतमिव जडत्वमेत्यन्यः ॥

अवधार्यताम्, अस्माकं विशाले वाष्मये क्पाटवरोधिका केवलं गृहसूत्रैर्वा
तालकम् । तालकमविश्वासनीयोः पुञ्जादपुत्रयोरपलम् । सकलसौख्यसाधनस्य
भावस्यादात्मता भूता, तस्य खसिहासने प्रतिष्ठापनमस्माकमुद्देशम् ।

समाजे सर्वे समाना आसन्नैर्यदृष्ट्या, परं केचन धूर्ताः स्वस्वपौषमाय स्वार्थसंरक्ष
शासकैरुदादिता आनन्दरूपमत्यमाभित्य प्रतियोगिताम्याग्रीं निर्माय स्वस्थितिं द्रष्टव्यता
मच्छन्तोऽनुगामिन आहन्तुमारेभिरे कृतघ्नाः ।

अज्ञातदेशकालाश्चपलमुखाः पङ्क्तवोऽपि सप्लुतयः ।

नवविहगा इव मुग्धा भक्ष्यन्ते धूर्तमाजारैः ॥ श्लोकेन्द्रः ।

अनुगामिनश्च सकृदाहताः पतिताः परिस्थितिपीडिता आनन्दोऽपि तेषां दाववीभूत
धौर्त्यं धाढ्यं च नोत्पातुमवशाः प्राभवन् ।

उपेक्षते यः खलमाक्षिपन्तं साधुर्मनोऽबुध्यत कारणं तत् ।

द्विजिह्वमेनं स यदेकजिह्वः प्रयुक्तिभिर्न क्रमते नियन्तुम् ॥ श्लोकेन्द्रः ।

अपि तु परिस्थितिपतितास्तानेवाप्रगामिनो धूर्तान् पौषयामासुः । एते मत्कुम्भा मश
यूका इव मानवरूपमाचूषयन्तः परजीविनो मानवशरीरं कुक्षयन्तोऽपि मानवशरीरे स्थिता

एते हि कालपुरुषाः पृथुदण्डनिपातहतलोकाः ।

गणनागणनपिशाचाश्चरन्ति भूर्जध्वजा लोके ॥

कस्तेषां विश्वासं यममहिषविपाणकोटिकुटिलानाम् ।

प्रजति, न यस्य विपक्षः कण्ठे पाशः कृतान्तस्तस्य ॥ श्लोकेन्द्रः ।

एतेषां शीर्षपातिनां प्रसङ्गापसारणं जीवनाय किं न परमावश्यकम् ? सहयोगो निम्नमन
समावस्य जीवनभूतौ, तावय इन्त । शूतौ । बलुतो धनं लोकस्य न्यस्तः ।
परम्परया परिस्थित्या वा प्राप्तं धनं लोकस्य न्यासः । यथावन्ममं शौचं यपारीति दत्त

प्रत्यावर्त्तनं प्रतिदानं न्यस्तपराय योम्यतायाः सूचकम् । अतोऽपि या सम्प्रति

स्यावाग्रमात्मिकाऽऽनुवंशिककर्मेषाधिकारेणार्जनेन वाधिगता, मावानामुद्गमनाधो-
पमनेन बोधेता सा समाजस्य, न्यासपरेण शीघ्रं प्रत्यर्पणीया । तां प्रत्यर्प्य ॥
शान्तिमनुभवैत् न्यासपरो न्यासं प्रत्यर्प्य यथा, न परितोषम् । अन्यथा स्तेन एव सः ।

मानवः किमर्थं सङ्गृह्णाति ? किं शतश्राटीको युगपच्छाटीनां शतं परिधत्ते ? शताग्रः
शतमहतरो वा किं युगपत् स्रवेधरोदति ? व्यञ्जनानां भोजयानाञ्च शते किं स
शतगुणमत्स्यति ? भक्षणानां सहस्रोऽपि स एकस्मिन्नेव स्वप्स्यति । परमं भ्रान्तो
भोता इवापाजम् ।

स्वर्गापधर्गायोद्गारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।

द्विणि कोऽनुपज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ भागवतम् १२।२३।२३

उत्पादः सर्वेषु भयमविश्वासोत्पादयति, निम्नैव मानवगुणैस्त्यज्यते, मानवीय-
मूल्यानां स्थापनाय भयविचारणे कर्मणं राज्यम् । सम्पत्तेर्विभजनम्, अपरिग्रहस्यास्वा-
परं प्रेम विहातलोत्पादयति, “सकलगुणसीमा वितरणम् ।” अस्माकं व्रतमासीत्,
शान्तस्तसमाहर, सहस्रहस्तसङ्किर । अथर्ववेद ३।२४।५ । परं विभजनेऽनीदृ-
परिग्रही सत्ताशङ्की सर्वान्निर्पेनानक्षमान् मूर्खान् दुर्बलानेव बाण्यति प्रशोणमगमद्भावी
मन्दमण्यस्तस्करधन्नाभावमिव । एतादृशे भावे कथं सम्पन्वता ? यस्तुतो यो मनुष्ये
मनुष्यवद् व्यवहरति स एव मनुष्यः ।

दुरासदानरीनुमान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।

भोगान् भोगानिवाद्देवान्भ्यात्पापघ्न दुर्लभा^१ । भारविः ।

केन कथयन्ति यद् धनिनां धनविभाजने भीषवित्यस्येपाक्रमे च दृष्टिर्भा-
कोऽधिकारः ? सत्यम्, दृष्टिर्भा सम्पदद्वारे धनिनां कोऽधिकारः ? सम्पद एताः कस्य ?
इत्येव विचारो विषयः । व्यक्तौ धनार्जनामित्याय उद्यतेः स्थानि तत्त्वमस्तीति
सत्यम्, परमिदमपि सत्यं यदाधुनिकवर्जनेच्छा इतरनिर्धनयितुमेका योऽना विद्यते ।
धनी यावत्सङ्घर्षं दृष्टिन् कर्तुं समर्थस्तावत्प्रमाणं सफलः ।

१ विश्वासजन्मनो धृतेः-सन्तोषस्योमानरीन् भोगान्-धननि, आदेयन् भोगान्-
पमानोऽप्यास्यापन्न दुर्लभा, अपि तु नितरां सुलभा ।

खलश्च खद्गश्च नहि स्वभावं जहाति कोशार्पणलालितोऽपि ।

यम्यातिमात्रं मलिनात्मकस्य परं द्विधा कुर्वत एव रागः ॥ सेनेयः ।

अस्यामेक एव सर्वग्राही बुभूत्वत्तापिरिव, परस्परं घनमराजिहीर्षत च । अस्याम-
वस्थायानाशङ्कापूर्णे वातावरणे क्व आनन्दः ? क्व सुखम् ? मन्यतां भवान् मूल्यमभिलषति,
तस्मै किमपि भोजनवस्त्रादिकं प्रदाय तस्य धमेण स्वकार्यं चिकीर्षति, तदाऽवश्यमेव
भवत्प्रतिवेशिना निर्धनेन भवितव्यम् । भवदैर्घ्यं भवतः प्रतिवेशिनो दाक्षिणेऽवलम्बितम् ।
परम्, राष्ट्रं कश्चन भोजनवस्त्रादेरिच्छको न भवेत्, सर्वेषां जीवनव्यापारः एतेन
चलेत्तदा मूल्यप्राप्तिरशक्या । वस्त्रम्, पशुचारणम्, भोजनम्, जलानयनम्, लेखन-
व्यवहारादिकं तैर्नैव कार्यम् । राष्ट्रं तद् यदि सम्पन्नं भवेत्, सर्वेऽप्यावका-
शमभिलाषुक्ताश्च स्युस्तदा स्वर्णपतेः स्वर्गस्योपयोगिता पीतपाषाणखण्डतो
नाधिका । तेन सञ्चितमन्नवस्त्रादि घुणादिजर्जरितमेव भविष्यति, यतो न कदाचि-
त्काङ्क्षकः । स स्वयम् नाशम्, न वासांसि, न गृहाणि वा शतसहस्रगुणमुपयोक्तुमुपनोक्तुं
वा समर्थः । अतस्तत् सर्वं विनश्यति । बुध्यतां तस्य सङ्ग्रहस्य कोऽर्थः । स्वस्वा-
यानन्दायापि तेन धमिवत् कठिनं धर्मितव्यमेव । विशालं क्षेत्रं ॥ स्वयमेककी-
न वज्रं न लवितुम्, न चोपयोक्तुं समर्थः, न च विशालस्य हर्म्यस्य जीर्णोद्धारो उपलभ्ये
किमु वासेऽपि समर्थः । स जीर्णशीर्णानि गृहाणि स्वकीयानि कथयन्नेव ह्वेषति ।
भविष्यति चान्यगृहनिर्माणेऽनुत्सुकः । अतः स लपीयसि गृहे दधाने वा वसन् खड्ग-
कृतसर्वकार्यं एवातिसन्नुष्टो भविष्यति ।

धनार्जने चतुरो धनमर्जयेत्, परं तस्योपयोगः सार्वदेशिको भवेत् एव
वायुराकाशं जलं विश्वजनीयानीधप्रदत्तानि च तथैव धनम् । धनं लोकस्य
न्यासः । विचार्यताम्, यदि माता शक्तिशालिनी चतुरा च, तदा किं सा दुर्वर्तस्य
शिशोर्भोग्यं खादेत् ? यदि खादेत्तदा कस्तां मातरं कथयिष्यमीहेत । सर्वे तां हाकिनी
वदिष्यन्ति । परमत्र विज्ञः सर्वसाधनसम्पन्नः वितृस्थानीयो धनी इहम्,
मात्रावितरो, दारापत्यश्च विद्याव्यक्तानां पुत्रायमाणानां भृत्यानां भृत्यकृपोर्वाञ्छितसम्पत्तिं
निर्दयं सर्वस्वं हर्त्तुं सक्षमः ।

अमृतं किरति हिमांशुः विषमेव फणी समुद्गिरति ।

गुणमेव यत्किं साधुर्दोषमसाधुः प्रकाशयति ॥

विचार्यतां धीमतां सम्मतौ स कथं सम्बोध्यः ?

आधुनिकं ज्ञानं विज्ञानं केवलं परिप्रदिष्टां घनार्जनस्य साधनमात्रम्, परैरमाकर्षणे शोषणे सहायकम् । अत्र विज्ञानाविकृतानि यन्त्राणि मानवमूल्यहराणि । प्रतीयते पुञ्जादौऽत्र यन्त्राख्यो मानवजयी । यन्त्रं समाजेऽज्ञानां क्षत्तिवर्धनाय परिश्रमपरिहाराय सौख्येन समानवस्तुत्पादनाय अवकाशसंरक्षणाय च प्रतिष्ठितम् । अशुभोः क्षत्तिवर्धनायो-
पनेत्रं दूरवीक्षणं सूक्ष्मेक्षणम्, वाक् : सत्तमैः प्वनिविस्तारकम्, पादयोः क्षत्तिवर्धनाय द्विषकिष्ठा, मन्दस्तरम्, बाणयानम्, वायुयानम् । हस्तयोः क्षत्तिवर्धनाय सप्तकुण्डेयानि यन्त्राणि, त्रिपरिश्रमपरिहाराय मुद्रणश्रव्यः । श्रोत्रं मानवविकाशाय मानवज्ञानां शक्तिरूपं गुणोदयाय शोषयोगः सम्मतः । परं श्रोत्रविकाशः सर्वविषयशीलमुदयाय कत्रेण दत्तस्तरमिन्नेकाधिकारः पुञ्जादेन कृतः प्रतिद्विष्टतामुत्पाद्य । एवमस्या अस्वाभाविकोऽनर्थाभावविकाशयोक्तिः संवृत्ताः ।

सन्तापमोहकम्पान् सम्पादयितुं निहन्तुमपि जन्तून् ।

सखि ! दुर्जनस्य हि मतिः प्रसरति दूरं ज्वरस्येव ॥ शोवर्धनाचार्यः ।

भयतनं यन्त्रैस्तुल्यं मानवीयकलानां समाश्रितम्, प्रयुक्तमेकदा सुतमं सौख्येन शोत्पाद्य धनं केन्द्रितं करोति, कलमिश्रिद्धिं वापते, उत्पादने मानवस्पर्शं दण्डि च । मनुष्यस्य विकाशस्वरूपेण पुञ्जादौऽस्मिन्नेन पादयुत एव सम्पत्तिं तद् विकाशार्थं मनुष्यमेव विपश्यति । क्षिपत्वा निराश्रित्य तत्सोपयोगिता केवळमस्मभिर्धनस्य स्यात् ।

न परं पलति हि किञ्चिन् सल एवानर्यमावहति यावत् ।

मारयति सपदि विपतहराग्रयमाणं भमापनुदे ॥

दुःखोदयान् पूर्वमानाभिर्बहवः पयसः समाजे सम्नेत्रिता लप्सोगितां वीताम्, पानपुत्रा पतिवत्तरं गवाधमपि हृदति । अनुशुम्भमानस्य रसाऽऽत्मकऽऽवस्तेव । सर्वान्पुदये शोभनुरागः, पयस्यपुदयः=सर्वस्वरूपेऽस्मिन्नेन विन्दु द्वितीयेन । परं सर्वान्पुदयी-
विषयान्देवनेऽस्माकं विरतिविज्ञानां पतिज्ञानां पदार्थं संदेष्टुं नु निराश्रयस्तरम् ।

स्मर्यताम्, राष्ट्रे सर्वे समानाः शरीरेऽज्ञानीव । समये सप्ता पर्यवेष्टमानो लब्ध्वा
 कृषकः, सन्धियोगनिपुणो नौनिर्माता, कोटकारः कुम्भकारश्चर्मकारो व्यवस्थापक-
 धिक्छिन्नकोऽध्यापकः, गृहकारः, गृहकार्यदक्षा गृहिणी, स्वयम् संयोज्य गायन्ती गायिका,
 सैनिकः, शोधको देशस्य सम्पादका महत्कलत्तराश्च । नैते परमाच्चक्षुरि प्रजाव्यवस्थापकाद्
 राज्ञः, सदसद्विवेचयतो न्यायाधीशाद् वा न्यूनाः ।

मम सम्मतौ राज्ञां धनिनाम्नायं विकासक्रमः ।

पुनः प्राम्या प्राम्यं बलवन्तमूषुः—“ययं तव जीविकां साधयिष्यामस्त्वं प्राप्तं रक्ष” ।
 स स्त्रीकृत्य दण्डधरो नैपुण्येन प्राप्तं ररक्ष । तस्य कार्यप्रणालीप्रसङ्गाः पार्श्ववर्तिनोऽपि
 तं प्राम्यायां रक्षार्पमनोदयन् । स स्त्रीकृत्य स्वाप्तपुण्यनिपुण्य रक्षितुमारम्भे । एवं
 शनैश्शनैः, स बहुलां नगराणां रक्षको बभूव । “प्रजाहितप्रतिनो ययम्” इत्येव
 तस्यादर्श आसीत् । आमरक्षकाणामावासाय परेषां प्रहारीषां प्रजानां सुरक्षायै तेनाधुना
 विशालं दुर्गं निरमायि । व्यापातकानां कृते तेनायुधनिमित्तिरारब्धा । रक्षकाणां
 शिक्षणाय खपुत्राणामध्यापनाय च वनादाहूय विद्वांसो वियोजिताः ।

अध्यापयन्ति शास्त्राणि वृणीकुर्वन्ति पण्डितान् ।

यिस्मारयन्ति जातिं स्वीं वराटाः पञ्चपाः करे ॥

यातायातमुख्याय प्राम्यान्तरेषु लोकण्या निमिताः । बाह्वानि सञ्चरुहीतानि, अत्रितयनेन
 सेना च सञ्चरुहीता । अधुना सोऽधिगतबलः पटुर्जकताया दौर्बल्यमनुभवन् काचित् सप्त
 कृत्वा स्वैरं करं ग्रहीतुमारम्भवान् । रक्षकोऽपि सोऽधुना मध्यको भवितुमारम्भे । सेनाः च
 इतररक्षकाणां रक्षाव्यवस्थां विशृङ्खलामकल्याणोद्घोष्य इतरप्रदेशान् स्वायत्तीकुर्वन्
 प्रजाहितप्रतितां प्रासारयत् । ॥ एव सगुणधरो राजपदेन स्वीकृतः, सर्वेषु विशेषतो
 राजनात् । सम्भाव्यते स एवाधुनिहलशुद्धिर्वा पूर्वजः ।

लोकेन ॥ मौर्यात् सत्ता सत्ता प्राम्यालायिताव राज्ञोऽर्पिता । त्वमस्माकं कल्याण-
 माचर, यदि ययं नेष्टामस्तद्धि दण्डयस्मार्कं कल्याणमाचर, एराडनियन्त्रिता सत्ता
 तत्रोपाधिधरिणे प्रभक्तलाय प्रदत्ता । राज्ञः स्वयं साधारणो मानवः, न तस्मिन् रूपे
 वेदिता सत्ता शक्तिः, या सत्ता शक्तिर्वा सा प्रजानामेव । एवं स लोकस्य सत्तायां सत्ता

च सार्यसंक्षणाय लोकान् यथेच्छं दण्डयितुमारमत । प्रथमतो राजा निर्वाच्य भासीत् ,
यतो हि रक्षकस्य निर्वचनं रक्षणयोग्यतानुसारि । परं शनैश्शनैः सम्प्राप्तवाधनोऽनुरक्त-
विरधिविद्वज्जनः सोऽस्मत्पूर्वञ्चो राज्यं कुञ्जकमागतवकार । वस्तुतोऽस्य स्थितिर्दारि-
यालवो नाधिका । ब्राह्मणैः क्षत्रवन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः । भागवते ।

यथा चादिराजः पृथुः—

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।

रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता वृथक्^१ ॥ भागवते ५।२१।२२

राजां सुष्टिर्विपत्तिरिहाराय कृता ।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ मनुः ३।६

प्रभवतीति प्रभुः—प्रकृतसत्ता (सार्वभौमसत्ता) सम्पन्नाः प्रजाः । 'विप्रसम्भ्यो वृ-
त्तशायाम्' ३।२।१८०

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः । मनुः ७।१०२

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत् । गौतमस्मृतिः ११ ।

सर्वत्र शासनाभ्यास्यव्यवस्थायाः पार्यव्ययेऽप्येतदेव कारणम्, यच्छासनं द्वारपालादित्या-
धीनम्, न्यायश्च विद्वदधीनः । स्वकासाशब्दे वस्तुतो विषयविषयो विद्वत्सोऽप्यधुनाऽङ्ग-
हारकञ्च कुतौ गगनराशिसौधे च मोहिता दुःखाकरं वनवासमुत्सृज्य, अमात्यपुरोहितादि-
पदलोल्लासकस्याभिषेकनाटकं चकिरे अतुमुमुदिरे च कुलक्रमागतकर्मणि दास्यम्, कुत्रच
'भद्रानां लोकपालानां वपुर्धारयते वृषः' इति । सत्यम्,

अपथे पद्मर्षयन्ति हि ध्रुववन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।

यावत्तत्रायस्मृती (अ. १।२०५, १०) राज्ञां लक्षणं प्रत्यपादि—

महोत्साहः स्थूललक्ष्यः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।

विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः ॥

१ अहं पृथुः प्रजानां वृत्तिदः—वृत्ति इति राष्ट्रव्यवस्थास्मिन् सः यथाभूते राष्ट्रे
सद्वृत्तरो भविष्यं सचनुवन्ति । स्वेषु सेतुषु—मर्षादिषु स्थापिता दण्डधरो रक्षिता च
प्रजाभियोजितः ।

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानशुद्धोऽपरुपस्तथा ।

तस्य धर्मं च—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।

मुद्गत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ मनुः ७।१२

एवं धृत्तस्य नृपतेः शिलोऽर्धेनापि जीवतः ।

विस्तीर्यते यशो लोके तैलविन्दुरियाम्मसि ॥ मनुः ७।१३

परमघातमायु कति तथाभूतः सन्तीत्यात्मा निरीक्ष्यः ।

कुलानि जातोः श्रेणीश्च गणाज्ञानपदास्तथा ।

स्वधर्मचलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि ॥ महात्मनः १।३

शर्मदशनेदुःशीलतातद्व्यग्रन्नायु प्रजामु ज्ञानप्रमाराभावात्तद्वैवैव ता

भुवं शासयामासुः—

मयो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ मनुः ७।२२

दण्डः शान्तिं प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।

सर्माक्ष्य म धृतः मज्जयद् गथां रक्षयते प्रजाः ।

असमोक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ मनुः ७।१८-१९

इतिदिगुर्द्वैधैः कर्तव्यैः परिहर्तव्यैर्व्यवहारेण न सेवको भूय एव प्रतीयते,
मेवमनुमतिः । राजमेतानि व्यवहरेण तावथा परिहर्तव्यमनु—

दश काममनुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।

उदमनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेन् ॥ मनुः ७।४६

मृगयाश्रो दिवाम्बुजः परिवादः स्त्रियो मदः ।

सीयंविद्धं वृषाष्टया च कामत्रो दगच्छो गवः ॥ ७।४६

परुन्वं सःहर्मं द्रोहं ईर्ष्यां जूयार्थदूषणम् ।

वाग्दण्डं च वाग्यं क्रोधत्राणि मनोऽपहः ॥ ७।४७

परमं त्वेष्वेव देवेषु सर्वं आचष्टं ममः । अतः, कुलकामागते सार्धरहिते पुत्रादप्रभाविते कर्मण्यनुभवस्तु गरीयान्, पर पुत्रादप्रभाविते तु दौर्गुण्यमेव । अतः शासकेनादयं परिवर्तनवता भवितव्यमेव । अन्यथाऽऽधुनिको दानेवाधिगत-
शस्त्राश्रयः दण्डहोतृत्वेनो बह्वन्वयः कृतदुर्ग आतङ्गिनवगन् सेवकोऽपि स सेव्यो भविष्यति, नरपालश्चापि नरपतिः । परिस्थितिपोषितः साधारणोऽभ्यसाधारणः । परि-
वर्तने दुर्बलमरा उपभुक्तभोगः परिवर्तनेऽनीदः शापनारितश्च एव भविष्यति ।

भोगैर्धर्मप्रसक्तानां तथापह्नयेनसाम् ।

व्ययसायात्मिका बुद्धिः समार्थो न विधीयते ॥ गीता ।

एवमेवोयोगवतिरपि परिस्थितिपोषितः ।

दया क—अमुकप्रामादकमाह्वर वयं तुभ्यं भोजनं दास्यामः, इति प्रार्थनैर्नोदितः पुरुषैश्चः पार्थवाहः स बहुकाममाह्वरणेन बहुभोग्यमात्र । उपवीगावच्छिद्यं तदेव विहीयानो विनिमयमानः शर्नैर्जातलक्ष्मणो वैवधिकचरो यानं स्थानच निर्माण जनरपावत्कृतानुसारि वस्तुमात्रं पार्श्ववर्तिभ्य एव कृतेषां दधेरलमूल्येन पार्श्ववर्तिभ्य एव विहीतवान् दधेरलमूल्येन ।

सह वसतामप्यसतो जलरुहजलयद् भयत्यसंश्लेषः ।

दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुषद् भवति ॥

शर्नैः दण्डहोतृत्वेनो बलीवर्त्तुत्वं दण्डशयोग्य क्रमान्तरेऽपि व्याप्तिमात्रो गूढयन्त्रैश्च । “लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते” । एव वर्णिमार्गः स घनितनमगमम् । दण्डोऽप्यप्येनधितमभावना तस्योदयः । स क्रियते बलीवर्त्तु बलित्वा पयःपुष्प-
मितमरोप्य दसगुणं अर्द्धदित्वापि ससम्पद्वर्द्धने प्रधानप्रदायकश्च परिस्थितिनिर्वाह्य मूढश्च बलीवर्त्तु दयादयश्चिद्वैवधायकपदार्थं कर्तुंमर्भ्यं प्रादण्डन्तेरद्वयमाह्वरः । सत्यम् ।

लब्धोदयोऽपि हि सलः प्रथमं स्वजनं नु नयति परिनापम् ।

दृष्ट्वा दयदहनो जन्ममुवं दाह निर्दहति ।

१ दनाधिः—अन्तःकरणम् । २ दानिज्ज्वरं दृष्ट्वा—दृष्ट्वा सः । “दृष्ट्वा परिनापयोः” “दन्विजाह” इति तौहे ।

एषा पुञ्जवादेत्याद्या भावना । अथुना सोऽनन्तासेनात्यभ्यदेन च नित्यमुपज्यमानानां वस्तूनां निर्माणेच्छयाऽऽवश्यकतयाऽऽवन्निर्वात्यन्तुवावास्तवार्थोद्देशकत्वं कुशलान् कारुण्यमन्दोदयां दयां कुर्वन्निव नियोज्य वस्तूनि निर्माप्य जीवनपरमार्थोन्मत्तप्रयत्नेन प्रचुरं धनमैषयत । वराक्षस्ते च परिस्थितिरीक्षिताः किं कुर्युः यतो हि “सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ।” सत्यमेव केनापि क्विनोद्यम् ।

इयमुदरदरी दुरन्तपूरा यदि न भवेदमिमानमङ्गभूमिः ।

कथमपि न सहे भयादृशानां कुटिलकटाक्षनिरोक्षणं जनानाम् ॥

कपति वपति लुनीते दोष्यति सोष्यति पुनाति धयते च ।

विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशान्तये तनुमान् ॥

अथ च गोः स्तनपयो वत्सः प्रतिदिनमेकप्रस्थमितं पयः पिबन् प्रतिप्रस्थनामकद्वयमूप्येन संवत्सरे पञ्चषत्वारिंशन्मुद्रणां केवलं पयः पास्यति, शल्पादिकं घृणक् चैव स्यात्वारिष्ययश्च घृणक् । एकहायनस्य वत्सस्य मूप्यश्च मुद्रापञ्चदशम् । चत्वारिंशन्मुद्रणां शनिर्निर्दिष्टविचार्य गौर्वत्सं विना कथं दुग्धं दद्यादित्युपायमन्विष्य जातमात्रमेव वत्समेकना मुद्रया गोपातिभ्यो विनिमयते केवलं स्वार्थपण्डितः ।

अतिमलिने फर्त्तव्ये भवति खलानामतीक्ष्ण निपुणा धीः ।

विमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः ॥ हरन्धुः ।

पुञ्जवादे एतादृश्यः कल्पनाः कला गण्यते विज्ञानं वा । इन्तः । “शृद्धिश्चित्त-
विकारिणो ।” खलानादुद्गमयन्ने वत्सस्यैवेद्यविकारो रक्षिणस्तु पीतसेने, नैवं तस्य विचारः । भगवतो वसुधां परां ध, वत्सस्य पित्रा बलोवद्भेन कृष्टाऽधिगतमन्नम्, वृष्ट्या जातं शर्पं मनसा स्थाप्यतीक्ष्ण यथेच्छाचरपाय सतन्त्र ईश्वरमुपेक्ष्य, रात्रिहितम्, अग्रति-
कुर्वतां परिस्थित्या मूढानां च हितमपश्यन् पराजितस्याहरपाय स्वार्थोपपाय दृष्टे परिप्रेक्षी । एवं परिस्थित्यजितयनः स भौतिकोमुन्नतिमकरोन् । परिस्थितिरेवाय ऊर्ध्वं नदने परना
अपिष्टा । यया च कथन विप्रः शिष्यवृद्भ्यः शिष्येण प्रोक्तः “भवान्नामस्मत्परावर्तित
वत्सवदानीतं पयः निर्वर्ति, अतो भवानेव पचन् अलमाहरतु च” इति वा स्वस्मै वृत्तम् ।
पदाचन शिष्यस्य पिता रजसायां रजसलयायां वा भूतायामितरत्रातिः शिष्योऽपश्यत्

“गुरो ! भवान् पश्यत्येव, आवाभ्यामपि पशुं दद्यताम्, तदर्थं मुद्रामेकं दास्यामि, यतो न विना मूल्यमात्रं गुरुशिक्षितं खादिष्यावः” इति शनैश्चनैश्चलिता एव भयहारोऽयं हन्त ! प्राज्ञान् पावकान् प्रदास्याविनश्य चकार । हन्त ! दारुणा परिस्थितिः । परिस्थित्या चान्त्यशान्त्यनैश्चनैः कृतवाणिज्यादयं तत्र वर्गमुपेताः । अतः,

अद्याप्युद्योगपतिरनवरतमधिकारिकं धाम्यते परित्विला प्रतिकर्तुं मत्तमर्थाय धमिने दयावपिबन्दीवनं धत्तुं किञ्चित् प्रक्षिप्य, कार्यायितासु कुटीषु पश्यतासु वाऽऽमस्य सवल-
मरुदस्यकातभावेन । एतच्छोषणं प्रकटितमववाधस्याऽऽमन्दोपवनदाकान्तैराकृष्टमरस्य पुञ्जस्य पयोः पुत्रः । एतेषां लज्जानां सहस्रानां दान्यतमः कथनं कदाचन कथनं यद्योयौ स्थायी किमपि ददाति चेत्तद्दानं नीवीं प्रमोष्य कृतमुद्रां निःकारय ताम्बूलवीटिकाप्रत्यर्पणवत्, “यत्नं प्रमोष्ये सुविद्यादानवद्वाऽद्विष्टितम् ।

अद्य राज्ञः क्षामन्ता भूमिदरा धनित उद्योगयतयो व्यस्यन्ति हतरे च हृदयेषु बीजन्ति । शोऽयं सर्वोपजीव्य ईश्वरस्य लघुभावेन लोकजीवनाय सर्वथा लक्षणोऽपि निर्जन एवास्ति । तस्य पशुपालकपरिपटुभूराजाः शिखिशिखम्बुहृतवदन्ताः बाकमुद्गन्धमाः शिशवः साधवविहीनाः खाद्यभक्षुः खडादिद्विह्वला उच्छ्वसन्तो मृत्सुमुखं विधन्ति, विवेकवेदिरहिता अशिक्षिता वा बीजं शोषन्ति पयाश्च ॥ । ते पयः प्रधानश्रोत-
शोऽपि पयः पातुं न शक्नुवन्ति, नवनीतारं निर्माताशोऽपि तन्नादन्ति, नक्षत्रं बाताशोऽपि नाना, अन्नस्यैकमात्रं बाताशोऽपि निरन्नाः । अन्य एव कथय हस्तवेदमज्ञानदृष्टिनां सुखनां हस्ताग्रप्रदाय तदुत्पुण्ड्रे । हन्त ! कृतध्यानमस्मात् कथं निष्कृतिर्भवति । “कृतधने नास्ति निष्कृतिः ।” तैस्सां परिस्थिती इत्यविज्ञानयोः दाम्भ्येन उरभोगो च निवासते इति वक्ष्यमाशङ्कम् । अत्रज्वालनीकटदिग्दन्तां तेषां दृष्टीदो दृष्टिं चोदनं पश्यन्नुपपन्नं केवलं प्रज्वालं प्रकटन् पदपतन् सेटुमिश्रलो धरिद्रम्, रेणुषु स्वल्प-
जिह्वाय च केदम्, हन्त ! “दारिद्र्यदोषो गुणराशिनमसो” ।

कुलं शोढश्च सत्यश्च प्रज्ञा तेजो धृतिर्धर्मः ।

गौरवं प्रत्ययः स्नेहो दारिद्र्येण विनश्यति ॥ अन्तरः ।

कार्यपणस्य त्रिंशत्स्थभ्यन्ते । एतद्धनं मदीयं तदपि ममैव स्यादित्येवमागतं तस्य विचारः । आकल्पं जिजीविषुरित्थं स द्वोपसम्पदपद्वरणे तप्तः । तस्य दृष्टी घनस्य, केवलं घनस्य मूष्यम् । धनार्जनाय स स्त्रियम्, पुत्रोम्, प्रतिष्ठाम्, पुण्यम्, सिद्धान्तम्, धर्मम्, न्यायं शान्तिज्योतिरे' विक्रेतुमाकुलः । “मा गृहः कस्यल्लिङ्गनम्” इति सिद्धान्तस्तेन सार्द्धं यत्र नितम्बे पादं प्रक्षाल्य निष्कासित उत्तरध्रुवं सेवते । आश्चर्यम् । कथं निरन्वोऽन्व-
कथाय धनवत्तन्त्रे तस्य दोषः, जीवन्मर्त्यार्थं तस्यादो भावः । परमन्तर्णसमुद्रा-
भमितल्लर्णा न्दायमन्यायं पुण्यं पापमविचार्य यदि तस्मै सवज्ञास्तथा किमु इच्छाम् ।
इत्यन्तः समयो विकृतो भयानकस्थः । एष भगवत्स्याद्यापितः मरिष्यन्तः कृष्णराम-
बुद्धा मन्दसुराधिमितस्नतितमुक्ताः खिन्नाः बाक्ताः पापराजेषु परिचिन्तित्वाम्, रक्षाम् कर्म-
शान्तिहासिन् प्रचेतुम्, समूहे नीचीमपहर्तुम्, अङ्कुरितदीकनाः परिणतघातघातपराधनाः
रत्नमितामीलिकसदृशान् निस्सर्गक्षोभोदकैः मुन्दकैः कर्मिण्यस्तस्य कला इव मूर्तिमन्यः सत्या-
न्मतक्षोभलक्ष्मणाः कन्याश्च विमतकटिनिधिलतत्रावरलिताः स्वभगवन्मायारेण
वेत्सल्येष्टुचितं भूति वा कर्तुं चाप्यन्ते ।

इन्त । धनेन कीदृशी स्थितिः परिचयिता । सर्वेषां स्वार्थं केवलमनेन एहीतम् । न केनापि कदापि विचारितमासीद् यद् इष्यते विनिमयवाचनस्य मानवमानसं एतदृशी प्रवृत्तिः भविष्यति । विद्वत्सिन्नास्ति कीदृश्यदो यो धनेन न सार्धयन् शक्यते । अन्यायस्य, शोषणस्य, भ्रष्टाचारस्य, अज्ञातस्य, चोरेण्य, प्रचण्डहृदयस्य, हिंस्रमा-
मापदयिता धनमेव केवलम् । सत्यम्, वित्तप्राप्त्यादां नरो विवेकविभ्रान्तो भवति । यत्र धनो कीदृश न स्यात्, स्वार्थः कदाचित्प्राप्तो तत्र यदि त्यागस्य चक्षुराः दिग्दर्शनम् । “नीचैरनीचैरतिनीचमोचैः सर्वदुःपापधनमेव साध्यम्” । “धनं पश्येत् ।
सत्यं च धनमेव सत्यं नृणां कीदृशं धनम् । सत्यं च धनमेव सत्यं नृणां कीदृशं धनम् । सत्यं च धनमेव सत्यं नृणां कीदृशं धनम् ।

मा राज्यधोरभूत् पुंसः भेयस्वामस्य मानद ।

एवमनानुत यन्धून् या न पश्यति ययान्धट्टम् ॥ मनासे १०।८४।१४

इति । दुरासोऽप्यत्र निबिडः । जिह्वारागमलगमदितमद्वैतनिर्गमन-
रामद्वैतः कर्ममद्वैतमित्येवमिति ।

मानो वा दपो वा विज्ञानं विश्रमः सुबुद्धिर्वा ।

सर्वं प्रणश्यति समं वित्तहीनो यदा पुरुषः ॥ पञ्चमः ।

परं ते तु धन्या एव येषां मृतानां शोकोपशमभावौतप्रोतान्यस्थीन्यपि पुर्वमुर्व
मुदरयन्ति ।

पाटोद ! तव पटोयान् कः परिपाटीमिमामुरोकत्तुम् ।

यम् पिपतामपि नृणां तनोपि परिमलैः पुष्टिम् ॥ (पश्चिमतत्रयमहः)

ग्रामोक्तयै सर्वो ध्याचष्टे, परमुन्नतिर्नगराणां भवति, वराका इवैवैवन्त्यन्ते ।

आजीविकासाधनान्यपि नगरेष्वेव सन्ति । स्वार्यः, पशुपोषणम्, लोहपुस्तम्, कूरुतम्, परिमहिणां नागरिकाणां प्रधानं धर्मः । वराका ग्राम्या दुर्भिक्षविशिताः गतवदा वरा सुवर्गसुभगं मञ्जुलकुसुमसरससुगन्धगन्धवद्भोद्रासितामयकुलं सुरविटविषादीपरिहृतवन्, पुञ्जबादपुरज्जनपरिप्लुटं वारज्ज्योत्सनाशुद्धं सौभाग्यजीवनजननं स्वार्यहितं महितं वीतरागं तपोवनमिव ग्राममुत्सृज्य स्वर्गाभिरुमिव मशकमल्लममल्लिकासंरुकिताडु दुर्गन्धनिधानासु रथ्यासु निवासाय धाप्यन्ते चरकमाह्वयमाना यममहिता जीवन्तः परमधमेण सत्त्विन्तस्तनीयांसं पाशुमपि न सचिन्वन्ति, न च सञ्चेतुं शक्नुवन्ति । राज्याधिकारिणोऽपि नित्यनवप्रियाः चाकचक्यैकप्रवणपेतसः सासूया ग्रामेषु व्रजन्ति । यतो हि न तत्र विविधम्यजनोपवृत्तितानि द्विषटत्रिजटस्फुरदिन्दोवरनिन्द- सुन्दरवदनामृतहारयगीतोपेतानि वाहितलज्जितरसभरचञ्चलस्तपविमोघनमधुरगन्तशो- मितानि उदग्रप्रसूयप्रकञ्जुकान्धितवक्षोविभूषितानि सधनोपनीतानि गोष्ठीभोज्यनि- न सौवर्गराजतभाजनेषूपहृतान्याहुताध्राण्यभिनन्दनपत्राणि, न प्रच्छन्नच्छलैश्चन्द्राणि पुष्पफलाच्छादितानि दीनारपिट्याणि, न सुवासितसुमनसां वासितवाससो हाराः, न निकषाण्य स्वर्गसुखदा गावासाः, न भ्रमण्याम चक्षूषि चमत्कुर्वन्तो मरुतराः, न च समोपेतानां सहस्रशो मनुष्याणां चित्ताह्लादकः कतलचनिः । को नाम एवं विधमाकर्षणमुत्तमं रुधुशुक्लेश्वरभ्याज्ञानदादिद्वयपूर्णं साधनाधमेषु ग्रामेषु गन्तुमुत्सहेतुः ?

पुत्रावादे मनुष्यो धनसम्प्राप्त्यै यन्त्रम् । केन ध्यापारेण कया प्रणात्याऽधिकभिधे- धनं मे प्रभवेदित्येव तत्सोदेत्यम् । नात्र मनुष्यस्य मृत्युम् । प्रतिदिनं यन्त्रेषु जीवन्तः जनानां ह्यपि मृत्युं निरीक्षितम् । सौविदः सूर्या भगवां शोचति हिनु !

अथपणस्य विनाशकमन्त्रे । एतद्वनं मदीयं तदपि ममैव स्वाद्विषेयनातं तस्य विनाशः । आकलयं विभीविपुलिष स द्वीपसम्पदहृत्त्ये लभः । तस्य दृष्टौ धनस्य, केवलं धनस्य मृत्युम् । धनार्जनाय स त्रित्रयम्, पुत्रोम्, प्रतिष्ठाम्, पुण्यम्, शिदान्तम्, धर्मम्, न्यायं शक्तिपारो विन्देदुमात्रुतः । “मा गृहः कस्यलिङ्गनम्” इति शिदान्तातेन शार्ङ्गचन्द्र निवन्ने एहं प्रहस्य निहासित उत्तम्युव सेवने । आधयम् । कथन निन्नोडन-
कथाय सपत्रधन तस्य दोषः, जीवनसंशयं तस्यदो भावः । परममूर्च्छमुद्रा अभितल्लपां न्यायमन्यायं पुण्यं पापमविचार्य यदि तस्मै सदनस्तदा किमु वक्ष्यम् ।
इतोन्ततः सुमयी विवृतो मयजकथ । एव अपतस्तदाचार्यताः अविद्यन्तः कृष्णरम-
मुद्रा मन्त्रमुपशिततरनरितमुद्राशब्दिना कालाधायतनहेतु परबेद्यित्वम्, रक्षामु कर्ग-
गोपेतालक्ष्यं प्रचेदुम्, समूहे मीरीमगहर्तुम्, अङ्कुरितवीचनः परिपततारदराशभगदना
रत्नत्रितमौलिहृदना निसर्गशीनोदयः मुन्द्यो कालिशस्य कला इव मूर्तिमयः सदा
अमलहोमलक्षमनाः कन्याय विमलहठिनिधिलज्जारबलिताः स्वममर्गगरेषु
वेद्यालयेषुचिता मूर्ति वा कर्तुं वाचन्ते ।

[illegible]

मा राज्यपौरभूत पुंसः भेदस्वामस्य मानद ।

विषयानुत दन्तून् वा न पश्यति स्वयान्तरहृत् ॥ अनादि १०८४१४

॥ १ ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः अष्टादशोऽध्यायः ॥
 ॥ २ ॥ अथ श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ॥

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिपत ।

कुटजे खलु तेने हा ! तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥ ब्रह्मनाथः ।

अथ प्रतिशतमेकस्यानजितसम्पत्ताधिकारः । व्याप्तिरिषदिष्टौ सगुणी सधर्मौ परापरौ पोषकौ । एषां मुष्टिमेषमानवानां रक्षायै व्यवस्थायै ये स्थायसीकृतपरसम्पदो रक्षणमभिलषन्ति सर्वेऽक्षिप्यते । एतादृशो बातावरणे कार्यमकुर्वन् धनार्जकधीरायितः प्रसङ्गाहुरको ह्यग्राहो वा धनुरो गम्यते, हन्त ! इत्यतां पुञ्जादे मापदण्डयानुर्यस्य ! इतश्च तन्निन्दितं कार्यं कुर्वन् 'कृत्ता' इत्युच्यमानोऽपि न फलमाप्नुः । अत्र प्रतिशतं नवनवतेरकाशितसम्पत्तावेव नाधिकारः, कथनाज्ञातहस्त एव तामपहरति । परस्य ज्ञानश्रितसम्पत्तौ परधर्माभिगतसम्पत्तौ पूर्णाधिकारः ।

एतत्तः समाजेऽपरिभ्राम्यतामिन्द्रियाणि व्यर्थतामुपयस्यन्नुपयुज्यमानानि, इत्येतेरेवमनुस्वीयेन । एतादृशो समाजे प्रतिशतं नवनवतिर्मनुष्याणां कठोरधर्माय बाध्यते, एवधानुग्राहकोऽभ्राम्यजनारतं विधमस्य विषयेऽपमोषाय संश्रयने । सोऽनीरितोनेऽमोदधमः सर्वेषां धममधमं बुद्धिमतां बुद्धिच कोत्वा परैषितो धनेनारमानव्यतिरिक्तं परं तस्य वास्तविकी स्थितिः 'प्रेत्यनोऽपिद्या नारीत् । परमय ॥ परास्थि' ।

विषवरतोऽयतिविषमः खल इति न मृषा यदन्ति विद्वान्तः ।

यद्यप्य नकुलद्वेषी सकुलद्वेषी सदा कृपणः ॥ सुबन्धुः ।

स्वामिनोऽज्ञातमात्रेण हर्ष इत्थं शीर्यम् । यथा यः कुलद्वेष भवेन कुलमुखा प्रतिमुद्रं वदुग्रस्य विषयेणम् । तन्निन्दितानि इत्यस्य धीतवर्णाति तेन कद्विचक्षणानि कोटयः । विद्वानाङ्गोऽन्वेनारवेका मुद्रा तूलस्य, यथा कर्मछायाय, यथा शातवाय क प्रवक्ष्यस्य य, परं विद्वान्मुद्रा एतद्वेषेन कुलेन हर्षेनोदधुका येन न क्षेत्रमवर्तयितुम् न शिवाचराधमोऽनुनूत, नवालेयनं कृत्वा । एतद्वेदम् । विन्देयस्यैव धर्मादिम्, दुष्टवर्जितम्, समाजनुयोजितम् । आनुवक्ष्यमाणस्य परमपरा ॥ ॥ चौरः, धर्मः तु द्रष्टव्यः, जीवजन्तो जीवजुः ।

१ बर्रर water. २ दैमसट्ट Parasite. ३ वेग Deaver. ४ परमपरा - चौरः । ५ द्रष्टव्यः "दृष्टव्यं दृष्टव्यमन्ते" इत्युच्यते ।

येषां प्राणिवधः क्रीडा नर्म मर्मच्छिदो गिरः ।

कार्यं परोपतापित्वं ते मृत्योरपि मृत्यवः ॥

परमवधार्थताम्, नैतत् प्रजुदे भारते चलित्यति । धर्ममेतदन्याप्यमपहर्तुं समवेताः ।
 अपि दुःखस्य कौडिपि लाभान्वितो न भवेत् । अतिक्रमविनाशोऽस्माकमुद्देश्यम् ।
 परितो भोगाद्यां सौवर्णीं लब्ध्वा यत्र तत्र मुनीनां कङ्कलकूटं रामेण प्रक्षितम् । शोषधनाः
 नन्दमानः पठनपाठने मञ्जनयाजने ज्ञानविज्ञानाविष्करणे प्रयतमाना लोकोन्मत्स्यै
 स्य भृत्यै धाम्यन्तः प्रतीकारापरायणा मुनयो राष्ट्रसर्वजम्बाः, जनस्थानमपि तदरूपतां
 , मुनिभूमिरपि सा मृत्युशिलेशाभूदिति काल्मीकिम्बू से । परम्, किं सम्भाव्यते
 तद्वदनं वनेतैर्द्वानिर्वाभूत् ? नहि नहि, अपि तु तेषां नैसाध्यां नीत्या । धनेश्वरस्य
 आत्मा धनीबुभुषुणा राक्षसेन शोषिताः शान्ताः शान्तिप्रियाः सविनया मुनयः सम्प्रीडिताः
 रथो मृताः, शिष्टाधोक्षिमा भवसन्ना दीना मृतेभ्यः कष्टमपि पिण्डमपि दातुं न
 वन् । नैते साधनसम्पन्ना दिव्यसिद्धय कृदस्तेषां वरदापसामर्प्यादृश्यत्वात् । अपि
 तत्समस्तरीषाः प्रजा एव मुनित्वेन वर्णिताः सुशीलत्वात् साधुवृत्तत्वात् । रक्षोराजो
 यो वराभीषो द्विदशकरध वर्णितः । परं किं सम्भाव्यते यत् कश्चन द्विपाद् वराभीषो
 कश्च भविषुं शक्नोति ? वरजुतस्तस्य कर्मणः प्रतीको पादौ द्वावेवास्ताम्,
 रमादातुं शासकस्य दुर्मददुर्दृष्टगुणैरुपेतः स विनाशिकः, दत्तेन्द्रियविषयानुपभोक्षु
 न इवासीत् । अनया सङ्ग्रहणीरया शोफणप्रणाल्या दुःखवत्, मज्जवान् पीडयन्,
 राहन् प्रौढीकृत्य रावयामास, अतो राक्षसवाम्ना प्रसिद्धः । तस्य भ्राता मज्जमांसम-
 नुपुनभ्यासको लोकभ्यासहारविरको न कस्मादपि किमपि शुभ्रपुर्महानिः कुम्भकर्म
 रस्य लोकभीषणो विभीषण इति विभ्रतः । जनस्थाने वास्य दुर्गत्तौ मुख्यौ शासका-
 खरो दूषणध, इमौ गुणादपि सविमहावित्र पुरुषवद् वर्णितौ प्राचुर्यात् प्रावत्यात्सव ।
 खरः शासनकाठोर्यम्, दूषणध सञ्चलदोषसमवायः, जनस्थाने एतयोरेव साक्षाद-
 त एव जनस्थानमरण्यातां बभार ।

समुद्रिमज्जने राष्ट्रे वरात्पाद्-दत्तेन्द्रियाणि तथा इव (नियतानि वशीकृतानि येन) तस्माद्
 निशायाम्—अन्यकारे अज्ञानान्धकारे च वरन्ति—मशयन्ति, ये निशाचराः
 चेष्टिताः । १, २, कुम्भे कथनाच्च किमपि फलं लब्धुं शक्यम्, तथैव तत्र ।

कौशल्यायाम्—कुशलक्रमेणैतायां रामाः प्रसूताः । स्वकर्मभ्रमवन्निद्रय एव युक्तं मुमांसु-
त्पादयितुं प्रभुः । तेन सर्वलोकाहितैषिणा त्रैलोक्यरत्नपाद् राम इत्युपाधि दयता सर्वा मर्यादाः
प्रतिष्ठापिताः । रमयति विश्वं स रामः, तस्य स्त्री सीता कृपिप्रतीका राष्ट्रस्यार्थविका चनकरय-
न्तत्पादकस्य पुत्री । एवं स त्रैलोक्यरमणः सीतां परिणोय सत्त्वक्षणं लक्ष्मणम्, विध्वमरणप्रवर्णं
विययानासक्तं विरक्तं मदेष्टानुशासनेऽनुरक्तं भरतम्, मर्यादाशत्रूणां हवने शत्रुस्य भ्रातृवे
प्रकल्प्य “साधुतरस्त्रिकष्टकं विराजणं रावणमुपयौहम्” निहत्वा सर्वत्रानन्दं प्रसारयामास ।
अत एव तस्य पुरी अक्षोष्या—न केनापि योद्धुं योग्या शक्या वाऽऽसीत् । तस्य राज्य-
मधुनापि स्मर्यते । यत्र प्रहृष्टमुदितो लोको हृष्टः पुष्टः सुधार्मिकः । निरामयो
ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥ विविचरूपेण मनुकास्तं गायन्त्युपलोक्यन्ति
च । यतस्तस्य जीवन् न स्वस्मै, अपि तु सोऽकजनाय । एवैव स्थितिर्हिरण्यकशिपोः ।
हिरण्यस्य कशिपुः—पर्यङ्को यस्य, यत्र जना जलाय प्रसास्तत्र स पर्यङ्कमपि हिरण्य-
मकारयत्, एतादृशो दुर्ज्ञेयो भोगामिलायी च, यः स्वपुत्रावितान् प्रह्लादमानाम्
जनान् निष्पीड्य स्वैरं निचचारोपेक्षितेश्वरान्तर ईधरमानी निरङ्कुशः प्रभुरैश्वर्यः ।
तदा कश्चन नरसिंह एवाज्ञातागमनस्तं हवयामास । प्रह्लाद इत्यन्वयं वाग्द्वयमानस्य
दुर्धितसमाजस्योपलक्षणम् ।

एत एव राक्षसाः पुरा रक्षका आसन्, आसीच्च तदा सम्मानबोधिका रक्षकपदवी,
तं तेषां दशसंख्यवक्षरेण मैत्राचर्या भीत्या च साप्ययोगति गता महत्तरहरिजनगद्गदत् ।
एते निशाचराः सामान्यसाधुजनानां शोयणादेव लङ्कां सौवर्णीं कशिपून्ध हिरण्यपाद्
वृत्तुं प्रभवन् । अस्माकं सद्भावनादेव विरतविद्धवे संसृतिस्मन्ने शान्तमनुभवे
गृहेऽमितो दिशं दृश्यमानान् प्रसादम् परितः कष्टालकूटं ततोऽप्यधिकमैश्वर्यं
राज्यामन्यप्रोपयोगो नामविष्यत् । एकस्यां सौवर्ण्यां लङ्कायां शोषकं भोगामिलायिणं
जासकं समुच्येत्तं मर्यादाः प्रतितिष्ठापयिषु रामोऽजातस्त, परमधुना परितः प्रेक्षमाणानु
सौवर्ण्यां लङ्कायितासु सर्वैः सतां शवणायमानानां हिरण्यकशिपून्धमानानां शान्त्य ह्ये
तदिदं प्रतितिष्ठापयिषिभिर्गङ्गिरेव रामरूपेण नरसिंहरूपेण च भवितव्यम् । यतो हि

१ रक्षतीति राक्षसः, रक्ष शब्दे अनुजन्तव्यप्रकाशम् । अनुना तु रक्षत्यस्मात् ।

२ अन्वयं वाग्द्वयमानान् । ह्लाद अन्वयं वाग्द्वे । श्रुतिं ह्यु ।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् यथा वर्तितव्यं स धर्मः ।

मायाचारो मायया चारणीयः साध्याचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

मूलं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।

तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लघुदो यथा ॥ भागवते १-१६-११

नैतत् सम्भाव्यते यदेते बोधनेन सत्ये समागमिष्यन्ति ।

भूयोऽपि सिकः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ।

परमेते भ्रान्ताः समाजोऽप्यमात्राः सम्भ्रान्ताः । भ्रान्ताकामप्युदयो दयापात्राणां
समुच्चैरेवम् एव । यतः—

रुद्रोऽद्रिं जलाधि हरिर्द्विपदो दूरे विहायः भिताः

भोगोन्द्राः प्रवला अपि प्रयमतः पातालमूले स्थिताः ।

लीना पद्मयने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थाङ्गिया,

दोनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पुरुषाः केवलम् ॥

विहायां दत्तैर्दद्यायां न कोपि कुप्यत्यभेदात् । एतेऽप्यद्वैतमुक्त्यमरविद्याः । एव मद्
एवामनयो येनाप्राकृतिकीमवस्थां विहाय प्राकृतिकीं दशां भजेयुः । “असतः
भीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमास्त्रजम्” । भागवते १-११-१३ । एव
चतुर्कोऽवसरः । समुद्राद्भूय देवेषु यतायां भिरां वा स्थितिर्देवानामासीत् सैवाया-
न्माकं धनिनाम् । “अन्तरापाति हि श्रेयः कार्यसम्पत्तिसूचकम् ।”

मेवमावनायां परकीयमावनायां सीमायां विवर्तता, सत्यामलायामस्तृताया-
मस्तृतायाश्च क्लेशाः सम्पन्नता । सर्वेभ्यः समाया प्रप्तिरभेदमात्रस्य सति-
भावस्यैतमावस्थाभिहृद्भावेन भवति, स एवास्याकं साध्यः, विरोधपरिहारः
सर्वत्र समत्वापादनम्, कर्तव्यपुण्या प्रदर्शनरहितं सद्व्यं कर्म च । शिष्टं सेवमन्त्रा
माता किं वृत्तपद्मेण विवर्णं प्रकाशयति ? माता सेवया आदर्शः । नमोभूत पूरा
समुदीयमानः किमुदोषयते ? यदहं तमोऽपहनिष्यामि, पक्षिणः प्रेरयिष्यामि, ओम्वात्
कर्मणि योजयिष्यामि परमेतत्तस्य सत्तया सतो भवत्येव । परिमर्तं प्रसारयन् विविपरमै

सुरूपतामुल्लासय विक्रमयन् छायां फलानि च दत्तलूनौद्योग्यते, न जानाति न च गर्वमनुभवति । यतो हि स तेषां सद्वभावः । सर्वं सर्वं लोकात्, सपत्न्यसर्वसाधनानुपयुजानाः सुखिनः प्रतिक्षणं समवेत्योदीयमाना जीवान् । यतः—

पुंसन्निवर्गो विहितः मुहृदो ह्यनुभावितः ।

न तेषु द्विश्यमानेषु त्रिवर्गोऽप्याय कल्पते ॥ भागवते १०।५।१८।

राष्ट्रस्याधिकी स्थितिमुन्नेतुं यतमानानां मानवविहिता विपत्तान्नरकविपत्तां प्राकृतिकीष न्यूनविपत्तामस्माकं पणोऽस्तु यज्जलस्यैको विन्दुरग्नस्यैकः कणः समग्रस्यैकः क्षणः धर्मस्य स्वल्पतमोऽंशश्च न व्ययेमुपेयात् । सर्वे च सुखिनः प्रियदर्शिनश्च भवन्तु, न कश्चिद् दुःखमाप्नु भवेदिति । एवं कृते दुःखम्, दारिद्र्यम्, शोकः, भयम्, ज्ञानाद्य कथावशेषतां व्यपेयादाववश्यम् । “एकचित्ते द्वयोरेव किमसार्थं भवेदिति” सर्वं तु बहवः ।

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृतौ सुविचारिते ।

प्रारम्भे कृतयुद्धीनां सिद्धिरव्यभिचारिणो ॥

असिद्धार्था नियतन्ते न हि धीराः कृतोद्यमाः ।

कश्चिद् भूते, अस्तम्भवः सर्वाभ्युदयः । महतां सङ्घेषु जीवनं प्रकृतिसिद्धम्, “जीवो जीवस्य जीवनम्” । सर्वत्र ज्येष्ठः कनिष्ठम्, स्वलोऽग्रतम्, पण्डितो मूर्खम्, धनी निर्धनम्, भूमिपालः कृषकम्, विधमजीवी धर्मजीविनं जिघत्सति । यत्सन्त्यादः प्रकृतिसिद्धः । “वरिष्ठो मत्स्यो लप्नोति” इति न कथमपि प्रकृतिविरुद्धं कर्तुं शक्यम् । नादत्तने न वा नरात्तने भगति दुर्गतानां स्थितिः । अतः कल्पनामधुरोऽयं सर्वाभ्युदयो न व्यावहारिकः केवलं प्रज्ञावादे विचारकार्णा वाचां व्यावामथेति ।

परं भ्रान्तौष धारणा । सर्वातिशयविलयात्येव चेजीवने साधिकास्तदा पुरत एव सर्वेभ्योऽंशमः समाचारी नैसर्गिकसाधनविहीनः प्राणी । यत्सत्स्य न तीक्ष्णानि वस्तानि, न शोभा दंष्ट्रा, नोद्वेगवाय पशौ, न गन्धः, न विशिष्टा भावनशक्तिः, नोत्सृर्दवाभ्यासः, न चले न स्थले न वाक्ये तस्याऽबाधा गतिः । परं न केवलं स जीवति अपि तु सर्वान् वस्त्रान् वरायति । हस्तिनमुद्रमध्वबरोदति, सिंहं कृकं वरायति

अपेक्षं नर्तयति, श्रुतिषो नियोजयति, यां महिषीं होमिषं व्यवहरति च । अतोऽप्य-
बहवोऽयं मरस्यन्यायो बुद्धिमत्सु मानवेषु । 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' । सा चेयं शरीरवत्-
तो निष्ठाऽनवपिका शक्तिर्बुद्धिर्नाम । या शरीरेण न क्षिणोति, अपि तु प्रखरा प्रखर-
तरा वर्द्धते । अत एव मानवसमाने शरीरवत्तयाऽद्यच्छोऽपि बृद्धो नेता भवति, भवितु
शक्नोति च । नैव पशुसमजे । अतः समाजे बुद्धिमत्तामेव धरीयस्त्वम् । बहवश्चरित्तिनी
विद्वज्जिनो मृताः । न कश्चन तेषां नामापि वेत्ति, परं बुद्धिमन्तः प्रातः स्मरन्ते ।
अत एव देवराजो बृहस्पतिम्, कृपयां शुक्रं प्रसादयामास । केचिद् वदन्ति भ्रान्ताः —

पुण्योपाश्रितसम्पदोऽपदानि विपदां धनिनः कथं पुण्येऽक्षीणे एव निर्धनाः कर्तुं
शक्यन्ते । एते हि परमधार्मिकाः । लोकस्य भूयै विद्यालयाः, पुस्तकालयाः, औषधा-
लयाः, आरामान्, धर्मशालाः, गीताशालाः, गोचरभूमीः, कृपाः, देवमन्दिराणि निर्माय
स्वस्वधारयन्ते । एते विश्वस्य सन्माः, मर्यादासेतवो मधुरकलायां विनता वृक्षमा ।
एतेषामभावे विश्वस्य व्यवस्थैवास्मत्तया लोकोऽथ विषयतां व्रजेत् । इत्यथा-
पुनः अक्षीणरागा हरिश्चः कथं सपनाः कर्तुं शक्यन्ते ? इति शास्त्रेण प्रत्यपादि ।
तस्य, एते धर्मं ध्ययन्तो धार्मिकप्रवृत्ताः प्रायशः कर्तव्यां विवेकपात्र सदाशात्, प्रतिमुद्रं
कापांशमेकमादाय प्रतिवर्षं सहस्रयो लज्जत वत्साय सतांशं यशोविनो धर्मं धन्यवादाय
अपन्ति । विचार्यताम्, किमस्ती धर्मः परोपकारो वा ? किमेतस्य फलं धनिना साधिकां
भोगं शक्यते ? तस्य फलेन च स धनवान् भवितुं शक्नोति ? यथा कथं राजानः
प्राधानेन सर्वं निर्मापयामो भुञ्जमहे च तपेर्वते । अतुतः पुण्यं स्वमनःशरीरवित-
समर्थां शनैर्नैव । अथ यः शास्त्रेणेत्यपि प्रत्यपादि यत् पुण्येन मनः शुद्धयति, तपसा
सर्वशुद्धिमाचल्युर्महदयः । शुद्धमनाथोदा सायाः, क्षमायाः, दयायाः, सन्तोषस्य, चरित्रस्य
च निधानम् । परमय विदुषे कदापि भूदेवाय पुण्यप्रवृत्तकथं लोकोद्धारप्रतिनेऽदलनिधाय
विधिवान्माषीकमाकाण्डते मन्त्राणां लक्ष्मीलबोल्लसदमन्दमदावपूषितैर्पर्वन्दाधरो
हास्यया प्रदीयते येन स स्वं तत्रैव अद्यात् कन्यायां किमप्युपलभ्येत च । सत्यम् ।

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः पद्भिरसत्तमेतरैः ।

स्मृतौ हतायां मृतमानदुर्दशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयताम् ॥

, स्मितदेव पुण्यम् ? एव एव धर्मः ? पुण्यानुश्रयिनामेतदेव लक्ष्म ! धर्जित-
तपसामधिगततपःफलानां तपसालामेव एव भावः ?

मुज्यन्ते स्वगृहस्थितैरिव सुखं यस्यायिभिः सम्पदः

पटो यस्य मतिः तमःप्रहृतये द्वावेव तौ प्राणितः ।

यस्त्वात्मम्भरिरुन्नतेऽपि विभवे हीनश्च विद्वत्तया

तस्यालेख्यमणेरियाकृतिवृतः सत्ताप्यसत्ता ननु ॥

स्वामिने सम्पत्कूटं चिन्वतामनराधिनां मृत्यानामपि धनजिघृक्षयाऽपराधमुद्घोष
घनमादाय भविष्यद्वाधानिरोधाय तान् कारायां निरोधयत्सु कथं दया, कं रुमा,
कं धर्मः, कौदार्यम्, कं दाक्षिण्यम्, कं च लज्जा ?

परयादे दरावदनः पररन्ध्रनिरोक्षणे सहस्राक्षः ।

सद्वृत्तवृत्तिहरणे बाहुसहस्राजुं नो नीचः ॥

धार्मिकमन्यानां ग्रन्थेषु, योस्ते पामारमृतान् कथयन्ति, इयं सर्वसङ्ख्यार्थ
पदम्, अपदं पुण्यस्य, निषिद्धमप्राप्तमुक्तम् । इत्यवतामहमप्राप्य इति मगवान् ।
“यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं कनैः” । सर्वप्रह ईश्वरोपासनायाः सर्वथा प्रतिकूलः ।

ऐश्वर्यं विपदां धीर्जं प्रच्छन्नं ज्ञानवारणम् ।

मुक्तिमार्गार्गलं दाह्यं हरिभक्तिव्यपायकम् ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण प्र० स० ३१।४८

परं तदपि धार्मिकम् वा समाजोच्यमाना ईश्वरप्रियाः देवानां प्रियाः परोन्नतिश्ले-
षात्पावुला अन्यायेन धनमर्जयन्ति । विशाला दुर्गापिताः प्रासादाः अधिलभ्यन्तरोधीनि
च यन्त्राणि सन्तोषस्य चर्चामिवानवरतं विदधति सर्वतः सोद्घोषमवलोकयन्ते,
यत्रामिपलण्डाय गृभाणां कुक्कुटाणामिव सर्पस्यस्ताम्रकन्दाय सङ्घर्षकोटं भवते ।
पारस्परिकव्यवहारे खलुमात्रयापि यदि स्नेहसहानुभूत्यौ ध्यवाहरिष्येतम्, तदा विद्व-
ताभ्यन्तरदाक्षिण्यपेक्षितं सहस्रं कर्ष्यसमताय प्रदर्शयितुं धर्मिकोऽग्रस्यत्, सर्पस्येयानि
नामविध्यत्, पाम्, कः प्रबलदा योर्बलस्यया कठोरतयाचारैर्वातुक्वप्यनामिष्य सर्पस्यैत-
पनः सपनोऽपनैरेवं व्यवहारः कज्जः । विपन्नप्रिया विपन्नप्रिया भ्राताः सर्वैर्गैर्विवर-

सायान्धाः स्वामिनो दारुणामावणा भीषणाः कृणान्तस्व दृता ॥ प्रतनुवमवोद्भवदम्बर्गवां
वर्षा विनाशोन्मुखाः श्रमिकैः सहामर्गादं दुर्व्यवहरन्ति ।

परश्वत्क्षोदविनोदलीलाः खलाश्च काकाश्च यदृच्छयैव ।

पात्रेऽप्यपात्रेऽपि विगर्हणीयां धार्चं च विघ्नाश्च समुत्सृजन्ति ॥

आ ! कष्ट ! दुःखे ॥

सोमेश्वरदेव !

एकः स एष जोषति हृदयविह्वनोऽपि सहृदयो राहुः ।

यो निखिललघिमकारणमुदरं न विमर्त्ति दुष्पूरम् ॥

पादाहतं रजोऽपि मूर्धानमधिरोहति, तदा कथं न स्वाचेतने दुर्निवारव्यये समुत्प्लुष्टे
मानवे सूर्यः ? अस्तु, चरित्रचैतेषां साधमभिरामचित्राणां वोदृष्ट्या सह समवेतानां पट-
कानां वर्णनैवानुमातुं शक्यते, यत्रार्थता यतित्वमुररीकृत्य वनम्, वर्णाभ्रमाचारोऽनाचरित-
मिश्रः क्षापयिषु, भारतीयता यतवाक् सत्येव सह स्वातलं प्रविशति । यत्राप्येते,
स्या दूषते, मानो म्रियते, मौनं चीत्कुस्ते, आर्जव मर्जते, प्रज्ञाचर्यं जिह्वेति, प्रावा
रोक्षति, द्यौः प्रपित्सति, पृथ्वी प्रेक्षति, पार्य प्राच्छन्ति, पातित्वमुपेक्षते, सूर्ये उपोषति,
कष्टं कष्टायते, मनीषा शेते, यदाः स्वं श्रुतिश्रुति । सत्कार्ये याचते म्रियमाणाय वा
सुष्टिमात्रं शिरसः, संस्कृतिप्रचाराय ज्ञानविज्ञानधर्मोत्तयै च प्रापितः सर्वदा
सम्प्राप्तार्थहाविः, परं स्वर्णकरोलाय सर्वम् त्यक्तुं सर्वदा सज्जः । प्राग्भवतामन्त्रित-
तपसो यस्य विविधं वाक्पाशुरायां मुखवधूरावजन्तधराः प्रातुर्येण चरन्ति । यत्र तत्र
वैज्ञानिकमार्गस्तानागरस्य कलानिकेतनस्य संस्कृतिपरिपदो मनोरञ्जनशालया नैश-
भोजनशालयाश्च भिषेणामिनवप्रकाराणि व्यभिचारदृष्ट्याणि समेधन्ते, यत्र स्मेरबाह-
वदनविह्वलितेन्द्रीवरमदाः कृष्णपद्मलाक्ष्यो मृत्रावलिस्निग्धोऽज्ज्वलचिह्नुरनिवृत्तवा
मृदुलमनोरमप्रतम्बाङ्गुलीकास्तमीरमजमुख्यो मखोदूषोतविह्वलितरकोत्पलाः सिता-
वतज्योत्स्ना गतावदहर्दसाः कलाकुटिलकेद्योत्करस्फुरन्मणिदिगुणितमाः खपरीट-
नयनाः सारदवेतोत्तमीषा-मल्लिकामृषालम्ब्यो विदुल्लङ्कीकन्दलीमखराः कटपौत-
कटेवरा अर्धोन्मिश्रितवीकना भुवनमाः पादप्रभापतिभूतलायाः क्षामोदर्यः सुप्रमर्गः

कुमार्यो व्योमभृष्ट तिस्रपितृकपोत्तमशो भीषनं कर्षयन्ति । यत्र काशशीतोऽनुसंधेत-
केशाः कपूररसदिहेन्दुमुन्दरावदातध्रुवः प्रवक्ष्यन्तः धनोद्गमपामलोऽहीनमोगा मंदीन-
मोगास्तर्यवेतशो वपीपाशो धनिनो मकरन्दस्यन्दिनी मधुरसारह्रीमाङ्गदितुङ्गमाः
ह्मातीकीतिहौमुदीकलङ्घनकलमपकलुपितकलेवराः काचकमुकाः प्रक्षमं प्रेषयन्ते ।

अवधार्यताम्, एतदपहृत्यमेकदा राष्ट्रस्य विनाशाय समर्थम् ।

प्रातः समधिगतधनः सार्यं निर्वहनः स्वपिति मन्दभाष्यः । स किं प्रातः पुण्यकर्मा
प्राप्य प्रनष्टपुण्यः ? पुनरपसप्ताहे चाधिगतपुण्यफलः ? वस्तुतो वाचन्ति चूलानि
प्राप्तयो मुद्राः । दातच्छलच्छतपतिः, सहस्रच्छलः सहस्रपतिः, लक्षच्छलो लक्षपतिः,
गेटिच्छलः कोटिपतिः, तदूर्ध्वं तु चलत्मात्मकः । पतित्वं हि स्वाधीनवस्तु एव सम्मवति,
तं हि स्वाधीनं न श्रव्यम्, तस्य गमनशीलत्वात् । अतः कोटिपतिश्चन्द्रेन
द्विच्छलपतिर्बोद्धव्यः । 'धाकपायिकादित्वात्समासः' ।

फूटकलाशतशिविरैर्जनधनविपरोः क्षयक्षपातिमिरैः ।

दिविरैरेव समस्ता प्रस्ता जनता न कालेन ॥ छेमेन्द्रः ।

नादैर्वा सम्मानवाचकत्वं राक्षसशब्दवत् । राक्षसा एव स्तुतिप्रियाः ।

यन्मोपकारकं यन्न भूषणं यत् प्रकोपमातनुते ।

गुरुगापि तेन कार्यं पदेन किं श्लीपदेनेव ॥ गोवर्धनाचार्यः ।

वस्तुत एतान् संस्मृतिविनाशकानां साधुसद्वृत्तपरिस्थितिपीडितभुविजनहितानां सत्त्वं
सुतां स्वार्थान्धानां देवद्विजद्विद्याज्ञविधवावराकलुष्याकानां पर्यायान् सद्वृत्ता मन्वरो,
स्थितिपीडिता नासि वस्तुं शक्नुयुः । परिस्थितिपीडितेन केनापि सत्यमेवोचम्—

१ शौच्यतिर्दर्शापः, दशैव चापरे देवमेदाः । ममशयाथोपलब्धिः । देवः—कीडा-
ः । विद्यापरा—विजिगीषुमावापकाः । अपरा—व्यवहारवित्तः । यशः—दृष्टि-
ः । रक्षः—स्तुतिप्रियम् । गन्धर्वः—मोदी । द्विषरः—मदासकः । पिशाचः—
पामिलायी, सन्त्यजनोपलक्ष्यम् । गुह्यकः—कामी । सिद्धः—अव्याहतगतिः ।

२ वैद्विषः प्रायशः सर्वगुणोपेतः ।

मातः कस्य न वल्लभः ? परमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः

कस्य प्रोतिकरी ? त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते ?

किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः

क्षुद्रानघतनेश्वरान् धनमदक्षोवान् निषेवामहे ॥

वस्तुतो ये सु-सुखं गन्ति-इदति ते सुरास्तद्धिम्ना अमुराः ।

अपतनं धनं संयोगान् केवलम्, काकतालवत्, घृणाशरवच्च । नतत्पुण्यस्य फलम् ।

अथ च पुण्येनैतदेव सम्पद्यते, कृत्स्नतपसश्चैतदेव फलवत्, नियमयमदमादिभिरैतदेव प्राप्यते

वेद् दास्यन्ती दहत्वेतत्तपः पुण्यं, भरम आस्य रसातले तथा मिश्रात् भवेद् यथा प्रलयान्तेऽपि

नोपपुंयेयत् । विद्याधनम्, पशुधनम्, इषिधनम्, कलाधनं पुरा धनपदवाच्यमासीत्,

पामहो । अथ विनिमयसाधनानि मुद्रितानि कर्मदस्तङ्कानि धनपदव्यवहार्याणि ? आश्चर्यम् ।

अथ निर्मायं गुणप्रणयिनः पादपांशुपरिमर्शपावितपठितपत्तनपरमपीवरपापिनः सार-

जाशरपावैककुला सुनीयमाना विद्रांसो धनमृद्भेजिषक्त्रहुङ्कारकातरधियो रीरवायितेषु

यानेषु निवसन्ति बाधोऽश्रुतिमाधिता दक्षिणः । एतां राष्ट्रस्य विभूतयो बार्दके विविध-

विचल्लेखिष्वप्याधिविपन्ना औषधोपयोगायाप्यपारयन्तः श्लेषसिद्ध्यामघूर्णितमस्तिष्का

रः क्षयन्ति, परं न कश्चन याचन्ते—

विपमङ्गता अपि घृथाः परिभवमिथा मियं न वाञ्छन्ति ।

न पिबन्ति भौममम्भः सरजस्कं चातका ह्येते ॥

यद्यप्यलिनी विद्रांस एव सीदन्ति, तद् राष्ट्रमुन्नेष्यतीत्याद्यैव खपुष्पाविता घृथ-

पाविता सैकतौल्यविता यः । इतश्च चरुचित्रनद्वयोऽप्रकाशितागमना अपि मर्क-

त्तापमा यथा सन्निध्यन्ते यज्जनसेवाविभागः प्रबन्धव्यासफोऽशच्छो मरति ।

पापाविहीने कश्चन धार्मिकोऽरथास्यत्तदा विमेतादसी स्थितिरमर्ण्यत् ?

धिगस्तवेपा-विद्याः-धिगपि कवितां धिक् सुजनतां

ययो रूपं धिगू धिगू धिगपि च बुलं दुर्गतिमताम् ।

असौ लीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्

बहिर्दस्य द्वारि लण्डवसमाः सन्ति गुणिनः ॥

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते भ्रमति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
 दीव्यत्यश्रून् धारयं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि ।
 ह्युदण्डैः प्रमूणामसकृदधिगतान् चारितान् द्वारि पालैः
 पदयास्मानन्धिफन्ये ! सरसिरुहुरुचामन्तरङ्गरपाङ्गैः ॥

परमद्य धूर्ता धर्मस्य रुद्रां केवलं नादयन्ति बहमच्छा न च धर्मं चान्ति । समये
 समत्वाय गुणकर्मविभागश्चातुर्येण चतुरेषु सृष्टम् । परम्, शिरो बद्धीकृत्य
 भुजाभिषीकयेते, पादौ शालाकयेते, केवलमुत्तरं दावप्रापयकर्म रिचताधर्म सुस्वाद्यरोनिव
 भृगोलाद्भागमिव वैषते ।

विवेकहीनाः समभावोत्पत्तिं सर्वांश्चुदपमहितकरं मन्यन्ते । नैतत्साम्यम्, यत्सर्वं
 परिमार्जनं गृहनिर्माणं वा कुर्युः प्रस्थं वा भक्षयेयुर्गतिः । किन्तु सर्वे स्वस्योपमानुसारि
 कर्म कुर्वाणा राष्ट्रतो जीवन्नोपयोगि योग्यतावद्भव साधनं समानं समेत् ।

घनवलेन स्थापिता सप्ताङ्गानां सन्दिग्धा च, पारस्परिकमिष्टया समस्ये स्थापिता च
 स्थायिनी प्रभावोत्पत्तिश्च । सा यदि प्रतितिष्ठेत्तदा प्रतिदिनं प्रेक्ष्यमाणो घोरः पारस्परिकः
 सङ्घर्षो विनश्येत् । अद्याप्यमर्यादिकारः शारोरिको रक्षविचारः समस्तं राष्ट्रं देहनि
 वृणयति । अनेनार्थविकारेण प्रवृद्धेन रक्षस्य चापेनेव समावस्य पञ्चापातः समर्पितः,
 हसितेन च रणालयाः । एव समये समये धर्मिकान् प्रलोभ्य वधयति, कल्पश्रीरावनि
 प्रदर्श्य तान् विनाशयति, मर्षां नादयित्वा कस्तूरीमृगमिव मोहयित्वा हन्ति । एतदिदं धर्मं
 मद् यो दृष्टिान् दुर्गमयति तस्य दुर्गतिर्न वा ।

विश्वासस्य मधुरवचनैः साधून् ये बन्धयन्ति नम्रतमाः ।

तानपि दधासि मातः कारयपि ! यातस्तथापि हि विवेकः ॥ अण्णादः ।

स्वकार्यं विद्याधरिपुः पुञ्जादी नमः सिद्धौ च राज्ञे ॥ दम्भीऽभिमाव
 पुञ्जादस्वभावः ॥

मत्स्यस्यैवेषु सदा दम्भस्य शायते गतिः केन ।

नास्य करो न च पादौ न शिरो दर्शय एवासौ ॥ हेमेन्द्रः ।

शरणे समुजङ्गमे स्वपन् प्रतिबुद्धेन परेण बोधितः । ...

तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुषं मुजगं जिघृक्षति ॥ अत्रयोगः ।

निशालस्याकाशस्याधो द्योतमानानां चन्द्रतारकाणां प्रद्यक्षम्, द्योतं मन्दं प्रवहती
बायोः शान्तघटेऽथानन्दं विमुच्य क कारयिते गृहकोणे विद्युद्व्यवनवते
वासोऽस्माभिरङ्गीकृतः । इत्त । सत्य आनन्द एवाय पुञ्जवाद्दूरे प्रौढः ।
मयनटोपु वेदयासु बानरमस्त्रकुरसर्पेणु निपतन्ति मानवा आनन्दं क्षिप्सवो दुष्काले
सुमुक्षिता अक्षरूपेष्विव । अहो ! आनन्दामासे प्रतिच्छायायामेवानन्दमनुबुभूक्षति
सुखः । अरमाकं जीवने कायोऽस्माहः ! वयं यत्सिमो यतो हि प्राणा न नियन्ति ।
परं जीवने जीवन् नास्ति, उत्साहस्य मानवशब्देऽध्याभावः । कलाहोर्न मदीनताविहीनं
भावनारहितं रौरव्यमानं जीवनम् । किमेतदपि जीवनम् !

वयमार्याः । आर्यसंस्कृतेः प्रसारय वयमेवाभिहृताः । अस्माभिर्वहसो भोगा मुखा
परं तृष्णाधुनापि युवतिरेव ।

या दुस्सजा दुर्मतिभिर्जीयतो या न जीर्यति ।

तां तृष्णां दुःखनिग्रहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥ भागवते ९।१९।१९

अवधार्यताम्, अस्माकं माहात्म्यं त्यजेनेव बहु भोगेन । अठरं को न विमर्ति केवलम् ।
भोमैविद्याः न शमिन्तुं पार्यन्ते । अथ च यदि वयं भोगाह त्यजामस्तथा
भोगा अस्मान् विहाय प्रशिष्यन्ति । यदि वयं प्रजानां क्षेमं न साधयिष्यामस्तथा
प्रजाः स्वतस्तन् साधयिष्यन्ति । तदा कास्माकं वैशिष्ट्यम्, क्व च सम्मानः, किञ्च
गरीयसोऽध्ययनस्य फलम् ?

याते मय्यचिराद्भिदायमिहिरज्वालास्ततः शुष्कर्ता

गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरियं सन्तापमालाकुला ।

एवं यस्य निरन्तराधिपटलेर्नित्यं यपुः क्षीयते

धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग् धारिणीनां जनुः ॥

एषा समयस्यावश्यच्छता । भूयच्छेद्बहूनि उद्ग्राहि व्यागरितानि । दरीवयोऽवश्योऽ-

पुण्यकृता जाताः । अस्माभिरपि जागरितव्यम्, योक्तव्यं च निश्चयं भूयैः । सततो-
पहारनिरतमनसो महादशा एषादो महत् कर्म कर्तुं श्रमाः ।

सद्भृतो भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमहाय योग्यता । माणः ।

एषा च सत्संस्कारस्य दिव्यधारा समस्तजीवने सततं प्रवहेत् । प्रवहणम्वेक्षया
रिति । पर्वते पतितं पानीयं शतमाग्रेभ्यः प्रवहन् सततं निर्मातुं प्रभवेत् । तदेव
सैकस्यां विधिं प्रवहन् श्रोतो भूत्वा धाराकूपेण नदीकूपेण परिणम्य समुद्रमिव श्रोतस्य
प्राप्तुं समर्थम् । एवैव स्थितिः संस्काराणाम् । अतं हि निम्ने सर्वतः सुखा दिव्योऽप्यस्ति ।
प्रथमतो भूमेः पौष्णं निरूप्यदुर्बराशक्तिं ह्रासयति, द्वितीयतस्त्वैकप्रीभूतं विद्याकलायुं
प्रसारयन् महाकान् प्रकाममुत्पाद्य विरमज्वरमागदयति । अतो लोकहिताय जलहिताय
च तस्य सर्वमिन्द्र भूभागे विभाजनमेव वरम् । एकमेव इत्यस्य । इयं हि 'द्व गती'
यतोऽर्षुः स्थानम्, गतिशीलता तस्य प्रधानं धर्मः । निरोधे व्यापत् ।

निषिद्धम्याजहतलोकाधनोऽनुत्पादकाः सतो हियमनुभूय, श्रेयमानः परैर्दृष्टो
हासनिषेधं दिवं दीपं परिहृयन्निव स्वाभिरवं निराकुर्वन् स्वत्वं त्यजेत् । सद्भृतोऽ-
पिधाम्यतः जन्ममोहेऽधिकार एव कथम् । सुमुञ्चिताः पक्षिणः स्वयमाहाराय यतन्ते ।
पुष्पास्तस्य पुरजान्तिः स्वयं भोजनेनैव । कर्तव्यं सर्वत्र कलभाङ् ।

समाजो हि सहयोगिनां सहकर्मिणां पारस्परिकमाकर्णः सम्प्रज्ञये समस्तये च
समाभितः समुदायः । वरमप्य हरिम् केचनसहकर्माणोऽनुत्पाद्यापि सर्वाधिकं निष्प्रम-
थोयिनश्च भूता व्यपेततज्जाः । एतान्मस्तरेण न कापि समाजे क्षतिः । यथा च—

(१) व्याजोपजीवी—करवापि सततमुद्रं भूयं श्रेयं दृष्टं यदादि वा म्यास
मद्यश्चक्ष्मादीकृतस्य यथाशान्मुद्रा ददाति न्यासधराः । एतस्य कुडीर्द दस्य मुद्रा
प्रतिमासम् । न्यासावर्त्तनावधिमासत्रयम् । परिस्थितिरिदितो न्यासधरोऽरधिमथ्ये
कथमपि न्यासं प्रत्यावर्त्तयितुं न समर्थः । न्यासधरस्य कुडीदस्यकहृदसा यथा प्रतिउदयेषते,
ह्यस्य तथैव ह्यसः । अत एव स महाजनः । ज्यो हस्यनयोऽप्यजनः—जनेद्राः—
मन्त्रोक्तिगुणरहितः, सोऽपि न सामान्योऽपि तु महान् । ज्यवा 'अत्र गतिश्रेयसदोः—
मन्त्रः । म्यसेन सह न्यासधरस्यन्याससात्करये सरहृदः सस्यज्य, सोऽपि महान् ।

दत्तुमात्रस्तु सम्पन्नेभ्योऽपहृति, पश्यन् तु वराकान्किञ्चनान्, भग्नमात्मान्, मज्जनं
विपश्यन्, विद्वान् सन्मानवसादयति । अत एव प्राकृतैः स 'बावू', 'लाऊ' अति
सम्बोध्यते ।

(२) व्यसनोपजोषी—परेषां व्यसनेन कष्टेन विरहया यो लाभान्वितो भवति स
यथा बावूलो वैद्यश्च । ज्ञानं हि परेषां शर्मणे । यो ज्ञानं विक्रीयमानो लोकस्य विना
स्वामान्वितो बुभूयति स किं ज्ञानोपासकः ? "ते हित्वा कामनं राशिं पांशुराक्षितुपाश्वते
स तु व्यापारी भगवत आशिर्य आशासनात् भक्तः ॥ "न स भक्तः स वै वणिक्" । वा एव
मार्तोप्यमायात् पश्यदस्य मुनूषौथ शतं जिहृषति विचर्यतां स कीदृशः ? यो मत्तः
कामादपि हर्तुं कामः ।

नार्थाथं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति ।

यत्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते ॥ चरकः ।

एतादृशास्तु राष्ट्रस्य गौरवम् । परमद्य किपन्तस्मादृशाः । अद्यापि चिकित्सका धर्मं
हर्णं न हि, तस्य धर्मं दिदृक्षन्ते, स जीवतु निपतां वा ।

(३) शुल्कोपजोषो—शुल्कशुल्केन शकटशुल्केन जनवाहनशुल्केन जीरति, शतं
सहस्रं वा मानवानां नियतवेतनेन नियोज्य यन्त्रादोर्वां परिचालनेन धार्यमुपार्जयति सः ।

(४) पटकः—केवलं वातावित्त उभयोपनोका उभयार्थहरश्च ।

(५) समानशीलस्य धनिनः पोष्यपुत्रोऽपहृतहिरण्यस्य परिरक्षको लगुडी च ।

अथ कथं सर्वाभ्युदयाय कृतसङ्कल्पाः समवेताः । सर्वेषां सर्वरमैः सर्वस्वात् सर्वं
सर्वस्मिन् च भिन्नं उदयः—सर्वाभ्युदयः । सर्वेषामेकाग्रिन्नुदये च सन्तुलनं सम्भाष्यते, ३
समन्तादुदयोऽरमाकमभीष्टः । स च भिदैविकोनामाधिभौतिकीवामाध्यात्मिकीवा च सती
ममितो दिशमुत्कर्षः स्वात्मवाधिकाया बाधाया अप्रभववच्च । सोऽयं दृष्टिः प्रभविदोषः

१ उदूका उपसर्गः । यथा वा कायदा वा इजत । २ यन्त्रं
यथा । दुर्गन्धार्थं सम्भव्यवहारार्थं केवलं यन्त्रद्वारेण प्रकाली ई
करणम् सर्वदा 'ला' 'ला' इति करोति सः । सा आदने । अपय
मुखात्स्वात्मोद्योतन्ति सः । ३ जनेन । ४ प्रापिने । ५ उपायः ।
स परित्यागे च ।

विपुत्रादोपुत्रभुवभ्रमो, अभिमामभीष्योप्यभीष्यहान्तामृतस्यन्दो जगद्विदेसेद-
 लेषो पणभूतभूतवर्गानुक्रमो पुत्राददृष्टारकतगुरहर्षवर्षी भवमयाप्रतिविम्बामृतवर्षी
 यमदर्शज्वरकपी अन्तरगुहागहनगेहगूदितध्वान्तविष्वसी कलहसङ्गराशङ्करो मायामत्त-
 नैवपदगदङ्कारः घास्यमहर्षा प्रियोऽमयङ्करो मन्दीकृतमीतिमृद्विषु जगच्छर्मकर्म
 गानन्दयामा दिदेशकालकलननिरपेक्षः क्षपितातट्ट उदुब्धेमरुचाम्, सक्तकर्मफलोपलम्भः
 नन्दारवतोऽपञ्जातम् दोनतजिघ्रिषिनिहमिलसिओप्यशमनशीतबुभगसुरभिसमीर पुञ्ज-
 दक्षडोषपसारशिशिरो रुक्मिणुलहरोनिर्मलः क्रीलितमाग्योत्कीलकः विपन्नवन्धुः
 नलतापोपेतापन्नपालनप्रथितप्रवीणः प्रायशो विध्वजनवाह्मनसाऽनुमोदितो महीमहितो
 भव्य निरुषेकमद्यमधमोऽशेषजनविन्तामणिनिःसामान्यो वदन्त्यमान्यो बाद-
 न्योऽस्ताकं प्राक्तन आदशः परस्परं कलानपेक्षः स्वभावः। सर्वोऽयं सर्वस्मै
 पञ्चाय न सम्प्रदायाय अपि तु लोकाय। 'बसुधैव कुटुम्बकम्', 'यो नै भूमा
 कम्'। स चायं परस्परमभेदभावेऽद्वैते सद्ब्रह्मणे च प्रतिष्ठितः। सम्पत्तेरप्यपमेवायः।
 ह् पदम्—प्राप्तिः (पद गतौ, या प्राप्तिः समेभ्यः सम्यग् रूपेण जायते सैव)
 ति, या च विशिष्टरूपेण (केवलं विशिष्टेभ्यः प्राप्तिः) ता विपत्तिः। यत्रैको
 दति नवनवतिथ नराणां शास्ते विपीदति सा विपत्तिः पुत्रादस्य फलम्।
 अस्माकानुष्ठानम् ह्यद्वेन युक्तेन मनसा कार्यम्। अद्याभिलाषः क्षान्तेः परं संयोजनं
 यमस्य, भूमिका धर्मस्य वर्णनं व्यभिचारस्य दृश्यते, एवं कृते न सफलता। सद्भावेन
 यमे सफलता स्वयमुपतिष्ठते पश्यन्ती इवाक्षयि। अनुष्ठानम् समन्वयेन। समन्वयो
 ज्ञानाच्च न सङ्घर्षः। इक्षानां दीर्घता दीर्घाणाम् ह्यसता समन्वयकरी, बन्धीदैः
 तिथिः। एव नासाध्यो न खानापातेन साध्यः, परं प्रयत्नसाध्योऽस्माभिरनुष्ठेय
 समस्मिन् राष्ट्रे भूमण्डले जीवनस्य च समता अनुशासनेन सह व्यवतिष्ठेत।
 रादस्य भावना, आवश्यकतानुसारि वितरणसाध्याकमुद्देश्यम्। उत्पादनस्य
 फलमावश्यकतापूर्तिः। द्वितीयम् वासनातृप्तिरर्थव्ययम्। इदानीं बहूनि वस्तूनि
 वासनातृप्त्यै घनावनाय च निर्मायन्ते यत्र राष्टस्य धर्मो ध्येयः।
 सुतो विविमयलभ्यं धनं परस्परान्ति दौर्बल्ये च प्रतिष्ठितम्। दुर्जनैः समाजस्य सार्व
 शलोकाशिक्षणमलोमे सानावश्यकवस्तूनि निर्माय समाजस्य सचिदमव्ययं

दद्यात्तु सप्तमेभ्योऽपहरति, पामयं तु वराकनक्षितान्, अभद्रमायान्, मनमन्
विपयान्, सिमान् सन्नानवसादयति । अत एव प्राहुतैः स 'बावू', 'लाला' आदि-
सम्बोध्यते ।

(२) व्यसनोपशोकी—परेषां व्यसनेन कष्टेन विरक्त्या यो लामान्वितो भवति स
यथा बाङ्गोलो वैद्यश्च । ज्ञानं हि परेषां चर्मणे । यो ज्ञानं विक्रीषणो लोकस्य विरक्त
लामान्वितो शुभूयति स किं ज्ञानोपासकः ? “ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुपान्निमुनसते”
स तु व्यापारी भगवत आशिष आद्यासानो मच्छ इव “न स मच्छः स वै वमिह” । यः एव
मारोप्यमाणात् पण्यद्वयं मुनूयैव शतं विपृच्छति विचार्यतां स कीदृशः ? ‘यो नर्त-
कामादपि हर्तुं कामः’ ।

नाथायं नापि कामार्थमय भूतदयां प्रति ।

वृत्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमसिबर्षते ॥ चरकः ।

एतादृशास्तु राष्ट्रस्य गौरवम् । परमद्य कियन्तस्तदृशाः । अद्यत्वे चिकित्सा प्रपन्न
कारणं हि, तस्य धनं दिदृक्षन्ते, स जीवतु म्रियतां वा ।

(३) शुल्कोपशोकी—गृहशुल्केन शकटशुल्केन जनबाहनशुल्केन जीवति, यस्तं
सदृशं वा मानवानां वियतवेतनेन नियोज्य यन्त्रादीनां परिचालनेन कार्यमुपावर्षति सः ।

(४) घटकाः—केवलं वार्तावित्तं समवोपमोक्षा समवार्थहरश्च ।

(५) समानशीलस्य धनिनः पोष्यपुत्रोऽपहृतहिरण्यस्य परिहृको सगुडी च ।

अथ वयं सर्वाभ्युदयाय कृतसङ्कल्पाः समवेताः । सर्वेषां सर्वस्मै सर्वस्मात् सर्व-
सर्वस्मै अभि उदयः—सर्वाभ्युदयः । सर्वेषामेकाग्रिन्युदये न सन्नुल्लं सम्भाष्यते
समन्तादुदयोऽस्माकमभीष्टः । स चापिदैविकोनामाधिभौतिकीनावाप्यात्मिकीराह

पुत्रादस्य नवीना रचनास्तत्स्थाने समागताः, शुल्कशाला, सज्जदवासा मध्यशाला, पशु-
पालनम्, महाविद्यालयदम्प्राणासथ केवलं धनेन विनिमेयानि जातानि, यदाऽतिथीनां
वेवा, समाजस्य व्यवस्था, यथा संरक्षणम्, लोकहितसाधकानां साधूनां सपर्या च विदुषा
वदा वत्सुख्ये आश्रमाः सत्राणि योद्यालया रचापितानि । परं तान्यपि हृष्टितुक्कामः
परिग्रही क्वचित्पुण्यं दातुं प्रतिज्ञाय प्रविश्य भ्रंशयति । दुष्टशक्तिभक्तः शिष्टवेदामाभ्युदयैव
दुष्टां कृतं' शक्तः । अनायासं जिहोषुषा चन्द्रबिन्दुपलापमासिना निर्यं गवत्प्रा-
प्तमिना प्रदर्शनयता च भविष्यमेव ।

आमभ्याहं नदीवासः समाजे देवतार्चनम् ।

सततं शुचिवेश्मन्त्येतद्भस्मस्य जीवितम् ॥ नीलकण्ठः ।

अथ च प्राप्ताधिकारो हि स्वार्थपरो ज्ञानविज्ञानयोर्धर्मस्य संस्कृतेधोपयोगं स्वस्य,
केवलं स्वस्य लाभाय करोति । पापो हि स्पृशेनापि पातयति । पुत्रवादस्यातिशय-
धर्मोपायमासागतायां दोषाणां फलमस्माभिर्भुज्यते, पूर्वजन्मनः कर्मणां कलमिव, भोक्ष्यते
चलिते, परं भविष्यजीवनायावधानताऽऽपेक्षा, यतस्तस्य सम्पर्कः कापि न तिष्ठेत् ।

इदं मधुमुखं पिपं हरति जीवितं तत्क्षणाद्

अप्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः ।

इदं दण्डगणावृतं विलमघो विधत्ते क्षणाद्

यदत्र मलिनोत्त्वणैर्द्रविणमजितं कर्मभिः ॥ जयदरः ।

अपुना यमं सर्वस्य न केवलं बहुजनस्यार्थसिद्धयेऽस्माकमायां पश्यति प्रतिप्रपन्नितुं
सर्वेदाः । असादकस्य सत्त्वस्थापनम्, अतिप्राम्पतः सत्त्वनिष्कारणमात्मनिष्ठम् ।
शत्रुमुखादपिपुः, क्षेत्रे वपुः स्वमिता, तदनन्तरं समाजस्य । पुत्रवादस्य प्रिया पुत्री
प्रियन्दिता, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता कापि न भवेत्, परं परितोषां भवेत् । येन मानस्य
पेदां नैतिक्त्वस्य स्नेहेत तदेवोपयेति मन्येत । मानवमूख्यं सदांश्रितानि सदात् ।
पश्य विनिनस्य सामान्यं साधनम् । वस्तुतस्तु मुक्तमता । सर्वत्र जीवितोपदेतिशदात्तां
गच्छते हनिच्छायां वस्तुतस्तु निवेद्य स्वस्य । मानवस्य धारीरबौद्धाचार्यानां
चतुराणां जीवनम्, तस्य च विदुषः स्यात् । यत्र न धनी न दरिद्रो न घोष्यो न शोच्यो न

सिद्धान्ततः सर्वाभ्युदयस्थान्तिमा स्थितिः शासनान्मोक्षः । नेयनराज्यक्षान्ति-
विश्वस्थलता, अपि तु सर्वेच्छया सानुसन्धानं परस्परौदये सनाथिता व्यवस्थाना-
स्वास्थापादनं चिकित्साविक्रमः, एवमनुशासनव्यवस्थापनं शासनस्य-विक्रमः । तस्मिन्
व्यवस्थिते न शासनस्यावश्यकता स्वरथाव चिकित्सकस्येव । वदन्ते पुराणवाक्ताः
शासनं स्वयमपेयात् । चिकित्सकश्च स एवाभिमतो वरीयान् यस्मिन्निचिकित्से
पुनः रोगाविर्भाव एव न स्यात् । ‘प्रयोगः शमयेद् व्याधिम्’, ‘शमयेद् यो न कोरयेत्’ ।
एवमेव शासनमपि सदेव वरं यदनन्तरं शासनपद्धतेरावश्यकता न स्यात् । नागरिक-
जीवने स विशेषः समागच्छेद् यदनन्तरेण शासनं शासनानुसारि कार्यं प्रचलेत् । पुत्रवादयते-
नातृद्विती लोकाः परस्परस्माद् विनेति न च परस्परस्मिन् विद्यसिति, तदा मयापबोदनात्
शासनस्यावश्यकता, तद्वयं चेन्मानवमानसेभ्यः पलायेत, परस्परं विधास्य चायेत तदा
शासनस्य कावश्यकता ?

सहयोगिता । दण्डहीनशासनस्य स्वच्छं व्यवस्थापनस्य प्राथमिकी प्रयोमशाखा-
ऽऽसीद् गृहस्थाश्रमः । व्यक्तेः सुखसौकर्यादीनामुत्सर्गः समूहजीवनस्याभ्यासी गृहस्था-
श्रमस्य विशेषः । अयं व्यक्तेः स्वार्थाहुतये यज्ञशाला समत्वोत्सर्गैः करमः ।
अस्मिन्नेव यथाशक्ति धर्मो यथाभ्ययमादानश्चासीत् । कचन कचनाधुनापि विलोक्यते-
ऽस्य ध्वंसावशेषः । परं वयमधुना राष्ट्रमेव कुटुम्ब निर्मात्र गृहस्थस्य गृहं विघ्नस्वातिथिशाला
‘कर्तुं’ व्यवसिताः । इतिहासावलोकनेन जानीमो यदियमतिथिशाला परममनो-
ऽऽसीत् । सर्वो गृहस्थो भोजनात्पूर्वमतिथिं प्रत्येक्षत । “भुञ्जते ते त्वघं पापा
ये पचन्त्यात्मकरणात्” । तस्य भोजनं परस्मै, जीवनं च परस्मै अभूत् । “श-
स्परार्यसर्वेहः परार्यैकान्तसम्भवः” । भागवते ११।७।२८ । परमपुनरतिथिशाला
पुत्रवादशवानलेन दग्धा, यत्र तत्र तस्या भक्षणवोऽभूत्वा सूक्ष्मेऽग्नेनेक्ष्यन्ते ।

गृहस्थाश्रमे कश्चन पुत्रवादप्रभावितो धूर्तः प्रतिद्वन्द्वितायां कन्धवनोऽप्रयती-
सकीयां श्रियमेव मग्नाण्डं मन्यमानस्तस्य पालनायाधिकृतोः विष्णुमानी समानः
विवूर्ण्य समाजव्यूहाच्चिह्नस्य एककी विषयतो जठरामत्रोऽपि विद्यामत्र इव विधमि
समानशीलो । अनिराजानावनुसृज्यभन्यानप्येवं ‘कर्तुं’ मल्लभम् । एवं कुटुम्बस्य गृह-
अतिथिशाला गोशाला पाठशाला गुरुकुलं यदा, पुत्रवादप्रभावेन भगवत्, अपि

कथा वृक्षकोटरे जीवनं यापयित्वापि लोकाय रत्नानि ददुः । विश्वविधृतो देशाकरणो
महामुनिः पाणिनिः, ककुप्कामिनीकर्णमूषणाममानकीर्तिविध्वस्वैकमाश्रं दार्शनिको व्यासः,
अतर्हितजगन्मृदितमत्तमाशोऽद्वैतविचारकः शङ्करश्च कर्मस्य साधयितुं पर्यधाम्यन् ।
राणः प्रतापः कस्मै सुखाय चासमपसन् ? महामनाः कस्मै लभाय विध्वंसिवाश्रयं
निमति ? महारमा कस्य प्रान्तस्य राजा भवितुं दण्डाघातान् सहते ? किं मोहन-
मोर्गं भोक्तुं पचाहारं कुर्वते यचाहरः ? सहस्रसौ घलित्रीरा द्रुतदमानः कस्मै लभाय
हसन्तः शूलमारोहन्ति ? एतन् प्रोज्ञतमानवस्य पुरषोत्तमस्य वसिष्ठस्य । न स्वार्थं
परित्यज्य व्यापकार्थाय मतते, अनुक्त एवातिर्ल लोभमानन्दयति च ।

किं चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्तया करोति गोभिः कुमुदाश्वबोधनम् ।

स्वभावे एवोत्तमचेतसां सतां परोपकारव्यसनं हि जीयितम् ॥

एषाऽस्माकं परम्परा । सेतायामानन्दमनुभवन् बालो व्यायामगुणैर्गुण्यत एव
निरभिलाषोऽपि । परमद्य स स्वभावो मानवेभ्योऽपगतः । अत एवैवधनताऽऽविद्या ।
एतं नदीप्रवाहवतिष्ठत् । नदी प्रतिक्षणं निम्नाभियुता । एवं धनमपि निम्नालमय-
सम्पत्तामनुभवतामभिमुखं भवेत् । "दृष्टिन् भर कीन्तेय । मा प्रदच्छेद्वरे धनम् ।"
पामपुना मनुष्यस्वभावे निवृत्तिरापादिता पुञ्जवादेन ।

मातृवन्निगुणः । (१) विवेकी, (२) भगवान् (३) भृगुर्वाच । एतदृशी
बोध्यता प्रज्ञया । एतौ गान्धारिमनुत्पादनेऽस्ति । विवेकेन स सद्वचस्य विचारयति, मानवे-
एतान् वशयति इत्यति रोदिति च । भाषया स्वामिश्रार्थं जनान् धारयित्वा स्वानं प्रचारयति,
मार्गं लिखित्वा इत्यादि स्वविचारं विध्वंस्यन् कल्पये च प्रचारयति । अष्टगुण्य तस्य
कलानी प्रत्यायकः । मानवाष्टगुणः सर्वो अष्टगुणोऽस्तीति । येन स विद्वन्नेष्टुं कर्तुं
समर्थः । शरीरेऽष्टगुणो मन्त्रो पयोर्विंशत्यस्य प्रतिनिधिः । विद्वन् नन्दद्वयान्ते
मन्त्रः प्रतिनिधेर्मानवस्यैव सत्यर्थम् । "एतन्मन्त्रोऽपि विद्वन्नेष्टुं प्रत्याय
कत्वात् प्रमुः कः" परमं मानवः पुञ्जवादेन प्रतीयमानः । परमिन्नेष्टुं पुरषो
दैवैव्यात् परिस्थितिप्रतिष्ठोऽभूत् । परमेश निवृत्तिरिदम्, अमनन्तरम् नेष्टुं ।

यथा कथनं यैः प्रतिदिनं प्रतिवेचिषी दृष्टव्यं यत्नं कथयन्तस्ते नैवैतानि मन्त्रं
पराजना प्रकिर्या शरदां यत्नं व्यतिदधति, अन्तर्निमग्नं च दशहोऽनुत्पत्तिं

प्रयत्नति च । एकदा प्रबुद्धेन प्रतिवेशिना ज्ञातम्, हन्त ! अयमस्माकं श्रमाजितां सम्पत्
चोरयन् स्वयमकृतश्रमोऽपि सानन्दं सामान्तजीवनं यापयति । वयघ्रानेन दण्डित
नरकजीवनं जीवितुम् । अनेन लभ्यसो मुदा अस्माकमकृताः शतरो जनाश्च विना मूल्यं
सूत्रशतामुपनीताः । दुष्टोऽयं कथमपि हृतं धनं प्रत्यावर्तयितुमशक्नो हन्तव्य एव । एष
आततायी । आततायिनमाभ्यान्तं हन्यादेवाविचारयति मनुः । एतदेव रक्तक्रान्तेर्गुल्मम् ।
अतः समशालानां धनिनामस्माकस्यैव परिणाम एकदाऽवश्यम्भावी । अतो जीवनं सुरक्षित-
मिच्छद्भिः समयापूर्वमेव जागरितव्यं परेषां जीवनाय यतितव्यम् ।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ भागवते ७।११।८ ।

वस्तुतः परस्परविरोधस्य हेतुरेवायम् । वत्केचन भौतिहीमुत्पत्तिं स्वमुखसाधिकां
मत्वा प्रतिवेशिनो हिताहितमविचारयन्तः ॥ ७ ॥ षष्ठे आक्रोशे सन्नदाः सम्पत्सङ्ग्रहे मग्नाः ।
वस्तुतो य ईधरो विधमिदं निर्मायैनद्विषात् स समप्रसम्पदा सहैव । अतः सा सम्पदी-
भारस्यैव । यथा वायोः सूर्यस्याकाशस्य जलस्य भूमेधोपयोगोपभोगे वयं साधिका-
स्तथैव तज्जानामग्न्यासामपि सम्पदां समुपयोगे वयं सर्वे समानत्वेनाधिकृताः । परं पुञ्जवादे-
नैतद्वैषम्यमुद्भाति । तस्मिन्नाकरणमस्माकमुद्देशम् । नात्र कथनं परोपजीवीत्यादिपु
परस्परपरोपजीवी । सर्वोऽत्र परस्य सौकर्याय प्रथमं चेष्टत जीवेच्च । परिश्रमो यत्र प्रयत्नं भवेत् ।

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेध योऽस्तिवष्टकामधुक् ॥

‘सन् स्वास्थ्यम्, आवश्यकं धनम्, ऐकमत्यं भ्रातृषु, सख्यं सुपुत्रैः सम्पत्तं सुपुत्रं सुदृष्टं,
सुशीलः शिशुः, नीरोगिता, शीलरूपसम्पन्ना रमणी, अनपमानं जीवनम्, सद्बिचारः,
तदनुसारिकर्मप्रभावश्च क्षेत्रे सदृशं सदाजीविता च सुकर्मणि ध्ययः—इत्येव केवलं न सर्वा-

भौतिही समुत्पत्तिः । अस्माकं सर्वाभ्युदयस्य नैतादृशी मुदाऽऽधारशिला ।

विषिषवावा अज्ञीकृत्यापि मानवः शाश्वतमुखाभिलाषः ।

सुखसदात्मसम्बन्धि सुखम् । नर्त्यसम्बन्धि । हन्त ! वयमपि केवलं परिवारस्य भाग-
योगो एव स्वं कृतकृत्यं मन्यामहे ।

योगस्थः कुम्भकर्माणि सहगं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

भोतः कर्मसु कौशलम् । खोचने सिद्धान्तानामनुष्ठानं कदा सैव योगः । धर्मोऽनु-
ष्ठीयतेऽतोऽप्रतिष्ठितः । अहम् च प्रतिष्ठितम् । अत एव धर्महीनो तान् अनुष्ठीयन्ति
नितो विभ्रमजोषी च गदितं खोचन्ति सत्कृतः । एतं पुत्रादयः परम्परा ।
रमन्मभिः धर्मः प्रतिष्ठाप्यः । कर्मैव विभ्रमेऽधिष्ठितो भवेन्नाहम् । धर्मस्य विध्यो
यं विनष्टपतिः सदा धर्मो धमनिष्ठो भविष्यति । खेच्छया धाम्यतो मनोविनोदः । परमै
यमहेन परवायेन च धाम्यतोऽवज्ञता इन्द्र इव । धर्मा पूर्वैरिन्मन्त्रनन्दं परमिष्य
गोठैर्मनुभवति । इदं वाञ्छामो वच्छूमः सम्पत्तिर्भवेत् । सर्वे च तस्या अमिताभुः ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म जयायो ह्यहमणः ।

शरीरयात्राणि च ते न प्रसिद्ध्येद्दुर्कर्मणः ॥ गीता ।

सर्वाभ्युदयसमाश्रय सर्वप्रेम्मात्मेन व्यवस्थितः । बहुमनस्य शासने निरुक्तः सदीय-
स्य स्यादित्वगन्नादने धर्मो न लोच्यमानं साधयितुं समर्थः । न नराणां
धर्मे विरोधप्रतिरोधे समस्तसमर्थो लोच्यमानमनस्य एव सत्कृतः । शास्त्र-
सुचयने प्रति, परापोवतायाः साधनतां प्रति सत्कृतसिद्धयेन समस्तसमर्थं धर्मः ।
निरम्बु समाजे कृता न च मिथुः । सर्वे सर्वमान्यस्यस्येत् सत्यं सर्वस्य परमसिद्धये ।
मं चोत्तरनित्येत् सर्वं कुर्वतः । निरमिक्तं नित्येत् निरमिक्तं धर्मः सुखे प्रमर्तः ।

कर्मजं मुट्टियुक्ता हि जलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्ममर्थाविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामदम् ॥

समुक्तः समवेन किञ्चनस्य धर्मो न वाक्यः । लोच्यमानं सत्कृतं
निरमिक्तं नित्ये सत्कृतं च सत्कृतं सर्वस्य परमसिद्धयेत् सत्कृतं सत्कृतं
निरमिक्तं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं
निरमिक्तं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं सत्कृतं

अतोऽस्माभिर्निष्कममावेनास्मिन् योक्तव्यम् । एवं कुर्वतां विघ्नमरमाकं सद्ध्येते
 “स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते” ।

मम मानसे भाववैधास्ति यन् प्रत्येको ग्रामो नागरिककृत्रिमताविरहित एककुटुम्ब
 बद्धव्यवस्थितः सरस्वतीविहारभूमिनिर्मलेन शानालोकेन स्वाभाविकेन सौन्दर्येण विकसित
 पुष्पोपवनसमृद्धो धान्यपूर्णकुसुलो गोदुग्धचारामिरामिषिको नवनीतनवीनामन
 विद्युत्प्रभविद्वद्बालः स्वर्गंतुष्यो दीप्येत । सुखप्रसिद्धा नद्यः सर्वतः प्रसृता गात्र
 पयाश्च देशं पोषयेयुः । उदम्मांसि सरांसि हंसकलरवैमनो मोदयेयुः । प्रत्येकं पृथ
 सुन्दरं वीणाविराजेण बालानां काकन्या च सुखरितं भवेत् । नाकालमृत्युः स्यात्
 पितरि स्थिते नात्मजनियन् न च विषयवैकल्यं क्वपि भवेत् । सर्वैः स्वस्वधर्मे कर्मणि
 च स्थितः परस्परं सह युज्येत । वस्तुतो यतोऽभ्युदयो विधेयसिद्धिश्च स धर्मः ।
 दुर्मिश्रस्य कथं न भूयेत् । न विप्रहो न चौर्यं न व्यभिचारो न च लोकव्यवस्था-
 पक्षायां सैनिकानामावश्यकता भवेत् । जनानां सुपुष्टं मस्तिस्कं नवाविस्काराय सज्जं
 तिष्ठेत् । समाजस्य सेवा, धारणा, वृद्धिः, समृद्धिः सर्वाभ्युदये व्यवस्थिता स्यात् ।
 युद्धिबलाः शरीरबलाश्चात्र समानाः, सर्वशोयोगशीलताया वृद्धिः, सन्तुष्टता च देशे
 न तु व्यक्तौ । सामाजिकवियमतानां शोषणस्य च विनाशः । उत्पादनस्योपयोगस्य ।

ग्रामाणामवस्थाम् पञ्चसहस्रजनसङ्ख्यातो नाधिकं भवेत्, यत्र सर्वे परस्परं जानीयुः ।
 ग्रामीणाः स्वावश्यकतानुसारि सर्वे स्वयमुत्पादयेयुः । ऋणस्यावश्यकतैव न भवेत्
 स्वस्या मा । एषु ग्रामेषु एकाऽत्रविपचिरेका दासोविपचिरेका घोषयुग्ममानवस्तु-
 विपणिः, बालानां प्रौढानां महिलाणाञ्च कृते निःशुल्का नवीनसाधनसम्पत्ता पाठशाला
 आरोग्यशाला, उपयोगिपुस्तकान्वित आकाशवाणियुक्तो वाचनालयः, विविधविषय-
 प्रदर्शकपट्टं मनोरञ्जनव्यायामादिव्यवस्थं जनोद्यानञ्च सर्वाभ्युदयेन सन्वास्त्रिं तिष्ठेत् ।
 न कश्चनानश्वरस्तिष्ठेत् । ऋण आरोग्यशालाग्रामेव चिकित्सितो भवेत् । आरोग्याप्यश-
 कर्मिन्धन्युत्तेऽनाप्तदशमीके तस्य विवरणाय प्रष्टव्योऽश्मोत्तरो दण्डभाक्, चौर्यं वारकः ।
 परं पतनविरमेष्वसारेषु शीविकारेष्ववबुद्धेषु सर्वाभ्युदये च व्यवस्थिते न चौर्यं सम्भाष्यते ।
 व्यवस्थायै न परेषामावश्यकता, ग्राम्याः स्वयं व्यवस्थापयेयुः । ग्रामाद् बहिर्गन्तव्यानां
 वस्थितिर्भवेत् । यत्राहोरात्रस्य तृतीयांशे कार्यं भवेत्सर्वत्रापि यावत्, ततश्चतुर्थांशे ।

शिक्षालयेष्वध्यापनं सायं प्रातर्दिग्गवेच्छित्यशिक्षणम् । अध्ययनायाध्यापनाय शिल्प-
शिक्षणाय मनोरञ्जनशारीरक्रियायै चाहोरात्रपञ्चमांशः । शयनकालाहोरात्रस्य तृतीयांश
आद्यायां शेषासु च चतुर्थांशः । प्रवेशसमये मूक्यवृत्तिविभागे मार्गं छात्र आवास्यः ।
तदनुमोदनानुसारं विभागे प्रवेशो भवेत् । कक्षास्तिस्रः । आद्यायां वर्षपट्टम् । मध्यमायाश्च
वर्षत्रयम् । उत्तमायां वर्षद्वयम् । विभागीयाचार्यपरीक्षां प्रतिविश्रुर्वर्षमेकमधीत्य योग्यता-
परीक्षां प्रविष्टः प्रतिशतं प्रातःपठ्यधिकशब्दः प्रवेष्टुमधिकृतः । सत्यां वर्षचतुष्टयम् । प्रति-
ग्राममाचक्षुषायाः पाठशालाः । जनपदे च मध्यमाया जनपदच्छात्राकासश्च । अस्याद्धौ
अथो जनपदसर्वाभ्युदयसमाजेन देवोऽर्ह्येष्टाभिमावकेन । भागीयजनपदपुस्तकालयध्यापनं
भवेत् । छात्रावासश्च पूर्ववत् । एतेऽधीयानाः शासनवर्षां कुर्युः । केन्द्रनगरे च
विभागीयाचार्यपरीक्षायै महाविद्यालयदद्याद्भावासाश्च । छात्रावासव्ययश्च केन्द्रेण सौदभ्यः ।
अध्यापकेभ्यः सपरिचयः आवासः सर्वाभ्युदयसमाजेन देवो वेतनम् ।

भारतस्य चत्वारो भागाः स्युः । पूर्वनगरम्, दक्षिणनगरम्, पश्चिमनगरम्, उत्तर-
नगरमिति भागीयनगराणि । केन्द्रश्च केवलं शासनपरः प्रदेशरहितस्तिष्ठेत् ।

केन्द्रनगरे प्रजाया वसतिरे स्यात् । अधिकारिणां गृहाणि, सर्वोच्चविद्यालयः, सर्वोच्च-
चिह्नस्तालयः, विभागानां कार्यालयाः, पुरातत्त्वविभागोऽनुसन्धानविभागः, रामदूतावासाः,
सेनासन्निवेशः, अतिथिनिवासः समाजेन व्यवस्थापिता विरणयो भोजनालयश्च स्युः । पण-
विण्डित्वयाः पुमान् स्त्री च मन्तव्यं प्रकाशयितुं निर्वाच्यतां प्राप्नुं च शक्नुयात् । समस्मिन्
राष्ट्रे एका लिपिः संस्कृता च भाषा स्यात् । एषु भागेष्वेकलक्षनिर्वाचकजनः प्रदेशो
जनपदशब्देन बोद्धव्यः । प्रतिजनपदं सर्वाभ्युदयसमाजस्य सन्प्रयत्नं ग्रामसर्वाभ्युदय-
सम्प्रयत्नापेक्षं भवेत् । उत्तमहस्तनिर्वाचक ग्रामगणेशं मित्रं स्युः । स च क्षत्रे
पञ्चगान् स्वेच्छया मित्रं यात् । गणेशसत्तैर्जनपदसमाजं प्रकल्प्य तन्मध्यत एवैह
जनपदगणेशं मन्त्रिणश्च निहृदय कार्यं प्रचालयेत् । सर्वत्र तृतीयभागस्य निर्देशनं बाधितं
भवेत् । अधिकारिणाम् योग्यतासपेक्षम् । गणेशे वैषा योग्यता शासकैः प्रतिपादितेति
कारणविशेषोपेत एव प्रथमनिर्वाच्यः ।

सुमुराः - सर्वदा प्रसन्नमुखः ।

एरुदन्तः - स्थिते निःसृतैकदन्तो मन्दस्मितः । केनपि वृत्तेन विरिमतो मन्मथः ।

कपिलः = कपीनपि लाति — आदत्ते = गृह्णाति = अयं यो जयति सः = अयोम्यपुरः
नपि कार्यप्रवर्तनार्हान् कर्तुं निपुणः इति भावः । अथवा साङ्ख्याचार्यः कपिल इवान्वयः
सक्तः, कर्म कुर्वाणोऽपि निष्पिण्डः ।

गजकर्णः = सूक्ष्मतमधावी । तेन प्रदेशमवधर्मणां सौन्दर्येण धोता ।

लम्बोदरः = अत्रोदरशब्दो न पाकस्थल्यानबोदरगुहाया वाचकः, अपि तु मय्यमात्रस्य
प्रदेशशतं धृत्वाप्यशुब्धः । अविकारिभूतं केनाप्यविकृतं तिष्ठेद्वसरोपयोगाय ।

विकटः = कर्तव्ये निष्पश्यो दृष्टप्रती । न यत्र प्रेम्णो वैरस्य वा प्रभावस्तिष्ठेत् ।

विघ्ननाशः = प्रान्तहितव्यापातकानां तत्त्वानां नाशकः ।

विनायकः = सर्वाभ्युदये न कोऽपि नायकः सर्वेषां समावाधिकारत्वात्, व्यवहार-
प्रचलनाय नियमनाय च तस्यावश्यकतास्त्येव । अतोऽयं न नायको मन्त्रानायकः, अपि
तु विलक्षणो नायकः । अहम्भावे विगतनायकत्वाभिमानः कार्ये च विविष्टः इति वा ।

धूमकेतुः = आकाशे उत्थातविशेषद्योतके नक्षत्रम् । तन्न कस्यापि दुःखदानं परं
तस्य दर्शनाज्जना विभ्यति, भवन्ति चातङ्किताः । तद्वदेनं दृष्ट्वा सर्वे साशङ्काः सम्प्रान्ता
वा भवेयुर्यद्यप्यसौ न कस्यापि दुःखदः ।

गणाध्यक्षः = स्वगणानां कर्मणामधीक्षकः । येन कर्मकरेषु सौमित्रमुत्कोचं
पक्षपातो वा नोपेयात् ।

भालचन्द्रः = भालचन्द्र इव (आह्लादकः) यस्य सः = तेजस्विशान्तमुखमण्डलः ।

गजाननः = गम्भीरमुखमुदः । वस्तुधर्तं निवेद्य न कोऽपि निवेदको निवेदनस्य
भावं ज्ञातुं प्रमवेत् ।

अस्माकं राष्ट्रे सर्वत्रैतादृशा गणेशा आसन् । कार्यारम्भे निर्विघ्नं परिसमापनार्थं सत्कार
एतेषामावश्यक आसीत् । अत एदैव शिवस्य = कस्याणस्य पुत्रः = पत्नम् । परमपुत्रो
साम्राज्यवाद्गुणवादमधुना धीतविवेके जगति तादृशपुण्यरत्नानामुत्पत्तिरेव विद्यता । परं
गतालुगतिना मुग्धा गणेशं नाम्नैव पूजयन्ति सर्वेऽप्युक्ते तस्य रेखाभिः ।

निर्वचने प्रचारिण आशीर्वादनं निर्वचने निर्वाचने च नाधिष्ठिताः स्युः । प्रशः कानपि

स्वेच्छया सासुरोधं निर्वचयामस्मान् प्रतिनिधिः । तेषां बहुते कदाचित्के

राष्ट्रिके पत्रपत्रणना भवेन्नान्यथा । एवं परस्परं परिचिन्वन्तोऽप्यर्थं दास्यन्ति मतम्, वैमर्शं केतुं शक्यम्, न च लघुलिङ्गां मयादयोऽप्योभ्यो निर्वक्तुं शक्यते ।

जनपदसर्वाभ्युदयसमाजस्यैकवर्षानुभवः पञ्चाशस्तेनैव निरुक्तो भागीयसर्वाभ्युदय-
स्मादं प्रतिनिधित्वेन गच्छेत् । तन्मध्यतो भागपालस्य मन्त्रिणश्च निर्वचनं भवेत् ।
मन्त्री च भागपालेनामन्त्र्य राष्ट्रियवरिष्ठसमाजेन च विमृश्य विभिन्नपक्षेषु मन्त्रिणो
नियुज्येत । भागस्यैकसूत्रतापादनाय सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजकार्ये साहाय्याय च धत्तेत ।
ज्जातसेवनादिव्यवस्थां सुगमां साधयन्व्ययाच्च कुर्वीत ।

भागीयसर्वाभ्युदयसमाजस्य द्विवर्षानुभवो दशमोऽंशः सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजं
प्रत्यक्षं तन्मध्यतो वरिष्ठसमाजमेकत्रिंशज्जनानां प्रकल्पयेत् । तन्मध्यत एव भागीय-
समाजप्रदस्यात् सर्वथा बहुमतेन वरिष्ठसमाजस्यैकमत्येन च राज्ञो मन्त्रिणश्च निर्वचनं
भवेत् । मन्त्री च राज्ञोऽऽमन्त्र्य विभागीयमन्त्रिणो नियुज्येत । सर्वोच्चसर्वाभ्युदय-
समाजो वरिष्ठसमाजेन राष्ट्रस्य सर्वकारसम्पादने साधिकारसिद्धेत् ।

निम्नतमकर्मचारिणो वेतनात्साधे' वेतनं गणेशस्य, तस्मात्साधे' जनपदमन्त्रिणः,
तस्मात्साधे' जनपदगणेशस्य, तस्मात् साधे' भागीयमन्त्रिणः, तस्मात्साधे' भागपालस्य
सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजमन्त्रिणश्च, तस्मात्साधे' प्रधानमन्त्रिणः, तस्मात्साधे' च राज्ञः ।
एषः सपरिच्छद् आवासी राष्ट्रं देयो यानश्च । कर्मकरा आपत्रेर्वयसः समाजसेवां
कुर्वन्तोऽवकाशकाले मासद्वयं तावमासं वेतनं लभेयम् । निरन्तरं पञ्चवर्षं कृषकाः क्षेत्रस्य,
नियतं छत्रदां दसकं श्रुत्वेन गृहवाहिनी गृहस्य च स्वतः स्वामितः स्युः, एककालं
स्वतः स्वामितः श्रुत्कदातराद्यापि । यन्त्रेषु विपणियु निरन्तरं दशवर्षाणि कर्म कुर्वन्नाः स्वतो
भागमाजः स्युः । सर्वत्र कर्मकराणां भोजनच्छादनं जीवनस्तराध्यायितिसमः स्यात् ।

सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजानुसारिप्रणाल्या आचरन् भागीयसर्वाभ्युदयसमाजो मुद्राम्,
शिष्टाम्, सामरिकीम्, शासकव्यवस्थाम्, यातायातव्यवस्थामन्वाय सर्वभागसम्बन्धिनीं
व्यवस्थां विहाय सर्वकार्ये स्वतन्त्रः । स एव स्वक्षेत्रे योमान् कर्मकरानियुज्येत
अरुणदीप्त । करस्य पञ्चांशव राष्ट्रियसमाजाय दद्यात् । जगदवर्ता भवतां सदृयो-
गेन दशभिर्वर्षेऽतस्तत्त्वं शक्यते । “किं दुरागदं तेषां पुंसामुद्गमन्तेतसाम् ।” भागवते ।
एवम् कृतेऽस्माकं राष्ट्रमधुनापि सर्वस्यानुकरणीयमेव ।

नात्युच्चरितरो मेहर्नातिनीचं रसावलम् ।

व्यवसायद्वितीयानां नाप्यपारो महोदधिः ॥

■ नायमन्यो विचारः । यथा श्रीमद्भागवते नृणां त्रिशङ्कशून्यवति भगवान् व्यासः—

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।

तेष्व्यात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृप पाण्डव ! ॥७॥१११०

सर्वं नरः सम्प्रत्यो वादो वा हिन्वस्माकं पूर्वजानां प्रजासी, मानसमायः सः शभावः । ताराभ्युदयिता विचारेऽप्यनाग्रहत्वा भवितव्याम् । सम्प्रदो विचारो वादस्तु मरणहृते । यो हिंसाग्रथनत्वाऽपर्यः । विचारध्यापौरुषेयो बुद्धेर्लक्षणम् । विचारस्य ज्ञानस्य न कश्चन निर्माता, केवलमभिव्यञ्जक एव । अत एव ज्ञानमात्राय पौरुषेयत्वम् । कर्णशृङ्गारया धूयमाणत्वाच्च तत्रैव धृतिः ।

अस्मिन् कथं समानां प्रारम्भिकः सहयोग आधारादित्येव भविष्यति । आधारसिद्धिर्न कोऽपि पर्यवति, पश्यति केवलं गणकसिद्धिर्न सौधम् । परं हृष्यंरवापारो जनेनजीरसो विवेकिगम्यो बाल्मिकः । अनग्रकपूरया कर्म कर्तुं धेया बुद्धिर्द्विधापेयने । उपर्युक्तान्तेव पर्यवेगया भूमिमवगमहमावा बालाः अवेग सह बीजमपि विनाशयन्ति । 'धर्मं धामयन्तां धनम्' इत्येव वाम् । लोकाणां कट्टममलोचनया नास्माकं मीतिः । अगमानवेद्दि कलमानलमाह्वानां येषां प्रणयमुसन्नेरपदानमेव । गेहं विमुच्य महमा स्वलतां प्रयान्ति ये स्वलवपीडनप्रशास्त्र वयं तिलान्ते ॥

सतो वयं लोकेऽनित्या बुद्ध्या धैर्येण च युष्माकं विचारः सान्धो रतिव्यमहे । अन्मार्दकधने हि चोत्तुदये नाप्नोति मेहोऽन्नरम् । विनयसाराङ्गान् व्यसङ्गुच हर्तावितर्कम् । यथा यथा हर्ताः परितर्कते, पूर्वाभ्यासः सौम्यैर्न निवच सान्धोर्मुक्तिः । अतः प्रत्यक्षतया प्रवर्तितं मयःकर्तव्यं सतिवच मिष्टागजा इत्यन्तः प्रलोदनेन सङ्गुच कर्णपुञ्जं प्राप्तुं प्रजेयन्निवचमनुयां सङ्गुचं प्रतिक्रियेऽन्नरमुपार्थं अस्मिन्नेतां समनवतां महमाऽन्नया सङ्गुचैव सर्वेऽन्न प्रवृत्त्यहते वसिष्ठं पुनः सङ्गुच विचार्य प्रवृत्त्यहते । अतस्मात्क भूतं धैर्यं कट्टम् विनः । अतस्मात्क प्रवृत्तिः

इतिहासो विशदोज्ज्वल उदाहर्दकः । कर्तव्यास्तदा अनेके मानवा अविवलिता मृत्युं
पदपमालिङ्ग्य विधुसेखरस्याङ्गरागतामुपमताः । सर्वा भूमि दस्तोऽप्यनिचलिताः । तत्तम्—

कियती पथ्सहस्री कियती लक्ष्यापि कोटिरपि कियती ।

औदार्येन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती ॥

येषां नाम स्मरन्तो वयं धन्याः । येषां कीर्तिगीति गायन्तधारणा राष्ट्रं राष्ट्रम्,
नगरं नगरम्, ग्रामं ग्रामम्, वनं वनं सुखरयन्तः शान्दिकं कीर्तिस्तम्भमुत्तूयन्ति । येषां
महिम्ना वयं भूर्मानं साभिमानमुत्तैः कर्तुं शक्ताः । “अपि खदेहादिकमुतेन्द्रियायां
वशोपनानां हि यशो मरीयः” ॥ अस्माकमयं प्राचीनो विधिर्महार्हः परिग्रहः ।
हरिदमतौतं गौरवं पश्यद्भित्तस्याधुण्यमयांदायै यतितप्यम् ।

व्यसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !

यदुशास्त्रा ह्यनन्ताश्च मुद्रयोऽभ्ययसायिनाम् ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे मुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिररान्तस्य कुतः सुखम् ॥

एतत्त्वामान्यं रेखाचित्रं मम हस्तमाशस्यं भीमतां समशमुपास्थापि, परतश्च समये
घने समानाः तस्मिन् वेशयेनाधिकधिकमुपयोगिनो नियमान् विपर्ययन्ति । अमर्तूर्वैः
पुत्रादप्रपात्वा विप्रमुखां विचारितं भवेत्, परमममा कुलम्, दक्षिणम्, कृतम्, भय
बैरिः । आगच्छन्तु वयं प्रगतिविरोधिनामानन्दशत्रूणां व्यूहं विनश्यं विप्रं प्रकटयामः ।
एवमासीनः प्रत्यावः पश्यत धीवरणाः प्रमाथम् ।

उचिष्ठत ज्ञापय प्राप्य वरान् निबोधत ।

पुनश्च, अस्माकं राज्यमपर्यन्तं कुलक्रमायतमस्तौद्, निचदैवदं हि हि नि । अतोऽप्य
लोकेत्य न्यासं लोकाम प्रत्यर्प्य प्रसीदमितमम् । सम्मान्यते केचन मां श्रान्तं मन्देत्,
परमं भ्रमः सौख्यस्य तद्विराजन्दस्य निधिः ।

एतस्मिन् प्राचीनाचितेऽपि नोनवद् भासमाने भुवनमान्ने पथि विचरतां कदा
 स्तलनमपि चेद् विश्वसिमि यद् भगवानस्मान् स्वयं रक्षिष्यति । चलनमारभमाणः शिशुमार्तं
 पेक्षितोऽप्यन्वीक्षित एव सा सदा तं पतनाद् बाधयेव । चाग्रदृशायां रक्षायै सावधान
 यद्यप्यक्वित्तरं तन्, परं स्वप्ने यस्य शकौ विश्वसन्तो जीवानः सोऽस्मान् रक्षिष्यति ।
 विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगभायः ।
 क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्यघोरास्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्य
 जीर्णां तरिः सरिदियं च गमोरनीरा नक्राकुला बहति वायुरतिप्रचण्डः
 तार्याः स्त्रियश्च शिराचश्च तथैव वृद्धास्तत्कर्णधारमुजयोर्धलमाश्रयामः ॥

“सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करषावहे, तेजस्वि
 नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहे ।” ‘सङ्गच्छध्वम्, संबद्धध्वम्, सं वो
 मनांसि जानताम् ।’ ‘मा मा प्रापत् प्रतोचिका’

सुपारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुमिवांजिन इय ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जयिष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्यांसोऽरेणवः सुकृता अन्तरीक्षे ।

तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगोभीं रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥२॥

यत्-मनो मनुष्यान्नेनीयते-अत्यर्थमितस्ततो नयति । मनःप्रेरिता एव प्राणिनः
 प्रवर्तन्ते । मनुष्यशब्दः प्राणिमात्रोपलक्ष्यः । सुपारथिः-शोभनो यन्ता यथा अभीशुभिः-
 प्रपदैरश्वान्नेनीयते, रश्मिभिनयति निवच्छति च । एवं मनोऽपि मानवाद् प्रवर्तयति
 निवच्छति च । यच्च मनः हृत्प्रतिष्ठम्-हृदि प्रतिष्ठा यस्य सन् । यच्च मनः, अत्रिम्-
 जगद्वदितम्, बलशुक्लविशेष मनसः समानावस्था । यच्च अविष्टम्-अतिशयवद्वेगम्,
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पम्, शिवः-कल्याणपूर्णः सङ्कल्पो यस्य तादृशमस्तु ॥१॥

हे सवितः । देव ।-अगस्तः प्रसवाधिष्ठतः तेजोऽधिष्ठतश्च । ये ते पन्थाः-पन्थानो-
 मार्गाः अन्तरीक्षे सुकृताः साधुकृताः वर्तन्ते । कीदृशास्ते ? पूर्यांसः-पूरुषे कालेभ्यः भवः
 पूर्याः । अरेणवः-नास्ति रेणुर्वत्र-अर्वाकुलाः, तेभिः-तैः पथिभिः-मार्गैरमानव ।

भग एव भगवां अन्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।

मं एवा भग सर्वं इन्द्रोदयोनि म नो भग पुर एता भवेत् ॥३॥

प्रद्योतयते स्वमाय यन्ता सुतय योधि तनयं च त्रिन्य ।

विधं नद भद्रं यदयन्ति देवा वृहद्वेदेम विदधं सुषोराः ॥४॥

प्रायन्तु विधाय स्वयः प्रसीदतां व्यायन्तु भूतानि शिषं मिमो धिया ।

मनम भद्रं भजता इन्द्रोदये आश्रयतां नो मतिरप्यर्तुकी ॥

शिवमायु सर्वजगत् परदिननिरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखी भवन्तु लोकः ॥

पश्येम शरदः शतम्, जीयेम शरदः शतम् ।

मन्दाम शरदः शतम्, मोदाम शरदः शतम् ।

पुरय गच्छोदयमान् एता - वातय । अधिमूहि च अधि अग्नीष्टय मूहि एते मदीया इति ।

वयं अधिमूहि - उत्पद्यते प्रदमाष्टं द्वितं पश्यत तत् । किम्भूतैः पथिभिः । सुषोभिः -

पुत्रैः । सुषेन गम्यते वेतु ते तैः प्रभूतजानैः । व्याधिविशदितैः ॥३॥

हे देवाः - एवमयपानाः, भग एव भगवान्तु । भगः - ऐश्वर्यम् । "भगं धीकाम-

महात्म्यवीर्यवतः संदीप्तिषु" इत्यमरः । "ऐश्वर्यस्य समसस्य धर्मस्य यशसः धिया ।

इन्द्रोदयोदयोर्धैव पन्था भग इतीत्या ॥" तेन भगेन वयं भगवन्तः - समस्तीश्वर्यसम्पन्नाः

एताव । हे भग ! सर्वं इन्द्रोदये एव जगत्, तं प्रविष्टं एता - एतां जोहवीति=पुनः

पुनर्दत्तयेन च अद्वयति इन्द्रोदये । हे भग ! विश्वनिदितवीर्ये । स त्वमिह नः - अस्माकं

धर्मिण पुर एता - भगवायी गतः । मयेतरो भूत्वा सर्वैश्वर्याणि साधय ॥३॥

हे मद्यगराते ! त्वमस्य जगतो यन्ता - नियन्ता । त्वत्स्य - अस्मदुत्तरस्य साधु-

वचनस्य (धर्मिणि पृथी) त्वत्वं बोधि - बुध्यस्व । अस्मदुत्तरा स्मृतिर्भवता ज्ञायतामिति

मनः । तनयस्य त्रिन्व - अस्मदस्त्वानि प्रोणीहि, त्वत्प्रसाददेवा यद्गदम् - कल्याण-

मर्निष्ठ - पात्यन्ति तद् विधम्=धर्मम्, भद्रमस्माकमस्तु । किञ्च सुषोराः - कल्याणपुत्राः

जन्तो वयं विदधे - यज्ञे बृहत्=महर्षिजितम्, वदेम - दीयतां भुजयतामित्याद्यचारयेम ॥४॥

भयाम शरदः शतम्, शृण्वाम शरदः शतम् ।

प्रव्रवाम शरदःशतम्, अजिताः स्याम शरदः शतम् ॥ तैत्तिरीयभारतम्

तस्य सुखद्विभवतो निर्गच्छन्ती हितमितं च्योतन्ती मधुरन्दभरो शब्दनिर्मा
षटीसप्तकमविरलभावेन धावकान् यचनामृतेनाप्लाप्य ध्वरमत् । लब्धौ शुर्वर्धगम्
स्थिरतडिल्लेखाभास्वरां सरसां सुवर्णां लोकाद्वयध्वमस्करीमार्गदृष्टां नानापुराणनिगमा
सम्मतौ कविश्न्यतश्चाप्युपलब्धां विधूतान्तर्ध्वान्तां वाचमाकर्ष्य साधुवादस्य गगनव्या
हर्षधोषेण सह प्रस्तावानुमोदनपुरस्सरं स्वस्वराज्यमहमहमिकया सर्वाभ्युदयाय स्त्रीच
वचश्चमत्कारप्रभावितं प्रसन्नमानसं नरेन्द्रमण्डलम् ।

*

*

*

उद्धोषितो निर्वचनसमयः सम्प्राप्तः । एहेषु सद्वृद्धयः सङ्क्षोभूय शान्तये
शासनसामर्थ्यं समाजप्रचालनयोग्यताय विचार्य स्वप्रतिनिधीन् निश्चिच्छुः । प्रा
गणेशानां निर्वचनं समस्ते भारते शान्त्या प्रेम्णा सौहार्देन जातम् । निरु
ध्वापरदिने दर्भपाणयः प्राध्मुखाः प्रातर्देशस्य भूत्यै प्रतिब्रुविरे । तस्माज्जनपदसम
गत्वा समाजं व्यवस्थापयामासुः, तस्माच्च गता भागीयसमाजं ततश्च राष्ट्रियसमाजम्
एवं दिना व्ययं सर्वत्र निर्वचनमभूत् । राष्ट्रियसमाजश्च देशस्य सर्वो व्यवस्थां सग्यादयि
स्वमध्यत एकत्रिंशन्मानवानां वरिष्ठसभां निरुवाच । सबहुमानं सर्वैरादृहीतो गुणग
यान्निर्गोजितशशिधरो मन्त्रिस्त्वे, जातधाम्यं चन्द्रो महोपतिः पट्टाङ्गी कमला च
बहिर्धैका गजला गीतिर्द्वन्द्वधायेन सहाधूयत—

अम्यिका भवतु प्रसन्ना राक्षि चन्द्रे भूपती (स्थायी)

मारमिव यं बोक्ष्य बध्वा जालमागंकृतेक्षणाः

विस्मृतालङ्कारवस्त्रा मूर्च्छिताः पतिताः क्षितौ ॥१॥

यस्य थलवत्कर्म मर्मत्रोटिनो भृशदुःसहम् ।

ध्रुत्वा मूर्धं विज्ञाय दग्धाः शत्रुकामिन्यश्रितौ ॥२॥

यस्य धिपणा नीतिनिपुणा बोक्ष्य नोतिविचक्षणेः ।

तत्पजे गर्वो मनीषिभिराहितः स्वस्यां मती ॥३॥

रामचन्द्राज्यं प्रशासद् द्वेषणान् दमयन् दृढम् ।
श्रीनिवासं शं नमन् सम्पुष्पितं भवतान् क्षितौ ॥४॥

निश्वास एव नवमो गतश्चन्द्रमहीपतौ ।
तौहिने नलिनोपत्रे जगत्पत्रे विलासिनि ॥५॥

निर्यकपदान्यासे मञ्जुलङ्कारशोभिनि ।
निचिते श्रीनिवासेन पण्डितेन्द्राङ्गजनिञ्जुपा ॥६॥ सप्तमः ।

कमला तरुणबुधानां कान्त्या हरतां कदापि नो खेदः ।
किन्तु समाहितशास्त्रं मानसमधिवसतु हंसीव ॥७॥

न्यासि कचन कचन प्रोक्त्यं विदुषां स्या नु काठिन्यम् ।
नीरजमृदुला तन्वी, कुचयोः कठिनैव सम्भाति ॥८॥

किमिह कृतं प्रत्यम् सकटाक्षं भाषिणो मुधा बहवः ।
किन्तु समाजे विदुषां बिरलाः प्रतिमान्ति कर्तारः ॥९॥

श्वक्काङ्केन्दु (१६६१) मितेऽब्दे ज्येष्ठे शुक्ले रवौ दिवसे ।
एकादश्यामेव प्रारम्भि श्रीनिवासेन ॥१०॥

साताङ्गिपद्मयुगले सम्पत्ताशेषशास्त्रमकरन्दः ।
परमशङ्कात्रविनोदी प्रत्यवसितगुरुकुलप्लेशः ॥११॥

विद्वन्मण्डलकीर्तितकीर्तिः प्रेम्णा मुदे कवीशानाम् ।
प्रावणकृष्णवृत्तीयारविदिवसे ऽपूरयत्स इमम् ॥१२॥

रविदिनविदितारम्भो, रविदिनपूर्णे मनोहरन्यासः ।
सुखयेत्कवोश्चिरायासौ चन्द्रः पञ्चसप्ताहः ॥१३॥

यस्याभिजनो लाम्बी ह्यधिवसता राजदुर्गमक्लेशम् ।
चक्रेविशे वयसि स्थित्यै भूत्यै च कीर्त्यै वा ॥१०॥

विद्वद्दीक्ष्य उपास्य आस्यरचनै रस्यः प्रशस्यः समैः
सल्लोकव्यवहारशास्त्रविधिभिः सम्पूरिताभ्यन्तरः ।
रम्यश्चन्द्रमहीपतिः सुकृतिभिः सेव्यः सुखाकाङ्क्षिभि-
र्विन्यस्तः कमलानिवासकविना हृद्योऽनयद्यदिचरम् ॥११॥

चित्तो व्याकरणेषु काव्यनिपुणः पौराणिकेष्वग्रेणी-
गण्यो दर्शनवेदिनां व्यवहृतौ सम्प्राप्तसम्पादकः ।
आयुर्ज्योतिरधीतिनो मुकुशलो विज्ञानविज्ञो श्रुती
राष्ट्राचारविदां धरो धरमतिः स्मृत्यादिदं पुस्तकम् ॥१२॥

वेदेन्द्रध्विलोचनेऽ (२०१४) नुसमयं संस्कृत्य पौषेऽरुपराः
फाङ्क्ष्यश्चन्द्रमहीपतिर्मतिमतां मोदाय मुद्रापितः ।
यस्या निर्भरसेवया बहुविधे व्यस्तेन कार्यक्रमे
स्तौम्यम्यां च पतञ्जलेस्तनुमती सेवां क्षमां पार्वतीम् ॥१३॥

—:०:—

श्री गुरुभ्यो नमः । दत्ता मुनिरुवाच
दीक्षितः

पार्वतीविवृताबुद्धतेतराणामप्रसिद्धानां शब्दानां कोषः

पुष्पाङ्किताः शब्दा नवनिर्मिताः

वहः = बूढ़ा

रधिमः = पूर्वः

नुपेया = अनुपानम्

गुण्डन = घूँघट

ठकेलि = अठखेली

रघुगन = पाउडर

हंसन्ती = दिवाली की सिंगड़ी

स्तारकिङ्किणी = झालरी की घण्टी

गोमञ्जूया = तिजोरी

उक = सेर से अधिक

हार = भोजन

भियोगः = सुकरने की सुनवाई के बिना

रः = परिणाम

काः = बने छाने

ल = प्रसवकष्ट

स = कम्पार्टमेन्ट

युष्मन्तिरणिः = अगनबोट

= बाग

= अष्टमे एक दिन में जाने योग्य मार्ग

न = अवकन

प्रसवव्यथा

खी

= साफ

= उठावली

उपवर्द्ध = मसंड

सदन्यन् = पिपायुः

उत्कोच = रिश्वत

उष्णीषिका = टोपी, एगड़ी

एषमः = इस वर्ष (ऐसके)

और्ण = ऊनी

क

कणेहत्य = आतृप्ति

*कन्तुककोश = जेबका धन

*करकर्पट

*करबासः

} रुमाल

कनिका = घोड़े के मुँह का कस

करटी = गजः

कशेरुका = वृष्टास्थि

करोटिः = शिरोस्थि

कारण्डकः = पक्षिमेदः

कान्दविकः = कन्दोई, मिठाईवाले

कासरः = मदिरा

कासारः = दुःखः

कीकसम् = अस्थि

कुणिन्दः = वन्यवृष्टिः

*कुचमादी = कुचार्वा स्तन्य पीत्य मापति

सः = बाटः

कुणिः = वक्रद्वारः

कृष्णपत्र = रिजवाब

केकरः = विहृतनेत्रः (ऐंवा)

*केशनिर्मोहमोचो—बालकी खाल खींचने
वाला

कीट्येरुः = झा

क्षीरस्वन = दूध पीने की इच्छा से

ग

गुल्फालहरगम् = पात्रेव

गोहृणा = गोहृिया

गंगाधररत्नः = अतिशारतोमकीवधः ।

घ

*घटविप्र = तिनेमा

*घरदः = प्याला

ज

*जम्बीरवृषिदा = केमनचूग

जोवतुः = जोवतीकथम् ।

जोवामुहः = चन्द्रः

*जयोतिशालाका = रंगशालाई

झ

*झालमयः = झिगमय मयमय

न

निशान्तम् = गृहम्

*निवेशकः = तम्बू गाड़ने वाले

निशयः = चाण्डाल

निर्वन्धः = आग्रह

नीविः = अरुदी

नीशार = रजार्ई = सोह

नेमाकान्त = भाषे दपाये हुए

नैकटिहः = भिन्नुः

प

पराति = गतवर्ष

पयो = छिगडली, छोटा गाँर, बानी ।

*पशुकोटर = पोकैट

*परिवरण = थौलटा, मेम

*परिहरण = पारिम

पत्रादया = ललाटाभरण = मागट्टीका

*पट्टाकारः = पट्टामो

पत्ररथ = पत्नी

*पवित्राकम = वेगेशादेव का जिजा

*परबोती = } दूधगो पर जाने वाले

प्रव्रज - बवंडर (साइकिल)

श्रावण - शोधनेका वस्त्र

*श्रावतिष्ठः - परमाती वय

शायः - जालम्

शान्तिमिताः - भोजनकाले एव श्रुताः

शारितथ्या - सोमन्तव्यखर्गपट्टिका (खाका)

शारिद्वार्यः - (कृत्र)

शिक्षित - शिक्षणये

शिवुमन्द - निम्ब

शेष - सूर्य

शोन्मन् - पौछता हुआ

*श्रीप्रतिष्ठान - शिरी काशीरेष्ठान

फ

*फुलमरी - फूलमरी

ब

बालमित्रः - बालवत् सूर्यः

भ

*भूमिदर - जमीन्दार

म

महात्मा - मोटा

महाभूते - बड़े एवढे ब

मर्षसाधन - छोटेछट

मरुती - हन्त की

मा - मुदा (बगवान)

र

राज्य - राजपुत्र

रिक्त - रार्

रम्य - सुन्दर

श

श्री - सर्वज्ञ (शम्मी)

श्रुत्यती - श्रुतिधनार्थ श्रुत्य गी ।

श्वरानु - शायी

श्वर - बड़े

श्वराः - बड़े

शितान - सम्म, अगमना

शायुषनि - होंसल

शायित - शिशिरवद

शिरकृजंघुः - शत्रुनिर्घोरः

*शुन्दवत् - दैव

*शिराद्विषय - शायरी देवा

शोभम् - निमलम्

उ

उत्तन्तिष्ठा - हारः

*उत्तिष्ठा - उत्तीर्ण (उत्तिष्ठावर्ति)

उन्मादः - बर्दः

*उन्मादः - राक्षसार्णः

ह

*हृष्टोऽपवशीरी - मदरा

हृष्टोऽपवशीरी - हृष्टो का शाय

हृष्टोऽपवशीरी - हृष्टोभूतः, शीर

हृष्टोऽपवशीरी - शर्म (१०० वर्ष) ।

*हृष्टोऽपवशीरी - हृष्टः ।

स

सम्पत्तमदीक - सम्पत्तमदीक से बड़ा

सम्पत्तमदीक - सम्पत्तमदीक के बड़ा

सम्पत्तमदीक - सम्पत्तमदीक के बड़े

*सम्पत्तमदीक - (सम्पत्त)

सम्पत्तमदीक - सम्पत्तमदीक

सम्पत्तमदीक - सम्पत्तमदीक के बड़े

शुद्धिपत्रम्

उपर नीचे की मात्राएँ, रेफ टूट गये, म म, व व, अनुस्वार म्, आश्चर्यबोधक, सम्बोधन, प्रदनबोधक, चिह्नों का विपर्यय, भो, ई की मात्राएँ ठीक न लगीं, ये अशुद्धियाँ पाठक स्वयं शुद्ध करें । विशेष अशुद्धियों की शुद्धि दी जाती है ।—प्रकाशकः

पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
१७ ४ आधारो	आधारी	७२ १३ प्रत्येत	प्रत्यैयत
१८ २१ हासप्रियः	उपहासप्रियः	७३ २४ वार्द्धक्यं	वार्द्धकं
२१ ५ वार्द्धक्यभावा	वार्द्धका	७४ २३ प्रत्यैद्	प्रत्यैयत
२३ २ तदनु	तमनु	७५ २० मुद्विजीत्	मुद्वेजयत्
२५ २४ प्रार्थयामि	प्रार्थये	७५ २६ वाक्षिणी	नाक्षमि
२९ ११ एव	स्नात्वा	७५ १४ लिहन्	लिहानः
३१ १५ क्षमान	क्षमानम्	७९ २३ मपानैवान्	मपानैगुः
३२ १३ व्यत्या	व्यतिया	८३ २ प्रत्येत	प्रत्यैयत
३४ ५ चञ्चते	चञ्चते	९६ २२ एहीदवीं	एहीतदवीं
३४ ६ "	"	११२ २२ द्वावेव च महोरकी = महोर्कं	प्रत्यैयत
३७ १४ स्वीय	स्वकीय	१०७ २१ रुद्रिष्यतिरुद्रर्तुं शक्यते	
४२ २२ श्रातश्रात	श्रायध्वम् श्रायध्वम्	१२४ १७ सरोजिनी नितरा मनोरमा	नितरा
५० ६ माने	जाने	१२६ १९ समारूढकामिनां समारूढ-	कामिनीनां
५० ६ दस्याः मुख	विदग्धमुख	१२८ १ हातः	हीनः
५२ २० दूरयन्तीं	दक्षयन्ती	१३३ १७ प्रहृतिक्षो	प्रहृतिक्षः
५४ ११ विचारमामः	विचास्यामः	१३९ १९ मपेतः	मुपेतः
६३ १ एकासिन्तु	पलायितु	१४० १९ वृतामोम	वृतामोम
६५ १२ वेत्त	वेत्तु	१४० १८ इयन्तं महान्तंम इयन्महद	
६७	परं ह्यो		
	सदमानाः		
	सिन्धु काये		

पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
१६१ २ हसितात्	हसिते	२०३ २ द्रुहोय	द्रुहोय
१६४ २ मुक्तसार	मुक्तसारशङ्कितैः	२०८ २२ जगदशनि	जगतोऽशनि
१६५ १५ चक्रमदन्तः	चक्रमदन्तः	२२४ १९ निबन्धो	निबन्धो ।
१६६ ८ प्रोढ	प्रोढो	२२६ ९ विस्फार्य	विस्फार्य स्व
१७२ ४ क्षाराः स	क्षाराःसर्वे	" २१ कौशल्येन	कौशलेन
१७२ १९ हितायास	हितायास	२२८ ३ अलितापक्ष	अलितापक्षै
१७८ ९ सदसोद्गीय	सदसोद्गीय		

गीतिपरिचयः

- ४४
३६ कुम्भला दधतिच्छर्वि मातरिधविचालिताः ।
२८९ अभिक्ता भवतु प्रसक्ता राज्ञि बन्धे भूपती ।
१७३ हा ! गतः काष्ठौ प्रियो मे कृष्णशैः शोभितः
एतास्तिष्ठो गजलभदवाध्याः ।
१७२ निरी हे आलि मायः कास्ते मे (स्थायी)
शुद्ध थाट, ताल कहरवा ।
ध स स रे गग०० गमम० गग रेगस०

सुतासम्—(अन्तरा)

ध स स ध स सा सरि सरि ग० सरिग गमम ग० रे ग स०

प्रियवर ! पातं नेत्रयोः ।

राजस्थानी माद

शीघ्रमेव प्रकाश्यते

चन्द्रमहीपतेरुत्तरखण्डरूपोऽपि स्वतन्त्रः, सूर्यप्रभायात्रावृत्तान्तात्मके
द्वितीयो भागः । यस्मिन् भारतस्य विशिष्टनगराणामाधुनिकः समुदा-
चारो जीवितभाषया पठिष्यते । विषयोऽयं संस्कृतज्ञानां कृते सर्वथा
नवीनः परमं व्यवहारवर्द्धकः साविशयमानन्ददश्च ।

अभिलाषुक्ताः अग्रिमधनं विनैव केवलं नयकार्पापणपञ्चकस्य
(५ N. P.) पत्रमेकं लिखित्वा नामाङ्कनं कारयेयुः । मुद्रिते च तस्मिन्
श्रीमन्तः सत्वरं सूचयिष्यन्ते यथाभिलषितं कर्तुम् ।

स्वरचिह्नं तारसप्तकं मन्द्रसप्तकं कोमलसप्तकं

ताल— मन मोरा बमरा । तीन ताल । स्वरलिपिः भातखण्डेपद्धतिः ।

१८९ गृहस्पगोत्रिस्वरलिपिः पाठशैल्याय ।

स्थायी

+	२	•	३
		सा सा रंसा ध	गरे मग रे
		म म म-नो	-ठ्या ... कु
सा — — —	— — — —	प प ध नि	ध म ग रे
लम् S S S	S S S S	रा — त्रि —	दि ध म लि
— निरे ग म	ग सात्रि ध प		
मिल नम् —	चि — — त-त		

अन्तरा

		ग रे सा नि	सारे ग ग ड
		शो — सः	सा — न्द्रो —
रेम प म	रे म ग ड	प नि नि नि	पनि सनि ध ड
पा — यु —	पा — ति —	पि — य त	प — — त्या —
डमम ग म	गम पय प —	प गं रे इ	सा रे सा —
रह पा —	भा ति	प्रो — पि त	प नि का —
नि — सा —	सा रे सनि ध प	प प प —	प प नि प
मु — र्था —	न — रु — णी	प न पो —	र प टा —
— पथ गा नि	प ड प ड	सा सनि ध ड	प पम ग ग
— — प —	इयं सी	भृ श मै	न द उ दू
रेम मय पय मय	रेम मरे सनि ध प		
वि ज से —	— — — —		

श्रीमतां कर्त्तव्यम्—

- (१) संस्कृते नवीनाः सरला रचना विधेयाः ।
- (२) तासां विक्रयणे प्रचारे चेष्टितव्यञ्च ।
- (३) पुस्तकस्यास्य सर्वत्र प्रचारः कार्यः, येन संस्कृतप्रच
सह विषयस्यापि प्रचारो भवेत् ।
- (४) नवीनपुस्तकानां परीक्षासु निवेशनेन संस्कृतभाष
वास्तविक उद्धारो भवितुं शक्नोति, तदर्थमधिका
चेष्टितव्यम् ।
- (५) सर्वविधः परामर्शः पत्रव्यवहारश्चापि लिखितेन सङ्के
करणीयः । संस्कृतज्ञानां विश्वस्मिन् प्रसूतानां विदु
मैत्र्यै परमाकुलोऽहम् ।

श्रीनिवासशास्त्री

११८, भगवद्दत्तद्वीपः,

कलकत्ता-९

श्रीमतां कर्तव्यम्—

- (१) संस्कृते नवीनाः सरला रचना विधेयाः ।
- (२) तासां विक्रयणे प्रचारे चेष्टितव्यम् ।
- (३) पुस्तकस्यास्य सर्वत्र प्रचारः कार्यः, येन संस्कृतसह विषयस्यापि प्रचारो भवेत् ।
- (४) नवीनपुस्तकानां परीक्षासु निवेशनेन संस्कृतवास्तविक उद्धारो भवितुं शक्नोति, तदर्थमपि चेष्टितव्यम् ।
- (५) सर्वविधः परामर्शः पत्रव्यवहारश्चाथो लिखितेन करणीयः । संस्कृतज्ञानां विश्वस्मिन् प्रसृतानां मैत्र्यै परमाकुलोऽहम् ।

मीनिवासशास्त्री

११८, अमर्षट्टरोड,

कलकत्ता-९

